

राम-रावण कथा

खण्ड-तीन

राम

सप्तम विष्णु का अभ्युदय

सुलभ अग्निहोत्री

राम रावण कथा खंड तीन
राम
सप्तम विष्णु का अभ्युदय
उपन्यास
सुलभ अग्निहोत्री



रेडग्रेड बुक्स
प्रयागराज

राम : सप्तम विष्णु का अभ्युदय (उपन्यास)
सर्वाधिकार - सुलभ अग्निहोत्री

प्रकाशक :

रेडग्रेड बुक्स

942, मुठ्ठीगंज, प्रयागराज - 211003

एवं

एनीबुक

जी248, द्वितीय तल, सेक्टर-63, नोयडा - 201301

टाइप सेटिंग : श्री कम्प्यूटर्स, प्रयागराज

आवरण : ईशान त्रिवेदी

समर्पण

राम की कथा
राम को ही समर्पित

त्वदीयं वस्तु गोविन्द तुभ्यमेव समर्पयामि!

लेखकीय

कोई सार्वभौम सत्ता है जो यह सब कुछ संचालित करती है। कैसे करती है- इसका अनुमान ही लगाया जा सकता है, निश्चित रूप से कुछ जान पाना किसी की भी सामर्थ्य से बाहर है। उसे समझ पाना, व्याख्यायित कर पाना- चींटी द्वारा हाथी को पीठ पर ढोने की कल्पना के समान ही है। फिर भी हम प्रयास करते हैं, इसलिए करते हैं क्योंकि वह सत्ता हमसे करवाती है। वह स्वयं ही हमारा मार्ग भी प्रशस्त करती है। अपनी ऊर्जा का सद्प्रयोग हमारा कर्तव्य है, निष्कर्ष तो उसीके हाथ में है-
‘कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन!’

‘राम-रावण कथा’ का यह तीसरा खण्ड ‘राम : सप्तम विष्णु का अभ्युदय’ आपके हाथों में है। पूर्व के दोनों खण्डों को पाठकों ने अपना भरपूर स्नेह प्रदान किया है। सभी ने दिल खोलकर प्रशंसा भी की है। कुछ को लगा है कि भाषा कुछ सरल होनी चाहिए थी तो कुछ ने सिर्फ इसीलिये विशेष अनुराग दर्शाया है कि भाषा परिनिष्ठित है। भाषा के प्रति मेरा कोई आग्रह नहीं है, किंतु जिस काल की यह कथा है, उस काल-खंड के लिए यही भाषा उपयुक्त है। मात्र कुछ पाठकों को एक शिकायत हुई है, वह यह कि इस कथा में काफी सारी बातें पुराणों और अन्य रामायणों के समानान्तर नहीं चलतीं। इस विषय में ‘पूर्व-पीठिका’ के लिए अमेज़न पर आए एक पाठक के रिव्यू को मैं उद्धृत करना चाहूंगा। उन्हें कहानी बहुत पसंद आई परंतु ... उन्हीं के शब्दों में-

By Arvind on 28 October 2017

This book is quite different from the common story. Agnigotriji has tried to find the root of each and every little or well known character of the Ramayan. Some times you feel excited but at many occasions you will feel like pure fantasy of the writer, as there is no base in the approved versions of the Ramayan or Purans. Anyway story is well written and binding. You will not loose the interest at any page of the book and would not like to wait for other parts. Good effort by the Writer.

मैं अरविंदन जी से यही कह सकता हूँ कि प्रत्येक कथा ‘फैंटेसी’ ही होती है। मैं न तो वाल्मीकीय रामायण का हिन्दी अनुवाद कर रहा हूँ न ही रामचरित मानस का। मुझे भी यदि वही सारी बातें दोहरानी होतीं तो लिखने की आवश्यकता ही क्या थी? महर्षि वाल्मीकि अथवा गोस्वामी तुलसीदास जैसे कालजयी मनीषियों के सामने मेरी समझ व क्षमता शून्य से अधिक नहीं है। मैं तो बस यह बताना चाहता हूँ कि कथा को

इस दृष्टिकोण से भी देखा जा सकता है। मुझे संतोष है कि पाठकों को मेरा दृष्टिकोण पसंद भी आ रहा है।

राम के अस्तित्व पर कोई प्रश्नचिह्न नहीं है। अब तो उस पर विज्ञान ने भी अपनी मुहर लगा दी है। राम के समय के संबंध में वैज्ञानिक शोध के निष्कर्ष यद्यपि हमारे पुराणों की अवधारणा से, जो राम को लाखों वर्ष पुराना सिद्ध करते हैं, मेल नहीं खाते तथापि वे पुरातन को सदैव नकारने को उद्यत विद्वानों को उत्तर तो देते ही हैं। इस शोध के अनुसार राम की जन्मतिथि 11 जनवरी ईसा पूर्व 5011 है। इस शोध के तर्क गले उतरते हैं। रामसेतु भी अब मान्यता प्राप्त कर ही चुका है। इस पर विस्तृत चर्चा की आवश्यकता नहीं है।

ऊपर मैंने जिस सार्वभौम सत्ता का उल्लेख किया, राम हमारे आस्थावान समाज के लिए उसी सत्ता के प्रतिनिधि हैं। स्पष्ट कहूँ तो उस सत्ता के प्रतिरूप हैं, स्वयं परब्रह्म हैं। परंतु यह विशिष्ट-पद उन्हें सदैव से प्राप्त नहीं था, वे मर्यादा पुरुषोत्तम तो थे किंतु ब्रह्म नहीं थे। इस पर संक्षेप में विचार करना, मुझे प्रतीत होता है यहाँ आवश्यक है। इसे समझने के लिए, वैदिक काल से लेकर पौराणिक काल तक हमारे चिंतन में आए परिवर्तन पर एक सरसरी दृष्टि डालना आवश्यक है। यद्यपि यह विषय ऐसा नहीं है जिस पर संक्षेप में चर्चा संभव हो, फिर भी प्रयास करता हूँ। जिज्ञासु पाठक यदि विस्तृत जानकारी के लिये पुराणों और अनेक ग्रन्थों को न छानना चाहें तो 'दिनकर' की 'संस्कृति के चार अध्याय' इस विषय को अधिक समझने में उनकी पर्याप्त सहायता कर सकती है।

वेद निस्संदेह हमारे चिंतन और उस चिंतन से उपलब्ध ज्ञान के आदि स्रोत हैं किंतु यह चिंतन अपने सर्वोत्कृष्ट वैभव के साथ उपनिषदों में प्रकट होता है। वेदों से प्राप्त बीज उपनिषदों और ब्राह्मण ग्रंथों में वृक्ष के रूप में विकसित हुए। ब्राह्मण ग्रन्थों और उपनिषदों ने वेदों के ज्ञान को व्याख्यायित किया, उसे विस्तार दिया साथ ही कई स्थानों पर वैदिक मान्यताओं का अतिक्रमण कर नवीन सिद्धांतों का प्रतिपादन भी किया। नवीन प्रश्नों से जूझना भी आरंभ किया। इन प्रश्नों में प्रमुख था प्रकृति और परमात्मा का रहस्य। इसके अतिरिक्त जीवन और सृष्टि की उत्पत्ति का कारण, उदय और विकास; मृत्यु के उपरांत का सत्य; अन्य लोकों की संभावना आदि अन्य भी अनेक प्रश्न उनके मन में घुमड़ते थे। इन्हीं से जूझते हुए उन्होंने जो सिद्धांत प्रतिपादित किए वे उनकी अविश्वसनीय मेधा और निरीक्षण शक्ति का प्रतिबिम्ब हैं। आज भी विद्वान उन्हें पढ़ कर दाँतों तले उँगली दबाने को विवश होते हैं। आज भी उन सिद्धांतों से आगे, उन सिद्धांतों से अलग हम कुछ भी नहीं सोच पाए हैं।

सुदीर्घ अवधि तक चली चिंतन-मनन की इस सतत प्रक्रिया से इन रहस्यों से संबंधित कुल नौ सिद्धांत अस्तित्व में आए। छह सिद्धांत आस्तिक मत के हैं, जो आज 'षड्दर्शन' के नाम से विख्यात हैं। ये हैं-

1. महर्षि जैमिनी का पूर्व मीमांसा, 2. महर्षि बादरायण का वेदान्त दर्शन (उत्तर मीमांसा), 3. महर्षि कपिल का सांख्य दर्शन, 4. महर्षि कणाद का वैशेषिक दर्शन, 5. महर्षि गौतम का न्याय दर्शन और 6. महर्षि पतंजलि का योग दर्शन।

सातवाँ आचार्य बृहस्पति प्रणीत और तदुपरांत चार्वाक द्वारा पोषित 'चार्वाक' दर्शन और इन सातों के अतिरिक्त जैन और बौद्ध दर्शन।

वैदिक काल में आर्यों के देवता प्रकृति की विभिन्न शक्तियाँ थीं, या मन की विभिन्न अवस्थितियाँ थीं- कुल मिलाकर 12 आदित्य (जिनमें इन्द्र और विष्णु सम्मिलित हैं), 11 रुद्र, 8 वसु और दो अश्विनी कुमार या नासत्य। 33 देवताओं का उल्लेख ऋग्वेद में है। शतपथ ब्राह्मण भी 8 वसु, 11 रुद्र, 12 आदित्य और पृथ्वी व आकाश इन 33 देवताओं का और ऐतरेय ब्राह्मण 11 प्रयाजदेव, 11 उपयाजदेव और 11 अनुयाजदेव इन 33 देवताओं का उल्लेख करता है। भिन्न-भिन्न स्थानों पर इन देवों के नामों में भी कुछ भिन्नता है किंतु प्रधानतः सभी स्थानों पर ये प्रकृति और मानव-प्रकृति के तत्व ही हैं।

भिन्न-भिन्न देवता होने के बाद भी ये अंततः एक ही ब्रह्म के प्रतिरूप हैं। इस विषय में निरुक्तकार यास्क (ई०पू० सातवीं शताब्दी) व्याख्या देते हैं कि विभिन्न नामों से पुकारे जाने पर भी देव एक ही हैं। वे इसे 'नरराष्ट्रमिव' की संज्ञा देते हैं अर्थात् जैसे व्यक्ति रूप से भिन्न होते हुए भी असंख्य मनुष्य राष्ट्र रूप में एक हैं, वैसे ही विविध रूपों में प्रकट होने पर भी देवों में एक ही परमात्मा व्याप्त है।

उपनिषदों के काल तक आस्तिकता का अर्थ ईश्वर में विश्वास से नहीं था। 'नास्तिको वेद निन्दकः'। अर्थात् जो वेदों की अवधारणाओं को पूरी तरह स्वीकार नहीं करते, जो इस जीवन के बाद किसी जीवन के अस्तित्व को नहीं मानते, वे ही नास्तिक हैं। न_±अस्ति से बना नास्ति (नहीं है) और इस 'नास्ति' की अवधारणा को मानने वाले नास्तिक कहे गए। उस काल में ये भी पर्याप्त प्रभावी थे। हमारी कथा में महामात्य जाबालि इसी मत के अनुयायी हैं।

यद्यपि पूर्णतः नास्तिक दर्शन 'चार्वाक दर्शन' ही है किंतु 'सांख्य दर्शन और 'योग दर्शन' भी बड़ी हद तक वेदों की अवधारणाओं का अतिक्रमण करते हैं। वे कहीं-कहीं पर यज्ञों में बलि प्रथा का उपहास भी करते हैं। अन्य आस्तिक दर्शनों के विपरीत 'सांख्य' और 'योग' दर्शन का ब्रह्म, सृष्टि-रचना से या हमारे सुख-दुःख से उदासीन है। वह सर्वशक्ति-सम्पन्न, शाश्वत और सूक्ष्म रूप में सर्वत्र विद्यमान होते हुए

भी समस्त वासनाओं से ऊपर है। इनकी मान्यता के अनुसार सृष्टि की संरचना और जीवन का विकास प्रकृति में चलने वाली 'आटोमेटिक' प्रक्रिया है जिसमें ब्रह्म कोई हस्तक्षेप नहीं करता। प्रकृति स्वयं भी उस ब्रह्म के समान ही शाश्वत है, ब्रह्म ने उसकी रचना नहीं की।

योग-दर्शन थोड़ा और आगे जाता है। वह योग-साधना के द्वारा स्वयं को ही ब्रह्म की स्थिति तक पहुँचाने का प्रयास करता है। योग के चमत्कारों के विषय में पुराणों में बहुत कुछ लिखा है, हम सबने बहुत कुछ सुना है और वह सभी कुछ योग की सर्वोच्च अवस्था में पूर्ण संभव है। समर्थ योगी आज भी हैं, किंतु वे भी अपने ब्रह्म की भाँति ही इस नश्वर जीवन से उदासीन ब्रह्म से एकात्म स्थापित करने के प्रयास में कंदराओं में एकांत साधना में लिप्त हैं।

इस काल तक आर्य चिंतन में मूर्ति-पूजा का अस्तित्व नहीं था। पौराणिक काल में संभवतः आर्यों में प्रचलित शिव-पूजा से प्रेरित होकर ही आर्यों में उसने अस्तित्व ग्रहण किया। आर्य-ग्रंथों में शिव के प्रति दीर्घकाल तक अनास्था ही देखने को मिलती है। शिवलिंग की पूजा को शिश्र-पूजा कहकर उसका उपाहस किया गया है। शैव और वैष्णव संघर्ष हमारी संस्कृति का स्थापित इतिहास है। इसी आधार पर अनेक विद्वानों ने शिव को मूलतः आर्येतर देवता माना है। इस मान्यता को इस आधार से और भी बल मिलता है कि जितने भी देव विरोधी- दैत्य, दानव, राक्षस आदि हुए सब के सब शिव के भक्त थे और उन्हीं से वरदान पाकर वे देवों को पराजित करने में समर्थ हुए।

तो फिर शिव आर्यों में स्वीकृत कैसे हुए और उन्होंने त्रिदेवों में अस्तित्व कैसे बनाया? ...तब अनुलोम विवाह पूर्णतः मान्य था। इसी विधि से अनेक ऋषि-पत्नियाँ आर्येतर संस्कृतियों से आईं और अपने साथ शिव-भक्ति भी लाईं। उनसे यह शिव-भक्ति उनकी संतानों में भी आई। पुराणों में अनेक स्थानों पर ऋषि पत्नियों का शिव के प्रति अनुराग/आसक्ति और ऋषियों की उनके प्रति वितृष्णा का वर्णन है।

शिव-पूजा के आर्यों में प्रवेश के साथ ही आर्यों में मूर्ति-पूजा अस्तित्व में आई। जनमानस को यह सहज ग्राह्य भी हुई। गूढ़ दर्शन में आम आदमी की रुचि नहीं होती अतः पुराणों ने अन्य देवों को भी स्थूल शरीर प्रदान कर रोचक कथाओं की सर्जना आरंभ की। उन्होंने सृष्टि-रचना और जीवन की उत्पत्ति के गूढ़ सिद्धांतों के स्थान पर सृष्टि की सर्जना करने के लिए ब्रह्मा की कल्पना की और फिर उनके मानस-पुत्र कश्यप के माध्यम से सम्पूर्ण जड़-चेतन सृष्टि की उत्पत्ति की कथाएँ प्रस्तुत कीं। ये सरल और रोचक कथाएँ जनसामान्य ने सहजता से आत्मसात् कर लीं, उपनिषदों

का चिंतन विस्मृति में चला गया। चौदहवीं शताब्दी में आकर सायण ने चारों वेदों के भाष्य लिखकर उन्हें पुनः प्रकाश में लाने का कार्य किया। उन्नीसवीं शताब्दी में मैक्समूलर प्रभृति यूरोपीय विद्वान ने वेदों और उपनिषदों को सम्पूर्ण विश्व में प्रसारित किया।

पुराणों में आरंभ में पाँच अवतार ही सामने आए- मत्स्य, कच्छप, वाराह, नरसिंह और वामन। इन्हें आप दूसरी दृष्टि से भी देख सकते हैं, धरती पर जीवन का विकास क्रम भी तो कुछ इसी प्रकार है!

वाल्मीकि के राम भी अवतार नहीं हैं। वाल्मीकि ने तो स्वयं विष्णु को ही अनेक स्थानों पर 'उपेन्द्र' (उप+इन्द्र) की संज्ञा प्रदान की है। जब विष्णु ही ब्रह्म नहीं हैं तो राम कैसे हो सकते हैं। विष्णु भी अन्य आदित्यों की भाँति ही कश्यप और अदिति के पुत्र हैं। वाल्मीकि ने मात्र बारह हजार श्लोकों की रचना की थी। वह काल मौखिक वाचन का काल था। ऐसे वाचक मूलपाठ में अपने श्लोक भी जोड़ते गए। विद्वानों के अनुसार रामायण के बालकाण्ड और उत्तरकाण्ड तो सम्पूर्णतः प्रक्षिप्त ही हैं। पढ़ते समय स्पष्ट प्रतीत भी होता है ऐसा। अन्य काण्डों में भी अनेक श्लोक प्रक्षिप्त हैं। बस एक उदाहरण दूँगा- लंका विजय के उपरान्त विभीषण सीता के अशोक-वाटिका से, राम जहाँ पर उपस्थित थे, वहाँ तक आने के मार्ग के दोनों ओर पर्दा करने का आदेश करते हैं। यह पर्दा प्रथा न तो आर्य संस्कृति में थी न ही रक्ष संस्कृति में। इससे भी आगे सीता के लिए जो शब्द उस समय राम प्रयुक्त करते हैं, जिस दर्प-भाव का प्रदर्शन करते हैं वह राम के चरित्र से बिल्कुल उलट और अस्वीकार्य है।

राम के चरित्र में एक ही अवगुण है कि उनमें कोई अवगुण नहीं है। अवगुण न होना किस प्रकार स्वयं अवगुण बन जाता है यह कथा में आप स्वयं देखेंगे, विशेषकर अंतिम खंड में। अभी इस विषय में मात्र इतना ही कहूँगा कि सबको प्रसन्न कोई नहीं रख सकता। ऐसा प्रयास व्यक्ति को स्वयं अपने प्रति, साथ ही अपने प्रियजनों के प्रति अन्याय करने को विवश करता है।

कथा अपने क्रम से आगे बढ़ रही है। प्रथम भाग 'पूर्व-पीठिका' में आपने रामकथा के विभिन्न पात्रों की पृष्ठभूमि का परिचय प्राप्त किया। दूसरे भाग 'दशानन' में रावण की दिग्विजय को देखा अब इस तीसरे भाग 'राम' में राम का सक्रिय कर्म-क्षेत्र में प्रवेश है। पहले भाग में राम का बस जन्म ही हुआ था, तो दूसरे में वे विद्यार्थी थे। इस भाग में वे एक जननायक के रूप में स्थापित हो चुके हैं। इस भाग की कथा राम के दण्डकारण्य में प्रवेश तक गयी है।

कुल मिला कर अब यह कथा पाँच खण्डों में प्रस्तावित है। ये हैं क्रमशः-

1- पूर्व-पीठिका

- 2- दशानन
- 3- राम : सप्तम विष्णु का अभ्युदय
- 4- महासंग्राम
- 5- मर्यादापुरुषोत्तम

‘महासंग्राम’ नाम से ही स्पष्ट है, राम और रावण के युद्ध की गाथा होगी। राम ने दण्डकारण्य में प्रवेश कर लिया है, अब टकराव ही होना है। यह कथा रावण-वध तक जाएगी। अंतिम खंड ‘मर्यादापुरुषोत्तम’ में राजा-राम की कथा होगी। रामराज्य की कथा होगी। लव-कुश की कथा होगी। यह कथा राम की जलसमाधि तक जाएगी।

यह पुनः स्पष्ट कर दूँ कि यह कथा मेरी कल्पना है जिसमें मैंने अधिकांश सूत्र वाल्मीकि रामायण से लिए हैं। कई स्थानों पर अन्य पुराणों से भी संदर्भ लिए गए हैं परंतु मूल आधार रामायण ही है। पर वह मात्र बीज ही है, बीज को पौधा तो मेरी कल्पना ने ही बनाया है। अनेक स्थानों पर मैंने रामायण का अतिक्रमण किया है। मेरा कतई दावा नहीं है कि यही राम की वास्तविक कथा है। संभव है यह सत्य के बहुत करीब हो ... यह भी संभव है कि इसमें सत्य का कोई भी अंश न हो। सत्य क्या है इसे तो एकमात्र जगन्नियंता ही जानता है।

अंत में मैं सभी पाठकों, प्रशंसकों शुभचिंतकों और प्रकाशक का आभार व्यक्त करना आवश्यक समझता हूँ। उनका मेरे प्रति एवं मेरी लेखनी के प्रति विश्वास ही मुझे लिखने की प्रेरणा और संबल देता है।

“जय श्री राम!”

- सुलभ अग्निहोत्री

अनुक्रम

- [पूर्व कथा](#)
 1. [विश्वामित्र के साथ](#)
 2. [वीर्य शुल्का सीता](#)
 3. [विष्णु से भेंट](#)
 4. [दिव्यास्त](#)
 5. [सुग्रीव-हनुमान](#)
 6. [ताड़का](#)
 7. [सिद्धाश्रम](#)
 8. [आतंक का अंत](#)
 9. [चन्द्रनखा](#)
 10. [विष्णुपद](#)
 11. [मिथिला की ओर](#)
 12. [अहल्या उद्धार](#)
 13. [धनुषभंग](#)
 14. [अयोध्या में](#)
 15. [वरयात्रा](#)
 16. [विचार](#)
 17. [परशुराम](#)
 18. [विमाताओं से भेंट](#)
 19. [दशरथ का संशय](#)
 20. [प्रमोद](#)
 21. [शम्बूक](#)
 22. [आचार्य शुक्र](#)
 23. [गौतम के आश्रम में हनुमान](#)
 24. [रानियों को सूचना](#)
 25. [लक्ष्मण और शत्रुघ्न की शपथ](#)
 26. [युधाजित का संदेश](#)
 27. [राम और उत्तर का विद्रोह](#)

28. [युधाजित का आगमन](#)
29. [वनगमन की प्रस्तावना](#)
30. [अभिषेक की तैयारी](#)
31. [नगमन की प्रस्तावना](#)
32. [प्रस्थान](#)
33. [चित्रकूट](#)
34. [दशरथ का महाप्रयाण](#)
35. [भरत का आगमन](#)
36. [भरत चित्रकूट में](#)
37. [संग्राम के पथ पर](#)

पूर्व-कथा

खण्ड एक : पूर्व-पीठिका

दोनों ही खंडों में कई कथायें समानांतर चलती हैं। अलग-अलग कथा में विभिन्न पृष्ठभूमियों से निकलकर विभिन्न पात्र बाद में एक कथा में सम्मिलित होंगे। पहले पूर्व-पीठिका की चर्चा करते हैं-

पहली कथा है सुमाली और बाद में रावणादि की-

स्वर्ग से विष्णु द्वारा खदेड़े गए माल्यवान, सुमाली और उनके पुत्रों ने मार्ग में दिवस व्यतीत करने हेतु, एक आम्र-वाटिका में शरण ले ली। वहाँ एक किशोरी से इनका विवाद हो गया। किशोरी को अनार्यों से तीव्र घृणा थी, वह किसी रक्ष को अपनी आम्र-वाटिका में एक पल के लिए भी सहन करने के लिए तैयार नहीं थी। विवाद में दुर्घटनावश किशोरी बुरी तरह घायल हो गयी। चपला नामक यही किशोरी आगे चलकर मंथरा के नाम से जानी गयी।

माल्यवान, सुमाली और माली, इन भाइयों ने ही लंका बसाई थी और फिर अपने पौरुष से इंद्र को परास्त कर स्वर्ग पर भी अधिकार किया था। इंद्र की प्रार्थना पर विष्णु ने इन्हें स्वर्ग से खदेड़ दिया था। विष्णु से युद्ध में इनका छोटा भाई माली मारा गया था। बचकर वापस लंका लौटने के उपरांत बड़े भाई माल्यवान ने संन्यास ले लिया। मँझला सुमाली विष्णु के भय से लंका से अपने सारे कुनबे को समेटकर भूमिगत हो गया और समय की प्रतीक्षा करने लगा।

भविष्य में उसे अवसर मिला। उसकी प्रेरणा से यौवन में प्रवेश करती उसकी सुंदरी कन्या कैकसी ब्रह्मा के पौत्र, पुलस्त्य के पुत्र महर्षि विश्रवा से विवाह करने में सफल हुई। विश्रवा से उसे तीन पुत्र- रावण, कुंभकर्ण व विभीषण और एक पुत्री- चन्द्रनखा प्राप्त हुई। सन्तानों को जन्म के उपरांत शीघ्र ही वह अपने पिता सुमाली के पास छोड़ती गयी। मात्र विभीषण ही अधिक समय तक विश्रवा के आश्रम में रहा।

सुमाली ने अपने सभी दौहित्रों को योग और शस्त्रास्त्रों की शिक्षा देना आरंभ किया। उसने तीनों को योगसमाधि द्वारा ब्रह्मा का ध्यान करने के लिए प्रेरित किया। अंततः ये लोग समाधि के द्वारा ब्रह्मा से सम्पर्क स्थापित करने में सफल हुए। ब्रह्मा अपने प्रपौत्रों से मिलकर अत्यंत प्रसन्न थे, उन्होंने इन्हें अनेक दिव्यास्त्र प्रदान करने के अतिरिक्त अनेक विद्याओं का भी ज्ञान दिया। उन्होंने चारों (चौथी चन्द्रनखा) से मनचाहा वर माँगने को कहा।

रावण के माँगने पर उन्होंने वचन दिया कि मनुष्यों के अतिरिक्त अन्य कोई भी देव, दैत्य, दानव, यक्ष आदि युद्ध में उसका वध नहीं कर पायेंगे। यदि कभी वह इनके साथ युद्ध में पराजित होने की स्थिति में होगा तो ब्रह्मा स्वयं उसकी सहायता के लिए उपस्थित हो जायेंगे। मनुष्यों से लड़ाई में वे बीच में नहीं पड़ेंगे। मनुष्यों को ये लोग किसी गिनती में ही नहीं लाते थे, अतः कोई समस्या नहीं थी। कुम्भकर्ण ने माँगा कि वह खूब खाये और खूब सोये। ब्रह्मा ने कहा कि खूब खाओगे तो अपने आप खूब सोओगे भी। खाया हुआ नुकसान न करे इस हेतु उन्होंने उसे कुछ यौगिक क्रियायें और कुछ औषधियाँ बता दीं। विभीषण ने बस प्रभु के चरणों में अनुरक्ति माँगी और चन्द्रनखा ने त्रिलोक की सबसे सुन्दरी नारी होने की आकांक्षा प्रकट की। ब्रह्मा ने उन दोनों को भी उचित उपाय समझा दिए।

विश्रवा के पहली पत्नी देववर्णिनी से कुबेर उत्पन्न हुआ था। ब्रह्मा ने उसे लोकपाल का पद देकर खाली पड़ी लंका उसे प्रदान कर दी थी। जब रावणादि ब्रह्मा से वरदान प्राप्त कर चुके तब सुमाली ने उन्हें लंका पर पुनः अधिकार करने हेतु प्रेरित करना आरंभ किया। अंततः विश्रवा की मध्यस्थता में लंका रावण को प्राप्त हुई। कुबेर ने कैलाश के निकट अलकापुरी नाम से, अपने नये राज्य की स्थापना की। लंका पर अधिकार प्राप्त होते ही संयोगवश अभियांत्रिकी में अपनी प्रवीणता के लिए विश्व-विख्यात, किंतु पत्नी के वियोग और पुत्रों की अभद्रताओं के कारण अर्द्धविक्षिप्त सा हो गया, दानवराज मय भटकता हुआ लंका आ पहुँचा। उसने रावण से अपनी सर्वगुण सम्पन्न कन्या मंदोदरी को स्वीकार करने का आग्रह किया। कोई बाधा थी ही नहीं रावण का मंदोदरी से विवाह हो गया। कुछ ही समय बाद कुम्भकर्ण का वङ्गाज्वाला और विभीषण का सरमा से विवाह हो गया। कुछ काल बाद रावण को मंदोदरी से प्रथम पुत्र मेघनाद की प्राप्ति हुई।

विष्णु से हुई पराजय सुमाली के हृदय में खटक रही थी। वह रावण के माध्यम से एक बार पुनः स्वर्ग पर अधिकार करने के सपने देख रहा था। उसने गुपचुप रूप से लंका की सैन्यशक्ति विकसित करनी आरंभ की साथ ही पड़ोसी द्वीपों में गुप्तचरों के माध्यम से अपना प्रभाव बढ़ाना भी आरंभ किया। दूसरी ओर उसने ऐसी कूटनीतिक चालें चलनी भी आरंभ कीं जिनसे रावण और कुबेर में वैमनस्य उत्पन्न हो गया। परिणामतः रावण ने कुबेर पर आक्रमण कर उसे पराजित कर दिया। रावण ने सुमाली की इच्छा के विरुद्ध, अलकापुरी पर अधिकार नहीं किया किंतु कुबेर से उसका विमान पुष्पक अवश्य हथिया लिया। सैन्य को लंका जाने का आदेश दे रावण सुमाली और कुछ अन्य मातुलों के साथ, पुष्पक पर सवार हो विहार के लिए चल पड़ा।

थोड़ा बढ़ने पर ही इन लोगों का टकराव शिव से हुआ। शिव की अविश्वसनीय शक्ति के सम्मुख रावण को अपनी तुच्छता का आभास हो गया। वह शिव का भक्त बन गया। शिव ने भी उसे अपनी कृपा और आशीर्वाद स्वरूप चंद्रहास नामक अपनी दिव्य कटार प्रदान की। शिव से विदा लेने के उपरांत रावण ने सबको लंका भेज दिया और स्वयं कैलाश के निकट ही वन में अपने अहंकार का प्रायश्चित्त करने के लिए तपस्या करने लगा।

वन में ही उसकी भेंट बृहस्पति की पौत्री वेदवती से हुई। वेदवती के पिता कुशध्वज का विचार था कि उनकी कन्या के योग्य वर त्रिलोक में मात्र विष्णु हैं। अतः उन्होंने वेदवती को उनकी आराधना में प्रवृत्त कर दिया था। पिता की मृत्यु के उपरांत भी वेदवती उसी वन में विष्णु की आराधना में प्रवृत्त थी। परिस्थितिवश रावण और वेदवती में निकटता बढ़ी, परिणामस्वरूप वेदवती ने एक कन्या को जन्म दिया किंतु संकल्प से च्युत होने की आत्मग्लानि के चलते उसने कन्या रावण को सौंपकर चितारोहण कर लिया।

इसी समय सुमाली रावण को लिवाने आ गया। वेदवती के आत्मदाह से रावण गहरे मनस्ताप की स्थिति में था। सुमाली ने इस प्रकार व्यवस्था की कि कन्या साधु स्वभाव के मिथिला नरेश सीरध्वज जनक के पास पहुँच गयी। यही कन्या कालांतर में सीता के नाम से विख्यात हुई। इस बीच रावण की अनुपस्थिति में चंद्रनखा विद्युज्जिह्व नामक एक कालकेय दैत्य के प्रेम में पड़ गयी थी। अचानक विद्युत को संदेश मिला कि पिता ने उसे अविलम्ब बुलाया है। शीघ्रता में चंद्रनखा ने विद्युत के साथ गंधर्व विवाह कर लिया।

दूसरी कथा है दशरथ की-

दशरथ की माता इंदुमती का निधन उनके शिशुकाल में ही हो गया था। पिता अज को अपनी पत्नी से अगाध स्नेह था। जैसे ही दशरथ कुछ बड़े हुए, अज ने सारा राज्यभार उन्हें सौंपकर, आहार त्याग मृत्यु का वरण कर लिया। कम आयु में सत्ता प्राप्त हो जाने से दशरथ उद्धत स्वभाव के हो गए। एक दिन मित्रों के साथ आखेट के लिए गए दशरथ से धोखे से एक मुनिकुमार श्रवण कुमार की हत्या हो गयी। श्रवण के अंधे माता पिता ने भी उसकी चिता में ही आत्मदाह कर लिया। मृत्यु का वरण करने से पूर्व श्रवण की माता ने दशरथ को भी पुत्र के वियोग में इसी प्रकार तड़प-तड़प कर प्राण त्यागने का श्राप दे दिया। दशरथ ने इस घटना के विषय में किसी को कुछ नहीं बताया।

महामात्य जाबालि और आमात्य सुमंत्र के प्रस्ताव के अनुरूप गुरुदेव वशिष्ठ ने दशरथ के विवाह हेतु उत्तर कोशल की राजकुमारी, महाराज भानुमान की पुत्री कौशल्या का चयन किया। उत्तर कोशल के साथ कोशल के संबंध अच्छे नहीं थे, भानुमान ने प्रस्ताव अस्वीकार कर दिया तो दशरथ ने बलात कौशल्या का अपहरण कर लिया और गुरुदेव के निर्देशन में उनसे विवाह किया।

बहुत वर्षों तक कोई संतान न होने पर, कौशल्या द्वारा विवश किए जाने पर दशरथ ने केकय नरेश अश्वपति की किशोरी कन्या कैकेयी से विवाह हेतु प्रस्ताव भेजा। दशरथ और कैकेयी का विवाह हो गया किंतु विवाह के समय अश्वपति ने एक अनुबंध कराया जिसके अनुसार दशरथ के उपरांत कोशल का राज्य कैकेयी के पुत्र को प्राप्त होना था। अश्वपति अपनी अहंकारी पत्नी का परित्याग तभी कर चुके थे जब कैकेयी बहुत छोटी थी। युधाजित का भी तब तक विवाह नहीं हुआ था अतः कैकेयी के पालन-पोषण हेतु चपला, जो तब तक मंथरा के नाम से जानी जाने लगी थी, की नियुक्ति की गयी थी। कैकेयी के विवाह के उपरांत उसके साथ मंथरा भी कोशल आ गयी।

कैकेयी धीरे-धीरे अयोध्या में प्रभावशाली होती गयी। कौशल्या दशरथ की ओर से उपेक्षित होती गयीं। दशरथ के कौशल्या के प्रति व्यवहार के विपरीत कौशल्या और कैकेयी में अत्यंत स्नेहपूर्ण संबंध स्थापित रहे।

वैजयंत नरेश शम्बर और इंद्र के युद्ध में इंद्र की सहायता करने गए दशरथ की कैकेयी ने अपने प्राणों पर खेलकर रक्षा की। दशरथ ने प्रभावित हो उसे दो वर देने का वचन दिया। कैकेयी को किसी भी चीज की आवश्यकता नहीं थी उसने जब आवश्यकता होगी कहकर उस समय बात को टाल दिया।

कालांतर में दशरथ ने काशी की राजकुमारी सुमित्रा से भी विवाह किया। किंतु विवाह के उपरांत कुछ दिन तक ही दशरथ सुमित्रा के प्रति आकृष्ट रहे तदुपरांत वह भी उपेक्षित हो गयी। दशरथ के व्यवहार से रानियों के आपसी संबंधों में कोई अंतर नहीं आया। कौशल्या और कैकेयी में तो पहले से ही प्रगाढ़ संबंध थे, अब सुमित्रा भी इस टोली में शामिल हो गयी थी। इन तीन रानियों के अतिरिक्त युद्धों में बलात अपहृत अथवा उपहार में प्राप्त हुई लगभग साढ़े तीन सौ उप-पत्नियाँ भी थीं दशरथ के, किंतु सन्तान का सुख उन्हें अभी तक किसी भी पत्नी अथवा उप-पत्नी से प्राप्त नहीं हुआ था।

एक दिन नारद का आगमन हुआ। उन्होंने बताया कि दशरथ की मुँहबोली बेटी और अंगनरेश रोमपाद की पुत्री, शांता के पति ऋष्यश्रंग ऋषि इसका उपचार कर सकते हैं। ऋषि को बुलवाया गया और पुत्रेष्टि यज्ञ के माध्यम से दशरथ को चार पुत्रों-

कौशल्या से राम, कैकेयी से भरत और सुमित्रा से लक्ष्मण व शत्रुघ्न की प्राप्ति हुई। चौथेपन में प्राप्त हुई संतानों के प्रति दशरथ के मन में अतिशय मोह था। पुत्र धीरे-धीरे बड़े हुए और गुरु वशिष्ठ के गुरुकुल में शिक्षा प्राप्त करने लगे। इसी समय नारद ने कैकेयी को संकेत दिया कि भविष्य में उसे रक्षों के विनाश में एक बड़ी भूमिका निभानी है।

तीसरी कथा देवों की है, जिसमें महर्षि गौतम-अहल्या और फिर बालि, सुग्रीव और हनुमान भी जुड़ जाते हैं-

देवराज इंद्र स्वभाव से ही सत्तालोलुप और विलासी थे। रावण के बढ़ते प्रभाव से वे बहुत चिंतित थे। उन्हें पता था कि रावण की पीठ पर सुमाली जैसा कूटनीतिज्ञ है और रावण स्वयं पितामह के वचनों के चलते अवध्य है। देवों को उनकी इस हीन मनोदशा से निकालने के लिए नारद ने उन्हें लम्बी रणनीति बनाने की सलाह दी। उस सलाह के अनुसार देवों ने दण्डकारण्य में गुरुकुलों की स्थापना कर वहाँ के जनजातीय बालकों को भावी युद्ध हेतु प्रशिक्षित करना आरंभ कर दिया। इस कार्य में उनके सहयोग हेतु महर्षि अगस्त्य ने अपना सुंदरवन का आश्रम छोड़कर दण्डकारण्य में अपना आश्रम स्थापित किया। अन्य भी अनेक ऋषिगण इस कार्य में देवों के सहयोगी हुए।

महर्षि गौतम भारतीय षड्दर्शन की एक प्रमुख शाखा न्याय-दर्शन के प्रणेता और विख्यात आयुध-विशेषज्ञ थे। उनकी पत्नी अहल्या अत्यंत विदुषी और साध्वी महिला थीं। अहल्या ब्रह्मा की पुत्री थीं। शिशु अवस्था में ब्रह्मा ने पालन-पोषण हेतु उन्हें गौतम को सौंपा था। बाद में विवाह योग्य होने पर ब्रह्मा ने गौतम से ही उनका पाणिग्रहण करने का अनुरोध किया जिसे गौतम ने स्वीकार कर लिया। गौतम-अहल्या के एक पुत्र शतानन्द और पुत्री अंजना थी।

सूर्य देव की सारथी आरुणी पर इंद्र आसक्त हो गए। आरुणी से उनके एक पुत्र हुआ- बालि। बालि को पालन-पोषण के लिए इंद्र ने गौतम-अहल्या को सौंप दिया। कुछ समय बाद ही आरुणि ने सूर्य देव के पुत्र सुग्रीव को जन्म दिया। उसे भी पालन-पोषण के लिए गौतम अहल्या को सौंप दिया गया।

शतानन्द की नियुक्ति जनक की सभा में पुरोहित के रूप में हो गयी और अंजना का विवाह किष्किंधा के सेनापति केसरी से हो गया। केसरी आध्यात्मिक प्रकृति के व्यक्ति थे और सेनापति का दायित्व त्याग कर तीर्थों में विचरण कर रहे थे। अंजना भी अब उनके साथ हो गयी।

नारद की योजना के अनुसार इंद्र दण्डकारण्य में गुरुकुल स्थापित कर रहे थे। गौतम क्योंकि आयुध विशेषज्ञ थे, इंद्र उनका सहयोग प्राप्त करने के उद्देश्य से उनके आश्रम पहुँचे। गौतम उस समय आश्रम पर उपस्थित नहीं थे। अहल्या का स्थान पंच-कन्याओं, अर्थात् त्रिलोक की पाँच सर्वश्रेष्ठ सुन्दरियों में था। इंद्र विवाह के पूर्व से ही उन पर आसक्त थे। गौतम की अनुपस्थिति में वे अपने पर नियंत्रण नहीं कर पाए। अहल्या ने भी अनुभव कर लिया कि इंद्र उस पर आसक्त हैं। वह भी इंद्र के निमंत्रण को अस्वीकार नहीं कर पाई।

प्रातःकाल इंद्र जब छुपकर आश्रम से निकल रहे थे तभी गौतम वापस आ गए। अपनी दिव्य-दृष्टि से उन्हें सारे वृत्तांत का ज्ञान हो गया। उन्होंने दण्ड के प्रहार से इंद्र का अंडकोष विदीर्ण कर दिया साथ ही अहल्या को बहुत खरी-खोटी सुनाकर उसके परित्याग का निर्णय ले लिया। बालक बालि और सुग्रीव सन्तान की लालसा से गौतम की शरण में आए किष्किंधापति ऋक्षराज को सौंप दिए गए। गौतम आश्रमवासियों को दूसरा आश्रम स्थापित करने की आज्ञा देकर स्वयं हिमालय की कंदराओं में एकांत तपस्या के लिए चले गए।

अंजना गर्भवती हुई तो उसने किष्किंधा में संतान को जन्म देने की इच्छा प्रकट की। केसरी उसे लेकर किष्किंधा लौट आए। बालि और सुग्रीव अब ऋक्षराज के पुत्र थे। वे दोनों गौतम के आश्रम में अंजना के साथ ही पले थे इस नाते अंजना उनकी बहन थी। ऋक्षराज की पत्नी ने अंजना को भी पुत्रीवत् स्वीकार किया। केसरी और अंजना के पुत्र का नाम वज्रांग रखा गया जो बिगड़कर बजरंग और फिर हनुमान हो गया। बालि और सुग्रीव के साथ हनुमान भी देवों द्वारा स्थापित गुरुकुल में शिक्षा प्राप्त करने लगे।

चौथी कथा अगस्त्य की है-

महर्षि अगस्त्य का आश्रम सुन्दरवन क्षेत्र में था। इस क्षेत्र में सुकेतु नामक यक्ष का शासन था। उसकी पुत्री ताड़का अत्यंत दीर्घकाय और बलवान थी। उसका विवाह सुन्द नामक दैत्य के साथ हुआ था। सुकेतु के उपरांत ये दोनों ही उस क्षेत्र के अधिपति हुए। ताड़का और सुन्द के पुत्र मारीच और सुबाहु अपनी उद्वेगताओं से ऋषियों को त्रस्त किया करते थे। सुन्द और ताड़का उनकी उद्वेगताओं को बच्चों का खेल समझ कर आनन्दित होते थे। अंततः एक दिन अगस्त्य ने उन दोनों बालकों को दण्डित करने का निर्णय ले लिया और उन्हें पकड़कर एक कुटिया में बंद कर दिया। इस पर सुन्द और ताड़का से विवाद बढ़ गया, परिणामतः यज्ञ-वेदी सुन्द की चिता

बन गयी और अगस्त्य द्वारा अभिमंत्रित अक्षतों के प्रहार से ताड़का अत्यंत कुरूप हो गयी।

पाँचवीं कथा शम्बूक की है-

शम्बूक एक रजक (धोबी) कुल का बालक था जिसकी अध्ययन के प्रति गहरी रुचि थी। वह संयोगवश महामात्य जाबालि के सम्पर्क में आया और उन्होंने उसे शिक्षा देना आरंभ कर दिया। किसी शूद्र को शिक्षा देने का विरोध भी हुआ किंतु गुरुदेव वशिष्ठ का, असहमति के बावजूद, मौन समर्थन जाबालि को प्राप्त था, अतः शम्बूक की शिक्षा चलती रही।

छठी कथा मंगला की है जो पूर्णतः काल्पनिक पात्र है-

मंगला अयोध्या के श्रेष्ठी मणिभद्र की कन्या थी। उसका एक भाई 'वेद' गुरुकुल में अध्ययन करता था। अचानक मंगला को भी वेद पढ़ने की धुन सवार हो गयी। घर वाले इसके लिए तैयार नहीं थे। बात जाबालि तक भी पहुँची, उन्होंने मंगला को पढ़ाने का प्रस्ताव दिया। मंगला के पिता तो एक बार सोच भी रहे थे किंतु माता अपने हठ पर अडिग थीं कि लड़कियाँ वेद नहीं पढ़ सकतीं। बात बहुत बढ़ गयी ... इतनी कि अंततः एक दिन माता की बातों से आहत होकर मंगला घर छोड़कर निकल गयी।

खण्ड दो : दशानन

दशानन में भी कई कथायें आपस में गुम्फित चलती हैं।

पहली सुमाली-रावण की कथा-

रावण को सुमाली लंका वापस लिवा तो लाया किंतु वह अभी तक वेदवती के चितारोहण के आघात से बाहर नहीं आ पाया था। कुछ सुमाली के प्रयासों से और कुछ रावण के अपने प्रयासों से धीरे-धीरे रावण ने अपनी मनस्थिति से उबरना आरंभ किया। मंदोदरी ने भी उसकी सहायता की। मंदोदरी ने ही उसे सुझाया कि वह इस मनस्थिति से तभी उबर पाएगा जब वह स्वयं को विष्णु से श्रेष्ठ सिद्ध कर देगा।

रावण स्वयं को सबसे श्रेष्ठ सिद्ध करने के अभियान पर निकल पड़ा। सुमाली ससैन्य अभियान के पक्ष में था किंतु रावण ने उसका प्रस्ताव अस्वीकार कर दिया। उसका विचार था कि उसे अपनी व्यक्तिगत श्रेष्ठता स्थापित करनी है, इसके लिए निर्दोष सैनिकों और जनता के प्राणों से खिलवाड़ करने की कोई आवश्यकता नहीं। फिर भी सुमाली उसे इसके लिए मनाने में सफल हुआ कि वह एकाएक विष्णु या इन्द्र पर नहीं चढ़ दौड़ेगा।

रावण ने अभियान का आरम्भ किष्किंधा से किया। ऋक्षराज की मृत्यु के उपरांत अब बालि वहाँ का शासक बन चुका था। रावण ने यह जानते हुए भी कि शारीरिक बल में बालि का कोई मुकाबला नहीं है, उसके साथ मल्ल-युद्ध का प्रस्ताव रखा। अपनी योगशक्ति से उसने बालि को पर्याप्त प्रतिरोध भी दिया। अंततः रावण पराजित हुआ, किंतु बालि जानता था कि यदि रावण शस्त्रों से युद्ध का प्रस्ताव करता तो वह (बालि) उसके समक्ष कहीं नहीं टिकता। उसने सहर्ष रावण के मित्रता के प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया।

किष्किंधा के उपरांत रावण वैजयंतपुर पहुँचा। शम्बर के पतन के उपरांत वैजयंतपुर कई टुकड़ों में विभाजित हो गया था किंतु सभी देवों से घृणा करते थे। रावण में उन्हें अपना उद्धारक दिखाई पड़ा। वहाँ रावण को किसी प्रतिरोध का सामना नहीं करना पड़ा। वैजयंतपुर की दशा बहुत बिगड़ी हुई थी, रावण उसे सुधारना चाहता था किंतु तभी उसे मंदोदरी का संदेश मिला कि मेघनाद का विधिवत विद्यारम्भ होना है और उसमें रावण की उपस्थिति अनिवार्य है। मेघनाद की शिक्षा के लिए मंदोदरी की सलाह पर दैत्यगुरु शुक्राचार्य का चयन किया गया था। रावण लंका लौटा। कार्यक्रम सम्पन्न होने के उपरांत वह इस बार सुमाली को भी अपने साथ वैजयंतपुर ले आया और वैजयंतपुर की व्यवस्थाओं को समझालने में जुट गया।

इसी बीच गंधर्वराज मित्रावसु का आगमन हुआ। उन्होंने रावण के सम्मुख अपने साथ गंधर्वलोक चलने का प्रस्ताव रखा। सुमाली ने भी उनके प्रस्ताव का समर्थन किया। सुमाली आने वाले इंद्र के साथ युद्ध में, देवलोक के निकट स्थित गंधर्वलोक के साथ मित्रता-संबंधों की उपयोगिता समझता था। गंधर्वलोक में रावण की भेंट मित्रावसु की सर्वगुण-सम्पन्न सुन्दरी कन्या चित्रांगदा से हुई। दोनों में परस्पर अनुराग बढ़ा जिसकी परिणति उनके विवाह के रूप में हुई।

गंधर्वलोक के उपरांत रावण ने महिष्मती के सम्राट् सहस्त्रबाहु अर्जुन से भिड़ने का निर्णय किया। रावण को एक बार पुनः पराजय का स्वाद चखना पड़ा। अर्जुन ने उसे बन्दी बना लिया। सूचना मिलने पर पुलस्त्य ने आकर उसे मुक्त करवाया। पुलस्त्य के कारण अर्जुन भी रावण का मित्र बन गया।

रावण एक बार पुनः दिग्विजय पर निकल पड़ा और एक के बाद एक राजाओं को परास्त करता चला गया। उसका तरीका वही था- अकेला जाता और राजा से 'युद्ध-देहि' कहकर युद्ध की याचना करता। अनेक राजाओं ने बिना लड़े ही उसकी अधीनता स्वीकार कर ली। रावण का अभियान चलते-चलते विन्ध्य पर्वत पार कर पूर्वोत्तर के राज्यों तक पहुँच गया।

आगे उशीरबीज नामक राज्य था जिसका राजा मरुत्त था। मरुत्त को भी रावण ने चुनौती दी। मरुत्त उस समय माहेश्वर यज्ञ में दीक्षित था। उसने रावण की चुनौती स्वीकार करनी चाही किंतु यज्ञाचार्य महर्षि संवर्त ने यह कहकर रोक दिया कि माहेश्वर यज्ञ में दीक्षित व्यक्ति शस्त्र ग्रहण नहीं कर सकता। मरुत्त ने शस्त्र रख दिए। रावण के साथ इस यात्रा में मात्र उसके दो मंत्री शुक और सारण थे, मरुत्त के शस्त्र रखते ही उन्होंने रावण की विजय की घोषणा कर दी।

रावण और आगे आर्यावर्त-ब्रह्मावर्त की ओर बढ़ता उससे पूर्व ही नारद ने हस्तक्षेप किया। नारद ने उसे सलाह दी कि उसका उद्देश्य स्वयं को सर्वश्रेष्ठ सिद्ध करना है, इसके लिए इन सारे निरीह नृपों से युद्ध करने की क्या आवश्यकता है, वह सीधे देवों और लोकपालों से युद्ध क्यों नहीं करता? देवों पर विजय प्राप्त करते ही वह स्वतः ही सर्वश्रेष्ठ सिद्ध हो जाएगा। रावण ने नारद की सलाह स्वीकार कर ली। किंतु देवों पर आक्रमण करने के लिए उसने एकाकी अभियान के स्थान पर ससैन्य अभियान को वरीयता दी।

सबसे पहले उसने यमलोक पर चढ़ाई की। यम ने सोचा था कि रावण को आसानी से परास्त कर देंगे किंतु रावण भारी पड़ने लगा। उसका कालपाश नामक अस्त्र भी रावण **को** रोक नहीं पाया। अंततः यम अपने सर्वसंहारक अस्त्र कालदण्ड का प्रहार करने को उद्यत हुए किंतु तभी ब्रह्मा प्रकट हो गए और यम को रोक दिया। यम पितामह की अवहेलना नहीं कर सकते थे, क्रोध में उन्होंने रणभूमि छोड़ दी, रावण की विजय हो गयी।

आगे नागराज वासुकि द्वारा शासित भोगवती पुरी थी। वहाँ रावण को अधिक प्रतिरोध का सामना नहीं करना पड़ा।

अगला राज्य निवातकवच नामक दैत्यों द्वारा शासित मणिमयीपुरी था। मणिमयीपुरी एक ऊँची पहाड़ी पर अभेद्य प्राचीर द्वारा रक्षित नगरी थी। यहाँ भी ब्रह्मा ने हस्तक्षेप कर दोनों पक्षों में मित्रता करवायी।

उसके आगे कालकेयों द्वारा शासित अश्म नगर था। यह बहुत छोटा सा राज्य था। चंद्रनखा का पति विद्युज्जिह्व अपने पिता के उपरांत इसका शासक बन चुका था किंतु रावण को इस सत्य का संज्ञान नहीं था। रावण ने यहाँ भी युद्ध की चुनौती दी। कालकेय भी हठी थे, रावण यदि चुनौती देने से पूर्व विद्युतज्जिह्व से वार्ता करता तो वह सहजता से उसकी अधीनता स्वीकार कर लेता, उसे तो पता ही था कि रावण उसकी पत्नी का अग्रज है इस नाते उसका भी ज्येष्ठ है, किंतु चुनौती को वह अस्वीकार नहीं कर सकता था। उसने अपने संबंध का भी परिचय नहीं दिया। युद्ध हुआ और विद्युत मारा गया।

आगे वरुण लोक था। वरुण भी इंद्र, यम और कुबेर के समान लोकपाल था। यहाँ पुनः ब्रह्मा ने रावण की सहायता की। उन्होंने रावण के आक्रमण से पूर्व ही संगीत-गोष्ठी के बहाने वरुण को अपने पास बुला लिया। वरुण न चाहते हुए भी पितामह के आग्रहरूपी आदेश की अवहेलना नहीं कर सकता था। थोड़े से प्रतिरोध के उपरांत रावण को वहाँ भी विजय प्राप्त हो गयी। अब देवों लोकपालों में मात्र इंद्र शेष था। किंतु सुमाली के परामर्श के अनुसार इंद्र पर अभियान से पूर्व वे एक बार पुनः लंका वापस आए।

लंका में विद्युत की मृत्यु का समाचार पहुँच चुका था और चंद्रनखा अर्धविक्षिप्त की सी स्थिति में थी। बड़ी कठिनाई से रावण उसे उस समय शांत कर पाया। तभी विभीषण ने उसे सूचना दी कि उसकी मौसी की पुत्री कुम्भीनसी दैत्यराज मधु के साथ चली गयी है। दोनों आघात बड़े थे, क्रोध में रावण ने विभीषण से बहुत कुछ कह दिया। दोनों भाइयों के मनो में न चाहते हुए भी दरार पड़ गयी।

मेघनाद को अब तक आचार्य शुक्र समस्त विद्याओं में दक्ष कर चुके थे। वस्तुतः अब वह रावण से भी अधिक तेजस्वी हो चुका था। इस तेजस्विता के बावजूद वह अत्यंत शालीन व्यक्तित्व का स्वामी था।

चंद्रनखा को उन्माद की अवस्था से निकालने के लिए रावण ने उसे लंका से दूर करने का विचार किया ताकि लंका में विद्युत से जुड़ी स्मृतियाँ उसके मन को आन्दोलित न कर पायें। इसलिए उसने चंद्रनखा को दण्डकारण्य की स्वामिनी बना दिया। समस्त कार्यभार देखने के लिए मौसेरे भाई खर को उसका सहयोगी बना दिया और दूषण को सेनापति। चौदह सहस्र सैन्य भी उनके साथ कर दिया।

इंद्र पर अभियान के लिए सुमाली ने समुद्र मार्ग चुना। यह अब तक का सबसे विशाल सैन्य अभियान था। पहली बार मेघनाद भी इस अभियान का अंग था। रावण शेष सैन्य से पृथक पुष्पक से वैजयंतपुर, मधुपुर होते हुए गंधर्वदेश में उनसे मिलने वाला था। वैजयंतपुर में सभी अत्यंत उत्साहित थे इस अभियान से। शम्बर वध के बाद से वे देवों से अत्यंत घृणा करते थे। रावण ने उन्हें भी गंधर्वदेश में आकर मिलने का आदेश दिया।

रावण मधुपुर अत्यंत क्रोधित अवस्था में पहुँचा था। वह मधु को दंडित करने आया था, किंतु वहाँ जब कुम्भीनसी ने कहा कि वह स्वेच्छा से मधु के साथ आई थी तब फिर क्रोध करने का कोई कारण ही नहीं बचा। वहाँ से मधु भी अपने सैन्य समेत रावण के साथ हो लिया। आगे जाकर गंधर्वराज का सैन्य भी इनके साथ मिल गया। गंधर्वदेश से सबने देवलोक की ओर प्रस्थान किया। रावण एक बार पुनः सबसे पृथक पुष्पक में था, वह अभियान से पूर्व शिव का आशीर्वाद लेना चाहता था। शिव से

आशीर्वाद लेकर जब रावण आगे बढ़ा तो कैलाश की प्राकृतिक सुषमा में एक बार पुनः खो गया। यहीं पर कुबेर की अलकापुरी थी। वहाँ प्रकृति की मादकता, गंधर्वों और अप्सराओं का उन्मुक्त रमण, चित्रांगदा की मादक स्मृतियों और मदिरा के प्रभाव ने उसकी वासना और अहंकार को उद्दीप्त कर दिया। उसकी ऐसी मानसिक अवस्था में सोलह शृंगार किए, उत्तेजक-झीने वस्त्रों में लिपटी अप्सरा रम्भा उधर आ निकली। रम्भा ने रावण के रमण के प्रस्ताव को यह कह कर ठुकरा दिया कि आज के दिन वह उसके भतीजे नलकूबर की पत्नी है, आज के अतिरिक्त किसी भी दिन वह उसका प्रस्ताव सहर्ष स्वीकार कर लेगी। अपनी उस समय की मानसिक अवस्था में रावण को उसकी बात पर विश्वास नहीं हुआ, उसने बलात रम्भा से रमण किया। प्रातः होश में आने पर और नलकूबर द्वारा धिक्कारे जाने पर रावण को आत्मग्लानि हुई। उसने समाधि में जाकर प्रण लिया कि भविष्य में कभी भी, किसी भी स्त्री को उसकी इच्छा के बिना स्पर्श नहीं करेगा।

नारद के इंद्र से व्यक्त किए गए अनुमान एक बार पुनः सत्य सिद्ध हुए। शिव ने इंद्र की किसी भी प्रकार की सहायता करने से स्पष्ट मना कर दिया। विष्णु, जो कि इंद्र के छोटे भाई थे, ने भी स्वयं को युद्ध से विरत रखा। रावण त्रिलोकेश्वर हो गया। मेघनाद ने इंद्र को बन्दी बना लिया। मय की पत्नी, मन्दोदरी की माता हेमा, जिसे इंद्र अपने साथ ले गया था, मय को पुनः प्राप्त हो गयी। सारी उपलब्धियों के बावजूद इस युद्ध में रावण को भी अपूरणीय क्षति उठानी पड़ी थी- सुमाली की मृत्यु के रूप में।

ब्रह्मा के आग्रह पर मेघनाद ने इंद्र को मुक्त कर दिया। बदले में उसे उनसे एक अभेद्य रथ प्राप्त हुआ। इसी अवसर पर आयोजित विजयोत्सव में ब्रह्मा ने मेघनाद को इंद्रजित की उपाधि से सम्मानित किया।

इंद्र विजय के उपरांत चित्रांगदा भी रावण के साथ लंका आई। वह लंका में भी रावण के साथ वैसे ही उन्मुक्त रमण की आकांक्षा रखती थी जैसा उन्हें गंधर्वदेश में प्राप्त होता था किंतु लंका में यह संभव नहीं था। उसे रावण को मंदोदरी के साथ बाँटना भी पसंद नहीं था, फलतः दोनों में दूरियाँ बढ़ने लगीं। चंद्रनखा की स्थिति में कोई सुधार नहीं था। वह रावण से दिल से प्यार करती थी, उसका सम्मान भी करती थी परंतु साथ ही साथ उसे अपने पति का हत्यारा भी मानती थी। ये परस्पर विरोधी भावनायें उसे सामान्य होने नहीं दे रही थीं।

रावण को अब तक मेघनाद के अतिरिक्त मंदोदरी से एक और पुत्र अक्षय कुमार प्राप्त हुआ था। चित्रांगदा से उसे जुड़वाँ पुत्र देवान्तक और नरांतक प्राप्त हुए। रावण को भी विभिन्न विजयों में उपहार के रूप में शताधिक रूपवती स्त्रियाँ उप-पत्नियों के रूप में प्राप्त हुई थीं। इनमें से भी किन्हीं से उसके दो पुत्र थे- अतिकाय और त्रिशिरा।

मंदोदरी के दुष्ट प्रकृति के भाई दुंदुभी और मायावी, जिनका दीर्घ अवधि से मय और मंदोदरी से कोई संबंध नहीं था, भी रावण की बढ़ती ख्याति सुनकर लंका आ गए। किंतु उनके उद्दंड आचरण के चलते अंततः रावण ने उन्हें अपमानित कर लंका से निष्कासित कर दिया।

मेघनाद में इंद्र-विजय के उपरांत भी अहंकार ने जन्म नहीं लिया था। वह अब भी किसी विद्यार्थी की भाँति ही रहता था और अपना अधिकांश समय निकुम्भिला यज्ञशाला में ही गुरुदेव शुक्र से साथ अध्ययन और अन्वेषणों में व्यतीत करता था। माल्यवान के परामर्श पर, उसकी राजकाज में रुचि जाग्रत करने के उद्देश्य से उसका युवराज के रूप में, उसकी इच्छा के बिना, विधिवत अभिषेक कर दिया गया।

सुमाली ने अपने विस्तार अभियान में लंका से लेकर सुंदरवन तक जो सम्पर्क-सूत्र फैलाए थे उनके विषय में रावण को कोई ज्ञान नहीं था। वे सूत्र धीरे-धीरे टूटने लगे। बस दंडकारण्य में खर-दूषण और सुंदरवन में ताड़का और मारीच-सुबाहु ही रक्ष-संस्कृति के विस्तार के लिए कार्य कर रहे थे। दोनों ही स्वेच्छाचारी हो रहे थे। रावण को संभवतः उनकी गतिविधियों के विषय में ज्ञान भी नहीं था।

सुमाली अब नहीं था। रावण उसकी छाया से बाहर आ रहा था। अचानक एक दिन उसे अपने पिता की याद आ गयी, उनसे उसकी बहुत समय से भेंट नहीं हुई थी। वह मंदोदरी और मेघनाद को लेकर विश्रवा के पास पहुँचा। विश्रवा ने उसे अपने अंदर सोये पुलस्त्य के पौत्र को जाग्रत करने का उपदेश किया। उन्होंने कहा कि सुमाली का दौहित्र रावण, कभी भी विष्णु पर अपनी श्रेष्ठता सिद्ध नहीं कर पायेगा किंतु पुलस्त्य का पौत्र कर सकता है। रावण ने अब अपने समय का उपयोग प्रजा की उत्थिति के साथ-साथ साहित्य, संगीत, कला आदि विविध विषयों में करना आरंभ कर दिया। इन सबका सार्थक प्रभाव भी पड़ा। इंद्रविजय की पाँचवीं वर्षगाँठ के उपलक्ष्य में आयोजित उत्सव में, सम्पूर्ण त्रिलोक के महत्वपूर्ण व्यक्तियों की उपस्थिति में, नारद ने उसके बहुआयामी व्यक्तित्व की प्रशंसा करते हुए उसे 'दशानन' की उपाधि से विभूषित करने का प्रस्ताव किया। सर्वप्रथम विष्णु ने ही उसका अनुमोदन किया। तदुपरांत सबकी सहमति से ब्रह्मा ने उसे दशानन के रूप में मान्यता दी। रावण अब दशानन हो गया था- समस्त दस विद्याओं का ज्ञाता।

दूसरी कथा देवों और नारद की -

किष्किंधा और दण्डकारण्य में चलते गुरुकुलों की प्रगति से इंद्र प्रसन्न था किंतु उसे शंका थी कि इन गुरुकुलों में प्रशिक्षित योद्धा भविष्य के युद्ध में राम का सहयोग क्यों करेंगे? वानरराज बालि रावण का मित्र है, उसके साथ ये सब भी रावण के पक्ष में

ही जायेंगे। दक्षिण की सबसे बड़ी शक्ति महिष्मती का कार्तवीर्य अर्जुन भी रावण का मित्र है। महिष्मती का कोशल से बहुत पुराना वैरभाव भी है, ऐसे में वह भी रावण के ही पक्ष में होगा!

नारद उन्हें आश्चस्त किया और एक दिन सम्मोहन विद्या का प्रयोग करते हुए बालि के मन में सुग्रीव के प्रति संदेह का बीज रोप दिया। सहस्त्रार्जुन के लिए भी वे जामदग्रेय राम- परशुराम को तैयार करना आरंभ करते हैं।

तीसरी कथा राम और उनके भाइयों की-

राम चारों भाई गुरुकुल में वशिष्ठ के निर्देशन में पढ़ और कढ़ रहे थे। जाबालि के एक प्रश्न से प्रेरित वशिष्ठ ने, नारद से लक्ष्मण को भी योजना में सम्मिलित करने का आग्रह किया। साथ ही उन्होंने राम-लक्ष्मण की आगे की दीक्षा विश्वामित्र के निर्देशन में होने का भी प्रस्ताव रखा। नारद पहले ही इस विषय में भूमिका बना चुके थे। नारद ने वशिष्ठ को सीता के विषय में भी बताया कि वह वस्तुतः रावण की पुत्री है और उसका जन्म ही पितृकुल के विनाश का कारण बनने के लिए हुआ है। अतः विश्वामित्र राम और सीता के विवाह के भी सूत्रधार बनेंगे। योजना आगे बढ़ी, विश्वामित्र अपनी भूमिका के निर्वहन हेतु राम और लक्ष्मण को, ताड़का से त्राण दिलाने के बहाने, दशरथ से माँग ले गये।

चौथी कथा सीता की-

जनक के यहाँ सीता पलने लगीं। कुछ ही दिनों में जनक की अपनी पुत्री उर्मिला का जन्म हुआ। उर्मिला के जन्म से सीता के प्रति जनक या सुनैना का स्नेह कम नहीं हुआ। सीता को आरंभिक शिक्षा स्वयं जनक ने ही दी, उसके उपरांत दोनों बहनों को गुरुकुल भेजा गया। सीता अत्यंत विदुषी कन्या के रूप में विकसित हो रही थीं। सीता के जन्म की वास्तविकता से परिचित नारद एक दिन जनक से भेंट करने मिथिला आये और उन्होंने उन्हें सीता को वीर्यशुल्का घोषित करने का परामर्श दिया। जनक ने ऐसा ही किया।

पाँचवीं कथा बालि-सुग्रीव की-

वानरराज ऋक्षराज के उपरांत बालि किष्किंधा का राजा बना और सुग्रीव युवराज। बालि का विवाह पंचकन्याओं में एक, अप्सरा तारा से हुआ था और सुग्रीव का रूमा से। केसरी और अंजना के पुत्र हनुमान शारीरिक और मानसिक दोनों ही रूप से अविश्वसनीय प्रगति कर रहे थे। बालि को तो अब राजकीय व्यस्तताओं के कारण समय नहीं मिलता था किंतु सुग्रीव के पास समय ही समय था। हनुमान की उसके

साथ बढ़िया जोड़ी जम रही थी। बड़े होने के साथ-साथ बालि का पुत्र अंगद में इस टोली में शामिल होता जा रहा था। तभी एक दिन नारद का आगमन हुआ और वे कुशलता से बालि के मन में सुग्रीव के प्रति संदेह का बीजारोपण कर गए।

लंका से निष्कासित दुन्दुभि और मायावी किष्किंधा में उपद्रव करने लगे। पहले तो बालि ने रावण का सम्बन्धी होने के कारण उनके साथ नर्मी का बर्ताव किया किंतु जब अधिक हुआ तो एक दिन उसने मायावी की तगड़ी धुनाई कर दी और उसे दुबारा न दिखाई देने की चेतावनी भी दे दी। बाद में दुन्दुभि बालि को ललकारने आया और बालि के हाथों मारा गया। बालि ने क्रोध में दुन्दुभि की लाश को उठाकर दूर फेंक दिया। वह निकट ही स्थित मतंग वन में मतंग ऋषि के आश्रम के द्वार पर गिरी जाकर। आश्रम अपवित्र होने के कारण कुपित ऋषि ने शाप दिया कि जिसने भी यह कृत्य किया है वह जैसे ही मतंग वन में प्रवेश करेगा, उसका सिर टुकड़े-टुकड़े हो जाएगा।

कुछ दिन बाद मायावी फिर लौटा और ललकारते हुए छल से बालि को एक गुफा में ले गया। बालि सुग्रीव को गुफा के द्वार पर छोड़ भीतर मायावी की खोज में चला गया। भीतर मायावी को खोज उसका वध करने में बालि को कई दिन लग गए। जब वह वापस आया तो देखा कि गुफा का द्वार एक विशाल चट्टान से बंद कर दिया गया है। नारद द्वारा रोपा गया संदेह का बीज अचानक विष वृक्ष बन गया। बालि ने सुग्रीव को बहुत अपमानित कर किष्किंधा से निष्कासित कर दिया। हनुमान सुग्रीव को नहीं छोड़ सकते थे, वे भी पीछे-पीछे आ गए। दोनों ने मतंग वन में स्थित ऋष्यमूक पर्वत पर आश्रय लिया। धीरे-धीरे अंगद भी वहाँ नित्य आने लगा। कुछ अन्य वानर भी वहाँ आ गए।

छठी कथा परशुराम की-

परशुराम का भी नाम 'राम' ही था। वे शिव द्वारा प्राप्त फरसा 'विद्युतद्युति' सदैव अपने साथ रखते थे इसलिए उनका नाम परशुराम पड़ गया। वे विश्वामित्र की बड़ी बहन सत्यवती के पौत्र और भार्गव जमदग्नि के पुत्र थे। भार्गव परम्परागत रूप से महिष्मती क्षेत्र के समस्त क्षत्रियों के कुलगुरु थे। इस समय कुलगुरु के पद पर जमदग्नि सुशोभित थे। परशुराम उग्र स्वभाव के थे और अस्त्र-शस्त्रों में विशेष रुचि रखते थे। वे इस क्षेत्र में आगे प्रशिक्षण प्राप्त करना चाहते थे किंतु जमदग्नि का मानना था कि वे ब्राह्मण हैं और उनके लिए इतनी ही शस्त्र विद्या पर्याप्त है। फिर भी नारद के दबाव देने पर वे परशुराम को आगे प्रशिक्षण लेने हेतु विश्वामित्र के पास भेजने को सहमत हो गए। परशुराम ने पहले विश्वामित्र से शस्त्रविद्या सीखी और फिर विश्वामित्र

के ही प्रयास से स्वयं शिव से भी शिक्षा प्राप्त की। मान्यताओं के अनुसार परशुराम और मेघनाद उस समय के सर्वश्रेष्ठ योद्धा थे।

परशुराम को शिव के पास से वापस आए कुछ ही समय हुआ था कि एक दिन आश्रम की कामधेनु वंश की गौ कपिला को लेकर जगदग्नि से हैहयराज अर्जुन का विवाद हो गया। अर्जुन कपिला को बलात अपने साथ ले जाना चाहता था। इस प्रयास में वह परशुराम के हाथों मारा गया। इसका बदला लेने के लिए अर्जुन के पुत्रों ने परशुराम की अनुपस्थिति में जमदग्नि की हत्या कर दी और सारा आश्रम जला डाला। क्रोधित परशुराम ने प्रतिशोध में हैहय वंश का समूल नाश कर दिया। इसमें उस क्षेत्र में निवास करने वाले अन्य वंशों के क्षत्रियों ने भी उनका सहयोग किया, जमदग्नि के बाद वे परंपरागत रूप से उन सबके कुलगुरु जो थे। अर्जुन द्वारा गुरु और गौ का अपमान और उसके पुत्रों द्वारा गुरु की हत्या से वे सारे ही उन सबसे कुपित थे।

मंगला की कथा-

घर से भागी हुई मंगला भटकती हुई सौभाग्य से एक भले किसान महीधर के पास पहुँच गयी। महीधर ने उसका पढ़ने का दृढ़ निश्चय जानकर उसे एक बड़े और भले व्यवसायी प्रसेनजित के सार्थ के साथ कर दिया कि वे मंगला को ले जाकर महाराज जनक को सौंप दें। लड़कियों के लिए शिक्षा प्राप्त करना मिथिला के अतिरिक्त कहीं भी संभव नहीं था। मार्ग में ही सार्थ को लुटेरों ने लूट लिया। उस लूट में प्रसेनजित और उनके पुत्र मारे गए। बाद में पता चला कि इस कांड में स्वयं प्रसेनजित के अपने सुरक्षाकर्मी ही शामिल थे। यह लूट ठीक अहल्या के आश्रम के नीचे से गुजरते मार्ग पर हुई थी। मंगला को अहल्या ने बचा लिया और उसे शिक्षित करने लगी।

अब आगे ...

1- विश्वामित्र के साथ

राम और लक्ष्मण विश्वामित्र के साथ सुन्दरवन क्षेत्र में राक्षसों का उत्पात रोकने के लिए निकल लिए। दशरथ ने बहुत चाहा था कि वे लोग एक श्रेष्ठ रथ से प्रस्थान करें, अयोध्या के सुकुमार राजकुमार किस प्रकार बीहड़ वनप्रांत में पैदल चल पायेंगे, किन्तु ब्रह्मर्षि विश्वामित्र ने विनम्रता पूर्वक उनका निवेदन अस्वीकार कर दिया।

लम्बी यात्रा थी। अयोध्या से निकल कर तीनों ने सुन्दरवन जाने के लिए दक्षिण-पूर्व का रुख किया। (सुन्दरवन गंगा और सरयू (घाघरा) के संगम के पश्चात आज का गंगा और सोन नदियों के मध्य का क्षेत्र है। यह बिहार में पटना से थोड़ा सा पहले, पश्चिम में पड़ता है। आज पं० बंगाल में गंगा के डेल्टा में जो सुन्दर वन क्षेत्र है उससे यह भिन्न है।)

इनका यात्रा-मार्ग अधिकांशतः सरयू के किनारे-किनारे ही था। जहाँ सरयू विपरीत दिशा में घुमाव लेती थी, वहाँ ये उसके साथ घूमने के स्थान पर सीधा मार्ग पकड़कर आगे बढ़ जाते थे और सरयू से दूर हो जाते थे। ऐसे में वन-उपवन मिल जाते थे, कहीं-कहीं छोटे-छोटे ग्राम मिल जाते थे। थोड़ा आगे जाने पर फिर सरयू आकर उनके साथ मिल जाती थी।

दोनों भाइयों ने कंधे पर धनुष धारण कर रखा था। पीठ पर तूणीर बँधे थे, कमर में दोनों ओर कृपाणें लटक रही थीं। हाथों में गोह के चर्म के अंगुलित्राण (दस्ताने) थे।

राम और लक्ष्मण दोनों को ही न तो पैदल चलने से और न ही शारीरिक श्रम से कोई असुविधा थी, गुरुकुल जीवन में उन्हें इसका पर्याप्त अभ्यास हो गया था। फिर भी विश्वामित्र के साथ चल पाना कठिन हो रहा था। उनकी गति अविश्वसनीय रूप से तीव्र थी।

‘अग्रज! ब्रह्मर्षि चलते हैं अथवा उड़ते हैं?’ चलते-चलते लक्ष्मण ने राम की बगल में आते हुए विस्मयपूर्वक कहा।

‘उपहास नहीं।’ राम ने तुरन्त वर्जना दी।

विस्मित राम भी थे, किन्तु उनका चेहरा निर्विकार था। गुरुजनों के किसी भी कृत्य पर प्रश्न उठाना उनके स्वभाव में नहीं था, फिर ये तो स्वयं ब्रह्मर्षि विश्वामित्र थे, त्रिभुवन में सुपूजित।

‘उपहास नहीं कर रहा भ्राता, मैं तो सत्य कह रहा हूँ। मैंने पहले कभी किसी को इस गति से चलते नहीं देखा।’

राम ने कोई उत्तर नहीं दिया तो लक्ष्मण स्वयं ही आगे बोले-

‘वह भी इस अवस्था में, अद्भुत है? मैं स्वयं साथ में न चल रहा होता तो विश्वास ही न करता कि कोई इस अवस्था में भी निरन्तर ऐसी गति से चल सकता है।’

‘हमें सुदूर यात्रा करनी है। यदि इस गति से न चले तो कितना समय तो यात्रा में ही व्यतीत हो जाएगा।’ राम ने उत्तर दिया।

‘भ्राता! ऐसा नहीं प्रतीत होता मानो आगे कहीं मेनका मुनिवर की प्रतीक्षा में बैठी हो और विलंब हो जाने पर ...’ राम की भृकुटी पर पड़े बल देख कर लक्ष्मण ने अचानक बात बदल दी- ‘देखिए उधर पेड़ों पर कैसी अमियाँ लटक रही हैं! थोड़ी सी तोड़ लाऊँ? मात्र कुछ पल, मैं दौड़ कर आप दोनों से आ मिलूँगा। ... मार्ग भी आनन्द से कट जाएगा, अमियाँ खाते-खाते।’ लक्ष्मण चुहल से बाज नहीं आ रहे थे। उनकी वाकपटुता से राम के मुख पर भी हँसी खेलने का प्रयास करने लगी किंतु उन्होंने सायास उसे रोक लिया, बस आँखों में उसकी परछाई मात्र दिखाई पड़ी लक्ष्मण को। उनके लिए इतना ही पर्याप्त था।

‘तो जाऊँ?’ लक्ष्मण ने उत्सुकता से प्रश्न किया।

‘नहीं, चुपचाप चलते चलो। हम ब्रह्मर्षि के साथ अशिष्टता नहीं कर सकते।’ राम ने लक्ष्मण की ओर देखे बिना उत्तर दिया, वे अपनी मुस्कुराहट लक्ष्मण को नहीं दिखाना चाहते थे।

लक्ष्मण ने मायूस होकर मुँह फुलाने का अभिनय किया। कुछ काल मौन रहा, परंतु लक्ष्मण अधिक देर तक मौन कैसे रह सकते थे! विश्वामित्र पता नहीं इनकी फुसफुसाहटों को सुन रहे थे अथवा नहीं, किंतु इस सबका उन पर कोई भी प्रभाव पड़ता दिखाई नहीं पड़ रहा था। वे इनके वार्तालाप से पूर्णतः निर्लिप्त, वैसे ही अपनी गति से बढ़ते चले जा रहे थे और उनके पीछे-पीछे अयोध्या के दोनों राजकुमार भी।

राम के लिए भले ही यह यात्रा उनके शिक्षण-प्रशिक्षण का ही एक भाग थी, किंतु लक्ष्मण के लिए यह एक, आज की भाषा में कहें तो- आउटिंग थी, जिसका वे पूरा आनन्द लेना चाहते थे। यही दोनों के चरित्रों में अन्तर था। राम पूर्णतः मर्यादित थे तो लक्ष्मण असीमित ऊर्जा का निर्बाध प्रस्फुटन। राम का अनुशासन इस ‘निर्बाध’ को सीमा में बाँधे रखने का कार्य करता था। ऊर्जा को अनुशासन प्रायः सह्य नहीं होता, किंतु लक्ष्मण को राम का अनुशासन सदैव स्वीकार होता था, यह उनके परस्पर स्नेह की पराकाष्ठा थी।

इसी तरह चलते-चलते साँझ होने तक यह छोटा सा **काफिला** सरयू के किनारे-किनारे पूर्व की ओर बढ़ता हुआ, अयोध्या से डेढ़ योजन (लगभग 20 किलोमीटर) दूर निकल आया। साँझ घिरने लगी थी। अकस्मात् जैसे विश्वामित्र को भान हुआ कि राजकुमार थक गए होंगे, वे एक स्थान पर रुक गए।

‘वत्स! हम आज यहीं रात्रि-विश्राम करेंगे।’

‘जैसी आज्ञा ब्रह्मर्षि!’ दोनों कुमारों ने सहज भाव से उत्तर दिया।

पेड़ों के झुरमुट में एक स्थान पर बैठते हुए विश्वामित्र बोले-

‘अपने शस्त्रास्त्र यहीं रख दो और फिर दोनों सरयू में आचमन कर आओ।’

निर्देशों के अनुपालन में कुमारों ने अपने धनुष, तूणीर, कमर में दोनों ओर लटक रहीं कृपाणें आदि वहीं विश्वामित्र के पास रख दीं और स्वयं सरयू की ओर चले गए।

‘बैठो यहाँ, मेरे सम्मुख।’ जब दोनों कुमार लौट आए तो विश्वामित्र ने अपने सामने संकेत करते हुए कहा।

दोनों कुमार भूमि पर ही बैठ गए।

‘आज मैं तुम्हें बला-अतिबला विद्यायें प्रदान करूँगा।’

‘जी!’ दोनों ने उत्तर दिया।

‘जानते हो इन विद्याओं का क्या उपयोग है?’

‘जी, गुरुदेव ने बताया था कि इन विद्याओं के ज्ञान से भूख-प्यास और निद्रा पर नियन्त्रण प्राप्त किया जा सकता है।’ राम ने उत्तर दिया।

‘मात्र ज्ञान से नहीं, इन विद्याओं के सम्यक् अभ्यास से। विद्या तो मात्र एक यंत्र है, तुम्हारे इस धनुष के समान। मात्र धनुष हाथ में पकड़ लेने भर से लक्ष्यवेध नहीं हो सकता। साधना-पूर्वक अभ्यास करना पड़ता है तब सटीक लक्ष्यवेध की सामर्थ्य अर्जित होती है। इसी भाँति किसी भी विद्या का साधना-पूर्वक अभ्यास करना पड़ता है तभी वह विद्या उपादेय सिद्ध होती है।’

‘जी गुरुदेव!’ दोनों कुमारों ने समवेत स्वर में कहा।

लक्ष्मण जो कुछ समय पूर्व तक अन्यान्य विचारों में मग्न थे, एकदम से पूर्णतः एकाग्र हो गए। यही उनकी विशेषता थी।

विश्वामित्र कुमारों को दोनों विद्याओं का ज्ञान देने लगे। श्वाश-प्रश्वाश का क्रम, अंग-संचालन, ध्यान और मंत्र सभी विश्वामित्र ने कुमारों को भलीभाँति समझाये। एक मुहूर्त का समय लगा इस सबमें।

विद्याओं का ज्ञान देने के उपरांत विश्वामित्र बोले-

‘इन विद्याओं के अभ्यास से व्यक्ति की अतीन्द्रिय शक्तियाँ जाग्रत हो जाती हैं। जितना अधिक इनका अभ्यास कर लोगे, तुम्हारी अतीन्द्रिय शक्तियाँ उतनी ही अधिक जाग्रत हो जाएँगी। इन विद्याओं को सिद्ध कर लेने के उपरांत कुछ पलों की निद्रा ही तुम्हारे लिए पर्याप्त होगी। कई-कई दिनों तक भोजन प्राप्त न होने पर भी तुम्हारी कार्यक्षमता प्रभावित नहीं होगी। तुम्हारी एकाग्रता, तुम्हारी स्मरणशक्ति,

तुम्हारी निरीक्षणशक्ति सब इतनी विकसित हो जाएंगी कि तुम स्वयं अचंभित रह जाओगे।

‘इन विद्याओं का आविष्कार स्वयं पितामह ब्रह्मा ने किया था, इस प्रकार ये दोनों विद्यायें पितामह की तेजस्विनी कन्यायें हैं।’

इतना कहकर विश्वामित्र कुछ पल रुके और दोनों कुमारों की आँखों में बारी-बारी झाँका। लक्ष्मण की आँखों में प्रश्न तैर रहा था।

‘कोई शंका है लक्ष्मण?’

‘एक प्रश्न है गुरुदेव ...’ लक्ष्मण अपनी जिज्ञासा रोक नहीं पाए।

‘पूछो ...’ विश्वामित्र ने मुस्कुरा कर लक्ष्मण की आँखों में झाँकते हुए ही कहा।

‘यदि ये विद्याएँ इतनी ही चमत्कारी हैं, तब गुरुदेव ने हमें पूर्व में इनका अभ्यास क्यों नहीं करवाया?’

‘उचित होता कि इस प्रश्न का उत्तर तुम्हारे गुरुदेव ही देते।’ विश्वामित्र हठात् मुस्कुरा पड़े।

‘किन्तु वे तो यहाँ उपस्थित हैं नहीं!’

विश्वामित्र कुछ क्षण वैसे ही सस्मित लक्ष्मण की आँखों में झाँकते रहे फिर बोले-

‘ये अत्यंत विशिष्ट गोपनीय विद्याएँ हैं। त्रिलोक में कुछ ही व्यक्तियों को इनका ज्ञान है। संभवतः इसीलिए तुम्हारे गुरुदेव ने अभी तक तुम्हें इनका अभ्यास नहीं करवाया। संभव है भविष्य में करवाते, किन्तु विधि ने यह कार्य मेरे माध्यम से सम्पादित होना सुनिश्चित कर रखा होगा, अतएव यह अवसर मुझे प्रदान किया।’

‘गुरुदेव को ज्ञान है इन विद्याओं का?’

‘निश्चित ही है। ऐसी कौन सी विद्या है जिसका उन्हें ज्ञान नहीं है!’ विश्वामित्र ने यह वाक्य जिस विमुग्ध भाव से कहा, उससे दोनों कुमार विस्मय और गौरव से भर गए। हाँ, राम का चेहरा निर्विकार ही बना रहा पर लक्ष्मण ने अपने भाव छिपाने का कोई प्रयास नहीं किया।

वशिष्ठ और विश्वामित्र के मध्य चली आ रही भयंकर प्रतिद्वन्द्विता की कहानियाँ अब अतीत का विषय हो चुकी थीं। विश्वामित्र अब अध्यात्म के उस स्तर को स्पर्श कर चुके थे, जहाँ लोभ, मोह, भय, क्रोध, प्रतिस्पर्द्धा, महत्वाकांक्षा आदि किसी भी भाव के लिए कोई स्थान शेष नहीं बचता। समस्त जीवन और समस्त सामर्थ्य, ब्रह्म की प्राप्ति और लोक-कल्याण - इन दो महत् उद्देश्यों को ही समर्पित हो जाती है।

वशिष्ठ तो पहले ही उस स्तर को प्राप्त किए हुए थे।

‘और कोई प्रश्न लक्ष्मण?’ गुरुदेव विश्वामित्र ने प्रश्न किया।

लक्ष्मण, राम के चेहरे की ओर देखने लगे। राम का चेहरा अभी भी निर्विकार था, लक्ष्मण वहाँ कोई जिज्ञासा नहीं खोज पाये तो वापस गुरुदेव की ओर मुड़ कर नकार में सिर हिला दिया।

‘तो फिर शयन को प्रस्तुत हुआ जाए।’ कहते हुए गुरुदेव ने अपना उत्तरीय वहीं भूमि पर बिछा दिया और लेट गए।

गुरुदेव के लेट जाने पर राम आगे बढ़कर उनके पैर दबाने लगे। जब यौवन में प्रवेश करती वय वाले, ऊर्जा से भरपूर उन दोनों को कुछ-कुछ थकान का अनुभव होने लगा था, तब गुरुदेव तो वृद्धावस्था में प्रवेश कर चुके थे। लक्ष्मण ने भी राम का अनुसरण किया।

गुरुदेव ने उन्हें रोका नहीं किन्तु अधिक देर वह प्रक्रिया चलने भी नहीं दी। कुछ ही देर में निर्देश दिया-

‘हो गया अब, बस करो। तुम लोग भी शयन करो।’

दोनों कुमार भी अपने-अपने उत्तरीय बिछा कर लेट गए किन्तु आँखों में नींद कहाँ थी अभी!

‘भ्राता! सो गए क्या?’ लक्ष्मण ने राम की ओर करवट लेते हुए पूछा।

‘अभी नहीं, बताओ?’

‘आपने देखा था- पिताजी ताड़का, मारीच और सुबाहु का नाम सुनकर कितना भयभीत से प्रतीत हो रहे थे।’

‘हाँ! किन्तु पिताजी अतीव वृद्ध हो चुके हैं।’

‘वृद्धावस्था शरीर की शक्ति को क्षीण करती है, मन की शक्ति को नहीं!’

‘क्या तात्पर्य है तुम्हारा?’ लक्ष्मण की बात सुनकर राम ने भी उनकी ओर करवट बदल ली।

लक्ष्मण ने कोई उत्तर नहीं दिया। कुछ विचार करते रहे। कुछ पल प्रतीक्षा करने के उपरांत राम आगे बोले-

‘पिता के व्यवहार पर विचार करने का हमें अधिकार नहीं है। हमें अपने कर्तव्यों का निर्वहन करना है। सो जाओ अब।’

‘मैं पिता के व्यवहार का अनुशीलन नहीं कर रहा भ्राता। मैं तो मात्र इस ओर संकेत कर रहा हूँ कि यदि पिता भयभीत थे तो निश्चय ही वे दोनों दुर्दमनीय योद्धा होंगे।’

‘निश्चित ही होंगे।’

‘तो क्या हमारे लिए यह उचित नहीं होगा कि प्रथम उनकी वास्तविक शक्ति का आकलन कर तदुपरान्त योजनाबद्ध ढंग से उन से युद्ध करें? हमें अभी तक युद्ध का

कोई प्रत्यक्ष अनुभव नहीं है। अति-आत्मविश्वास भी घातक हो सकता है।’

‘निश्चित ही गुरुदेव ने इस विषय में विचार किया होगा। मुझसे गुरु वशिष्ठ ने कहा था कि अब हमारे आगे के प्रशिक्षण का दायित्व गुरुदेव विश्वामित्र का है। वे हमें प्रक्रियात्मक प्रशिक्षण देंगे। यह अभियान उसी प्रशिक्षण का एक अंग है।’ रावण का नामोल्लेख किए बिना राम ने लक्ष्मण को संतुष्ट करने का प्रयास किया। (देखें दशानन)

‘हाँ!’ लक्ष्मण ने कहा। फिर आगे बोले- ‘गुरुदेव ने अपना कार्य आरंभ भी तो कर दिया है। आज ही हमें प्रथम दीक्षा दे दी है।’

‘प्रतीत होता है, यह दोनों गुरुओं की कोई साँझी कार्ययोजना है, जिससे पिता भी अनभिज्ञ हैं। अतः हमारे लिए उचित यही है कि कोई प्रश्न किए बिना ब्रह्मर्षि के निर्देशों का अनुपालन करते रहें। इसे कोई अभियान न समझ कर प्रशिक्षण का ही एक भाग मान कर चलें।’

‘हाँ!’ कुछ पल सोचने के उपरांत लक्ष्मण आगे बोले- ‘यदि गुरु वशिष्ठ ने पूर्व में ही आपसे ऐसा उल्लेख किया था, तब तो यही प्रतीत होता है।’

‘तो अब सो जाओ। यदि चाहना तो कल गुरुदेव से इस विषय में अपनी जिज्ञासा के शमन का प्रयास करना।’

किन्तु दूसरे दिन लक्ष्मण ने ऐसा नहीं किया।

2- वीर्यशुल्का सीता

जैसा नारद ने परामर्श दिया था, सीरध्वज जनक ने सीता को वीर्यशुल्का (जिससे विवाह हेतु किसी विशेष पराक्रम को शुल्क रूप में निर्धारित कर दिया गया हो। देखिए दशानन।) घोषित कर दिया था।

यह कोई स्वयंवर नहीं था। सीता की अपनी आकांक्षा के लिए इसमें कोई स्थान नहीं था। जो भी पुरुष उस धनुष पर शर-संधान कर देता, उसी को पति-रूप में वरण करना सीता के लिए बाध्यकारी था।

यह कोई निश्चित समय पर होने वाला आयोजन भी नहीं था, घोषणा हो जाने के उपरान्त जब तक कोई व्यक्ति नियमानुसार निर्धारित शर्त को पूरा कर शिवधनुष पर शर-संधान करने में सफलता प्राप्त नहीं कर लेता, तब तक प्रतियोगिता खुली थी। ऐसा सीता के वीर्यशुल्का घोषित होने के पहले दिन भी हो सकता था और वर्षों तक भी प्रतीक्षा करनी पड़ सकती थी।

इसके लिए कोई उत्सव भी प्रस्तावित नहीं था। राज्य के समस्त कार्य निरन्तर सामान्य दिनों की ही भाँति सम्पादित हो रहे थे। जिस दिन भी कोई प्रत्याशी उपस्थित होता था, उसे एक दिन राज्य का आतिथ्य प्रदान किया जाता था और फिर दूसरे दिन प्रतियोगिता में भाग लेने का अवसर प्रदान कर दिया जाता था।

विधिवत निमन्त्रण प्रेषित कर किसी को आमन्त्रित भी नहीं किया गया था। बस सीता के वीर्यशुल्का होने की घोषणा प्रसारित कर दी गयी थी। कोई भी क्षत्रिय अथवा ब्राह्मण आकर अपनी प्रत्याशिता प्रस्तुत कर सकता था। यह 'बदनाम होंगे तो क्या नाम न होगा' वाला समय नहीं था, स्वयं को विशेष पराक्रमी समझने वाले ही आ रहे थे ... परंतु उनकी संख्या भी कम नहीं थी। आरंभ में तो यह संख्या अधिक ही थी। धनुर्धरों की कोई कमी नहीं थी और क्षत्रियों में तो प्रत्येक पुरुष ही धनुर्धर था।

प्रत्याशियों में युवा भी थे, प्रौढ़ भी और वृद्ध भी थे।

सीरध्वज को इन प्रौढ़ और वृद्ध पराक्रमियों की कोई चिंता नहीं थी। उन्हें नारद के वचनों पर विश्वास था कि इस सृष्टि में देवत्रयी (ब्रह्मा, विष्णु, महेश) और स्वयं उनके (जनक के) अतिरिक्त मात्र चार ही व्यक्ति थे जो शिवधनुष पर शरसंधान करने की सामर्थ्य रखते थे - रावण, परशुराम, विश्वामित्र और शुक्राचार्य। इनमें से किसी को भी अब विवाह में कोई रुचि नहीं थी। नारद ने सीता के योग्य दो ही वर बताए थे - राम और इन्द्रजित मेघनाद। इनमें से राम को विश्वामित्र द्वारा प्रशिक्षित कर योग्य बनाया जाना था और उन्हीं के द्वारा सीता का वरण किया जाना था। रावण अपने पुत्र मेघनाद

को इस हेतु प्रशिक्षित कर प्रस्तुत क्यों नहीं करेगा? यह न तो सरलमना सीरध्वज ने नारद से पूछा था और न ही कूटनीतिज्ञ नारद ने बताया था। फिर भी सीरध्वज निश्चित थे कि राम ही सीता का वरण करेंगे।

सीता के सौन्दर्य और गुणों की ख्याति चतुर्दिक व्याप्त थी, किन्तु तब भी एक आशंका थी कि क्या आर्यावर्त के कुलीन क्षत्रिय एक अज्ञात कुल-गोत्र की कन्या को ग्रहण करना स्वीकार करेंगे? सामान्य स्थितियों में दशरथ सीता को अपनी पुत्रवधू के रूप में स्वीकार करते, इसकी नारद और सीरध्वज दोनों को ही कोई संभावना नहीं प्रतीत हो रही थी। यही तो कारण था जिसके चलते नारद ने सीरध्वज को सीता को वीर्यशुल्का घोषित करने का परामर्श दिया था। वीर्यशुल्का कन्या को अपने पराक्रम से विजित करने में छात्रदर्प को तुष्टि प्राप्त होती, तब दशरथ की ओर से आपत्ति का कोई कारण शेष नहीं रह जाता। आगे राम के चरित्र पर नारद को पूर्ण विश्वास था और नारद के विश्वास में सीरध्वज का विश्वास था।

पहले ही कहा कि सीता के शील और सौन्दर्य की ख्याति सर्वत्र व्याप्त थी। परंतु अब उनकी तेजस्विता की ख्याति उससे भी दूनी गति से फैल रही थी। इसके पीछे भी एक कथा है।

कहा जाता है कि यह वही धनुष था जिससे प्रभु शिव ने दक्ष के यज्ञ का विध्वंस किया था। बाद में देवताओं द्वारा प्रार्थना करने पर वे शांत हुए और धनुष देवताओं को समर्पित कर दिया। देवताओं ने धनुष को धरोहर के रूप में सीरध्वज जनक के पूर्व-पुरुष देवरात के पास रखवा दिया। तभी से यह धनुष धरोहर के रूप में जनक के कुल में रखा चला आ रहा था।

यह धनुष स्थाई रूप से एक पहियों वाली बहुत बड़ी सी छकड़ेनुमा गाड़ी पर रखा हुआ था, जिसे खींचने के लिए बहुत सारे विशालकाय मल्ल-योद्धा लगते थे। इसके ऊपर एक ढक्कन भी था, जिसे कभी भी उठाकर अलग रखा जा सकता था।

अपने ऊपर शिव-धनुष को सँभाले यह विशाल छकड़ेनुमा गाड़ी राजभवन के एक कक्ष में खड़ी रहती थी। धनुष ढक्कन से ढँका रहता था। सभी को पता था कि इस ढक्कन के नीचे प्रभु शिव का विशिष्ट धनुष रखा हुआ है। जिस विषय का हमें सहज ही संज्ञान होता है, उसके विषय में विशेष जानने की जिज्ञासा उत्पन्न नहीं होती। दिन के समय, कोई भी जाकर उसे श्रद्धा से प्रणाम कर सकता था। इस कारण वह धनुष लोगों के लिए आस्था का केंद्र तो था, जिज्ञासा का नहीं। यदि इस विषय में कोई प्रतिबंध लगाया गया होता तो संभवतः अधिक जिज्ञासायें जन्म लेतीं।

सीता भी नित्य ही एक बार उस कक्ष में जाकर ढक्कन हटाकर आस्थापूर्वक धनुष को प्रणाम करती थीं परंतु जिस दिन से उन्हें वीर्यशुल्का घोषित किया गया, उनके

मन में इस धनुष के विषय में जिज्ञासा उत्पन्न हो गयी। स्वाभाविक भी था।

सीता लम्बी, खूब स्वस्थ किशोरी थीं। यौवन से भरपूर। उत्साह और ऊर्जा से भरपूर। अपनी जिज्ञासा से प्रेरित, एक दिन सबसे छुपकर वे कक्ष में पहुँचीं। पहले-पहल उन्होंने सन्दूक का ढक्कन उठाकर, मात्र धनुष का ध्यानपूर्वक निरीक्षण किया। उन्होंने पाया कि धनुष सामान्य धनुषों से आकार में बहुत बड़ा है। वह काष्ठ का नहीं किसी विशेष धातु का बना हुआ है और सामान्य धनुषों की अपेक्षा बहुत मोटा भी है। ऐसा धनुष सीता ने दूसरा कोई नहीं देखा था।

दूसरे दिन वे पुनः उसी प्रकार कक्ष में पहुँचीं। इस बार उन्होंने धनुष को छूकर भी देखा, फिर उठाने का प्रयास भी किया। परंतु अपनी सम्पूर्ण शक्ति का प्रयोग करने के बाद भी वे उसे रंचमात्र हिला भी नहीं पायीं। उनके माथे पर पसीना झलक आया पर धनुष जैसे का तैसा ही रखा रहा।

अब तो वे नित्य ही वहाँ जाने लगीं। असफलता उनकी जिज्ञासा को बढ़ाती ही जा रही थी, उनके उस धनुष को उठाने के संकल्प को नित्य दृढ़तर ही करती जा रही थी। वे भिन्न-भिन्न उपायों से प्रयास करने लगीं। सारे धनुष को टटोल डाला ... शायद कोई विशेष तकनीक प्रयोग की गयी हो ... किंतु कुछ भी समझ नहीं आया। उन्हें निराशा होने लगी। वे भी सोचने लगीं कि इस धनुष को तो हिलाया ही नहीं जा सकता। तब क्या उन्हें **कुँवारी** ही रहना पड़ेगा?

एक दिन, संयोगवश जब वे अपने नित्य के प्रयास में लगी हुई थीं, तभी महाराज सीरध्वज भी वहाँ आ पहुँचे। वे थोड़ी देर मुस्कुराते हुए सीता को देखते रहे। सीता का ध्यान उनकी ओर नहीं था। फिर महाराज ने धीरे से सीता का कंधा थपथपाया। इस अकस्मात स्पर्श से सीता सिहर उठीं। उन्होंने दृष्टि उठाकर देखा ... पिता थे। क्या पिता क्रोधित होंगे? उनके ललाट पर स्वेद-बिंदु झलक उठे। किंतु पल भर में ही उन्होंने स्वयं को संयत किया और फिर मुस्कुरा दीं।

सीरध्वज ने सीता पर क्रोध नहीं किया। क्रोध तो वे करते ही नहीं थे, फिर सीता तो उनकी विशेष दुलारी थीं।

‘यह ऐसे नहीं होगा।’ सीरध्वज बोले- ‘आओ मैं तुम्हें बताता हूँ।’

फिर वे धनुष के सिरो के मध्य की ओर खड़े हुए-

‘ध्यान से देखना ...’ कहते हुए उन्होंने धनुष को प्रणाम किया और फिर झुक कर अपने दोनों हाथ उसके मध्य भाग पर रख दिए।

सीता पूरे ध्यान से देख रही थीं।

‘गिनना ...’ महाराज बोले। बोलने के साथ ही उन्होंने अपनी मुट्ठियाँ धनुष के मध्य भाग पर कस दीं और दोनों हाथों को एक-दूसरे की विपरीत दिशा में इस प्रकार

घुमाना आरंभ किया जैसे हम किसी चीज की चूड़ियाँ खोलते हैं। उन्होंने पाँच बार यह क्रिया दोहराई, फिर धनुष की प्रत्यंचा को खींचा। प्रत्यंचा एक सिरे पर बँधी हुई थी, दूसरे सिरे पर चढ़ाई जानी थी। महाराज ने उसे चढ़ाने का कोई प्रयास नहीं किया। उन्होंने खाली वाले सिरे को उमेठ कर एक पूरा चक्कर घुमा दिया। उनकी भुजाओं की, कंधे की और पीठ की तनी हुई मांसपेशियाँ बता रही थीं कि इसमें उन्हें भरपूर शक्ति लगानी पड़ रही है। एक बार उन्होंने पुनः प्रत्यंचा को खींचा। इस बार भी उनकी भुजाओं के तने हुए स्नायु बता रहे थे कि उन्हें भरपूर शक्ति का प्रयोग करना पड़ रहा है। उनके मस्तक पर स्वेद झलकने लगा किंतु वे अपने प्रयास में सफल हुए, धनुष का मध्यभाग लगभग एक अंगुल और अंदर की ओर झुक गया।

उन्होंने एक लंबी साँस ली और दृष्टि उठाकर सीता की ओर देखा। वे आश्चर्यचकित सी पूरे ध्यान से सम्पूर्ण प्रक्रिया को देख रही थीं। पिता की उठी दृष्टि को देखकर उन्होंने अपना सिर हल्के से हिला दिया, वे प्रक्रिया को समझ रही थीं।

उसके उपरांत सीरध्वज ने अपने दोनों हाथों की उँगलियों को अलग-अलग कोण पर मोड़ते हुए अपने हाथों को धनुष के किनारों की ओर सरकाना आरंभ किया। जब उनके हाथों ने आधी दूरी तय कर ली तो एक खट की ध्वनि हुयी। उन्होंने मुस्कुराकर सीता की ओर देखा। सीता ने धीरे से सिर हिला दिया, वे समझ रही थीं। अब सीरध्वज ने अपने दोनों हाथ धनुष के घूमे हुए किनारों पर रखे और उँगलियों को पुनः विशेष कोण पर मोड़ा। उन्होंने फिर से सिर उठाकर सीता की ओर देखा। सीता ने पुनः मंद स्मित के साथ सिर हिलाया। अब महाराज ने अपने हाथों को उसी प्रकार मध्य की ओर सरकाना आरंभ किया। एक बार फिर जब हाथों ने आधी दूरी तय कर ली, तो एक खट का स्वर हुआ। उनके मुख पर संतोष की मुस्कान फैल गयी। अब उन्होंने अपने दोनों हाथ पूरी दृढ़ता से धनुष के मध्य भाग पर टिकाए और शक्ति लगायी ... धनुष अपने स्थान से थोड़ा सा उठ आया। महाराज ने उसे पूरा उठाने का प्रयास नहीं किया, वैसे ही वापस रख दिया।

वे सीधा खड़े हुए। सीता की ओर दृष्टि उठाई।

‘प्रक्रिया हृदयस्थ की?’ उन्होंने पूछा।

‘हाँ, पिताजी। जटिल है किन्तु अब मैं भी कर लूँगी।’

सीरध्वज ने पुनः सारी प्रक्रिया उल्टी दोहरायी, फिर पीछे हट गए और सीता के लिए स्थान रिक्त कर दिया।

इस बार सीता ने सम्पूर्ण प्रक्रिया दोहरायी। एक बार उन्हें रुककर, बस दो पल के लिए सोचना पड़ा किंतु उन्होंने बिना किसी त्रुटि के कार्य सम्पन्न कर लिया। उन्होंने अपने पिता के समान मात्र धनुष को थोड़ा सा उचका कर वापस नहीं रख दिया,

उन्होंने दोनों हाथों से उसे पूरा उठा लिया- बिलकुल सीधे सामने तानकर। इस क्रिया में उनकी श्वास तीव्र हो गयी, भुजाओं के ही नहीं पीठ के स्नायु भी तन गए, ललाट पर अनेक स्वेद-बिंदु मचल पड़े, किन्तु उनके रोम-रोम में अतीव प्रसन्नता नर्तन कर रही थी।

इसी बीच अकस्मात् एक कर्मचारी महाराज से कुछ पूछने के लिए उस कक्ष के प्रवेशद्वार पर आ गया। उसने जैसे ही सीता को धनुष थामे देखा, अचंभे से उसकी आँखे फटी की फटी रह गयीं। वह महाराज और राजकुमारी को प्रणाम निवेदन करना भी भूल गया। निश्चय ही यह एक अचंभा था। जिस धनुष को कोई नहीं उठा सकता था, उसे कोमलांगी राजकुमारी ने उठा लिया था।

सीता का पूरा ध्यान धनुष की ओर ही था किंतु सीरध्वज ने उस कर्मचारी की उपस्थिति को लक्ष्य किया। उन्होंने हल्के से सीता का कंधा थपथपाते हुए धनुष को यथाविधि-यथास्थान रखने का संकेत किया और मुस्कुराते हुए द्वार की ओर ... उस हकबकाए कर्मचारी की ओर बढ़ गए।

उसके बाद तो धीरे-धीरे सम्पूर्ण मिथिला में और फिर सम्पूर्ण आर्यावर्त में सीता की ख्याति फैल गयी कि जिस धनुष को बड़े से बड़ा योद्धा नहीं उठा सकता, उसे राजकुमारी ने खेल-खेल में उठा लिया। सीता की दैवीय शक्ति का इससे बड़ा प्रमाण और क्या हो सकता था!

इधर सीता को अनुभव हो रहा था कि भले ही उन्होंने धनुष को उठा लिया था, किंतु उसकी प्रत्यंचा चढ़ा पाना उनकी सामर्थ्य के बाहर की बात थी। पर इसका उन्हें कोई कष्ट भी नहीं था। वे तो प्रसन्न थीं कि धनुष को उठाया जा सकता है। इसलिए भी प्रसन्न थीं कि उन्हें पिता के विश्वास पर विश्वास हो गया था, कि इतनी जटिल प्रक्रिया को मात्र वही व्यक्ति सम्पादित कर सकेगा जिसका विधि ने उनके लिए चयन कर रखा है। सपनों के उस राजकुमार की छवि भले ही अभी उनके नेत्रों में स्पष्ट नहीं हुयी थी ... किंतु उन्हें जैसे उससे अभी से प्यार हो गया था।

* * *

अनेक राजपुरुष आ रहे थे। वे आते थे, प्रयास करते थे, प्राणपण से प्रयास करते थे ... और अंततः निराश लौट जाते थे। सीरध्वज जनक प्रत्येक राजपुरुष की असफलता पर क्षोभ और निराशा का प्रदर्शन करते थे, पर वह प्रदर्शन मात्र ही होता था, एक साधु पुरुष की किसी हताश व्यक्ति के शोक में सहभागिता। वस्तुतः तो उन्हें राम की प्रतीक्षा थी। उन्हें प्रतीक्षा थी कि नारद कौन सा चमत्कार कर राम को सीता के वरण के लिए लेकर आते हैं ... साथ ही किस प्रकार राम को उस महान धनुष के

संधान की विद्या से परिचित करवाते हैं। वे प्रतीक्षा कर रहे थे ... निरासक्त-निरपेक्ष भाव से।

राजपुरुषों में अब असंतोष भी पनपने लगा था किंतु सीरध्वज अभी भी निश्चिन्त थे। एक दिन उनका यह निरपेक्ष भाव आहत हुआ। लंकापति रावण ... अब तो त्रिलोकेश्वर रावण, धनुष के दर्शन हेतु उपस्थित था। कौन मान सकता था कि दर्शन का अर्थ प्रतियोगिता में प्रतिभाग करना नहीं था?

सीरध्वज के भीतर बैठा पिता चाह रहा था कि वे अपने शब्दों की मर्यादा तोड़ दें और रावण को प्रतिभाग की अनुमति न प्रदान करें। कैसे कोई पिता अपनी दुलारी कन्या, आयु में उससे इतने बड़े किसी व्यक्ति को सौंप सकता था! परन्तु कोई कारण नहीं था उनके पास रावण को निषेध करने का। वह मात्र राजपुरुष ही नहीं, त्रिलोकेश्वर था। वर्ण में ब्राह्मण था, स्वयं पितामह ब्रह्मा के वंश से था। कैसे रोक सकते थे उसे? अभी तक उन्हें नारद के विश्वास पर विश्वास था कि रावण प्रतिभाग का प्रयास नहीं करेगा किंतु अब तो वह विश्वास मिथ्या सिद्ध होता दिखाई पड़ रहा था। रावण के प्रतिभाग करने का अर्थ ... स्वयं नारद ने ही कहा था कि रावण को विधि ज्ञात है।

अब क्या होगा? ... क्या उनकी पुत्री?... इसके आगे वे नहीं सोच पाए।

उनका हृदय धड़क रहा था। धड़कते हृदय से ही उन्होंने रावण का स्वागत-सत्कार किया और फिर धड़कते हृदय से ही अगले दिन धनुष को सभा-कक्ष में लाए जाने का आदेश दिया। राजसभा में वे और अंतःकक्ष में महारानी सुनैना ... दोनों के नेत्र धुँधला रहे थे। कुछ भी अच्छा नहीं लग रहा था। उन दोनों के विपरीत सीता शांत थीं ... सहज थीं। उन्हें यद्यपि ज्ञात नहीं था कि उनके पिता और देवर्षि में वस्तुतः क्या वार्ता हुई थी ... उन्होंने जानने का प्रयास ही नहीं किया था ... उनके शील और संकोच ने प्रयास करने की इच्छा ही प्रकट नहीं की थी, तथापि उन्हें अपने सौभाग्य पर भरोसा था।

दूसरे दिन, धनुष सभाकक्ष में लाया गया। महारानी और सीता भी आ गयी थीं। रावण ने कुछ पल सीता को देखा, फिर अपनी आँखें मूँद लीं ... जैसे सीता की उस छवि को अपने अंतःकरण में स्थापित कर रहा हो। फिर उसने आँखें खोलीं और सीता की ओर देखे बिना ही धनुष की ओर घूमा। अपने पदत्राण वहीं उतारे, अपना किरीट उतार कर सिंहासन पर रख दिया और धनुष की ओर बढ़ गया। धनुष के पास पहुँच कर उसने दोनों हाथ जोड़े आँखें बंद कीं और कुछ देर सस्वर शिव-ताण्डव स्तोत्रम् का पाठ करता रहा। उसके स्वर से वहाँ उपस्थित सभी सम्मोहित हो उठे। उतनी देर के लिए सीरध्वज और महारानी सुनयना भी अपनी व्यग्रता को

भूलकर, उस स्तोत्र के साथ शिव की जटाओं में किलोल करती भागीरथी में मज्जन करने लगे।

फिर रावण ने धनुष के सम्मुख अपना मत्था टेक दिया और कुछ बुदबुदाता रहा। फिर उठा, मुड़ा ... वापस आकर अपना किरीट धारण किया, पदत्राण धारण किये और प्रस्थान की अनुमति माँगने की मुद्रा में सीरध्वज के सम्मुख हाथ जोड़ दिए।

उसने धनुष को उठाने का प्रयास करना तो दूर, उसे स्पर्श भी नहीं किया था।

फिर वह उसी मुद्रा में महारानी की ओर घूमा। महाराज और महारानी दोनों ही अवाक् ... सम्मोहित सी अवस्था में खड़े थे।

फिर रावण की दृष्टि सीता की ओर घूमी ... और कुछ पल वहीं ठिठक कर रह गयी। सीता ने उस ठिठकी हुई दृष्टि से स्वयं को रंचमात्र भी विचलित अनुभव नहीं किया। उन्हें वह दृष्टि वैसी ही लग रही थी जैसी पिता की लगती थी। वे सहजभाव से मंद-मंद मुस्कुराती हुई उसे देख रही थीं।

अचानक रावण मुड़ा और सबको हतप्रभ छोड़ कर वहाँ से निकल गया। दूर, बाहर मैदान में खड़े पुष्पक तक पहुँचने तक उसने मुड़कर नहीं देखा। पुष्पक में बैठने और उसे आकाश में उठा लेने के बाद भी नहीं। उसके लिए यह कोई रहस्य नहीं था कि सीता वस्तुतः उसकी और वेदवती की ही पुत्री है। सीता के परित्याग के उपरांत यह प्रथम अवसर था जब उसे अपनी पुत्री को देखने का सुअवसर प्राप्त हुआ था। भावनाओं का ज्वार उसे सत्य को उद्घाटित कर देने के लिए और अपनी पुत्री को गले से लगा लेने के लिए प्रेरित कर रहा था किन्तु उसे अपनी भावनाओं को नियंत्रित रखना आता था।

इधर सीरध्वज और सुनयना विस्मित थे ... नारद का कथन सत्य हुआ था। ... सीता को समझ ही नहीं आ रहा था कि उन्हें कैसा अनुभव हो रहा था। बस ऐसा पहले कभी अनुभव नहीं हुआ था।

3- विष्णु से भेंट

दूसरे दिन प्रातः स्नान-पूजन आदि से निवृत्त होकर यात्रा पुनः आरम्भ हो गयी। कहने की आवश्यकता नहीं कि आज दोनों कुमारों के अभ्यास में बला-अतिबला का अभ्यास भी सम्मिलित था।

‘गुरुदेव, सुन्दरवन यहाँ से कितने दिवस की दूरी पर है?’ प्रस्थान के पूर्व लक्ष्मण ने प्रश्न किया।

‘सामान्यतः इसमें तीन से चार दिवस लगने चाहिए। किंतु हमें अधिक समय लगेगा।’

‘किस कारण गुरुदेव?’

‘मार्ग में एक अतिविशिष्ट व्यक्तित्व तुम दोनों से भेंट करने की अभिलाषा रखता है। उस व्यक्तित्व से तुम्हें प्रशिक्षण भी प्राप्त होगा और मार्गदर्शन भी।’ कहकर गुरुदेव ने यात्रा में पहली बार पीछे मुड़कर देखा, मुस्कुराये ... फिर आगे जोड़ा- ‘... और कुछ अतिविशिष्ट आयुध और शक्तियाँ भी!’

गुरुदेव पुनः उसी गति से, अपना अनुसरण कर रहे दोनों कुमारों से निर्लिप्त से चलने लगे। उनकी इस निर्लिप्तता ने जैसे लक्ष्मण के आगे के प्रश्नों का मार्ग अवरुद्ध कर दिया। विवश लक्ष्मण ने राम के सम्मुख अपनी जिज्ञासा प्रस्तुत की-

‘भ्राता!’

‘हूँ?’

‘कौन हो सकता है यह अतिविशिष्ट व्यक्तित्व?’

‘क्या पता? जो भी होगा सामने आयेगा।’

‘आपको जिज्ञासा नहीं होती?’

‘होती है, किंतु मैं जिज्ञासा के शमन हेतु उतावला नहीं होता। उनका उत्तर देने के लिए समय को समय देता हूँ।’

यह मार्ग भी बन्द हो गया। लक्ष्मण ने अपनी जिज्ञासाओं को, मार्ग और मार्ग को घेरे वनों की ओर मोड़ दिया।

यह पूरा का पूरा दिन यूँ ही चलते-चलते व्यतीत हुआ। पूरा दिन विश्वामित्र ने कहीं रुक कर विश्राम करने का प्रयास नहीं किया। गुरुकुल के कठिन अभ्यास के बावजूद दोनों कुमारों के शरीरों पर थकान अपना प्रभाव दिखाने लगी थी। राम अब भी निर्विकार भाव से गुरुदेव का अनुसरण कर रहे थे किंतु लक्ष्मण अनमने से उनके पीछे बस चले जा रहे थे। शायद इसी कारण उनके प्रश्न भी शांत थे। संध्या होते-होते

ये लोग गंगा और सरयू के संगम तक जा पहुँचे। संगम स्थल के पास ही एक आश्रम दिखाई पड़ रहा था।

आश्रम देख कर लक्ष्मण कुछ सचेत हुए।

‘गुरुदेव यह सामने कौन सा आश्रम है?’ उन्होंने प्रश्न किया।

‘किसी समय यहाँ प्रभु शिव ने तपस्या की थी। जिस समय उन्होंने कन्दर्प (कामदेव) को भस्म किया था, तब यही उनका आश्रम हुआ करता था। उन्हीं के नाम से इसे स्थाणु-आश्रम कहते हैं। (स्थाणु शिव का एक नाम है।)’

‘प्रभु शिव तो अब कैलाश में रहते हैं, तो अब यहाँ कौन रहता है?’

‘अब उनके भक्त मुनिगणों ने इस आश्रम को गुंजार कर रखा है। आओ प्रथम भागीरथी और सरयू के इस पुनीत संगम में स्नान कर शरीर की विश्रान्ति को शांत करें तब पवित्र होकर इस पुण्य आश्रम में आज हम लोग रात्रि विश्राम करेंगे।’

ये लोग संगम में स्नान करने के लिए बढ़े। इसी बीच आश्रम में निवास करने वाले दिव्यात्मा मुनिगणों को अपनी दिव्यदृष्टि से इनके आगमन का आभास हो गया था। वे सब प्रेमभाव से इन्हें लिवाने आ गये।

आश्रम में भोजनादि के मध्य ही गुरु विश्वामित्र ने दोनों कुमारों का सभी मुनिगणों से परिचय करवाया। फिर जैसे ही सब लोग भोजन से निवृत्त हुए, विश्वामित्र ने उन्हें निर्देश दिया-

‘तुम दोनों अब अर्द्धरात्रि तक बला-अतिबला विद्याओं का अभ्यास करो।’ फिर वे आश्रम के मुनिगणों की ओर उन्मुख हुए- ‘मुनिवर कोई एकान्त कुटीर इन्हें प्रदान कर दें। ध्यान रखें रात्रि में कोई इन्हें व्यवधान न दे। यह अत्यंत आवश्यक है।’

आश्रम के वयोवृद्ध कुलपति ने एक युवा मुनि को संकेत से कुछ समझाया और उसके दिशा-निर्देशन में दोनों कुमार सबको प्रणाम कर चल दिये। उनके कुटीर से निकलते ही विश्वामित्र भी उठ खड़े हुए और ‘अभी आता हूँ कहकर तीनों के साथ हो लिए।

निर्धारित कुटीर में पहुँचकर विश्वामित्र ने उस युवा मुनि को विदा कर दिया। जब वह चला गया तब मंद स्मित के साथ वे बोले -

‘लाओ, लक्ष्मण की जिज्ञासा शांत कर दूँ!’

विश्वामित्र का वाक्य सुनकर दोनों कुमार कुछ असमंजस में उनकी ओर देखने लगे। परंतु उनके असमंजस से अप्रभावित गुरुदेव मुस्कुराते हुए आगे बोले-

‘मैंने मार्ग में एक अतिविशिष्ट व्यक्तित्व का उल्लेख किया था, आज रात्रि ही वह तुमसे सम्पर्क करेगा।’

कुमारों का कौतूहल और बढ़ गया किंतु गुरुदेव ने उस कौतूहल को शांत करने के स्थान पर निर्देश दिया-

‘उनके प्रत्येक इंगित का पूरा सम्मान करना। जितने समय वे तुम्हारे सम्पर्क में रहेंगे, वह तुम्हारे जीवन का सर्वाधिक महत्वपूर्ण समय होगा।’ गुरुदेव कुछ पल रुके, फिर आगे बोले-

‘राम तुम्हें स्मरण होगा, गुरु वशिष्ठ ने मेरे अयोध्या आगमन से पूर्व तुम्हें एक अत्यंत विशिष्ट संकेत दिया था।’

‘दशानन के संबंध में?’ रावण अब तक दशानन के रूप में विख्यात हो चुका था।

‘और भी कुछ था।’

राम एकदम चौंक पड़े। उनके मस्तिष्क में झनाके के साथ गुरु वशिष्ठ का वह वाक्य गूँज गया, जिसने उन्हें तब भी अत्यंत चौंका दिया था जब गुरुदेव ने वह कहा था- ‘याद रखो, तुम्हें सम्पूर्ण भरतभूमि पर सप्तम विष्णु के रूप में प्रतिष्ठित होना है।’ (देखें-दशानन)

राम के मुख पर व्याप्त भावों से विश्वामित्र ने भाँप लिया कि उन्हें याद आ गया है।

‘स्मरण हुआ?’

‘जी गुरुदेव!’

‘यह भेंट तुम्हारी उसी प्रतिष्ठा की भूमिका लिखेगी।’

राम चमत्कृत से खड़े थे, उनके मुख से कोई उत्तर नहीं निकला, किंतु लक्ष्मण का कौतूहल उनके धैर्य की सीमा तोड़ रहा था। जब उनसे नहीं रहा गया, तो उन्होंने पूछ ही लिया-

‘किंतु वह हैं कौन गुरुदेव?’ लक्ष्मण का स्वर ही नहीं, उनका प्रत्येक अंग उनकी भयंकर उत्सुकता को प्रकट कर रहा था।

‘स्वयं श्रीविष्णु।’ विश्वामित्र शांत स्वर में बोले। फिर इससे पूर्व कि लक्ष्मण कुछ और पूछते, उन्होंने आगे जोड़ा- ‘राम, इसे भी बता देना, अन्यथा यह उत्पात मचा देगा। ... और ध्यान रखना, यह भेंट सभी से गोपन ही रखनी है ... मुझसे भी।’

दोनों कुमारों को स्तब्ध खड़ा छोड़कर विश्वामित्र चले गए।

* * *

विश्वामित्र के जाने के उपरांत राम ने लक्ष्मण को सब कुछ बता दिया। वे दोनों इतने महत्वपूर्ण अभियान का नेतृत्व करने वाले थे, यह जानकर लक्ष्मण रोमांचित हो उठे। ऐसा रोमांच जो उन्होंने इससे पूर्व कभी अनुभव नहीं किया था। उनका उत्साह, उनका उल्लास उनसे नियंत्रित नहीं हो रहा था। बड़ी कठिनाई से राम उन्हें बला-अतिबला के अभ्यास के लिये प्रेरित कर पाए।

दोनों ने समाधि में प्रवेश किया।

वे समाधि में ही थे जब उन्होंने स्वर सुना-

‘नेत्र खोलो वत्स!’

यह लगभग अर्द्धरात्रि का समय था जब विष्णु का आगमन हुआ।

उन्होंने नेत्र खोले तो सामने खड़ी विभूति को देख कर चित्रलिखित से रह गए। किसी के भी मुख पर ऐसा अद्भुत तेज उन्होंने पहले कभी नहीं देखा था। स्वयं गुरु वशिष्ठ अथवा गुरु विश्वामित्र के भी नहीं। इसके समान क्या, इसका अंशमात्र भी नहीं देखा था। दोनों भाई जैसे सम्मोहित थे, मात्र वही अनुभव कर रहे थे, जो विष्णु उन्हें करवाना चाह रहे थे।

फिर तीन रात, तीन दिन तीनों में से कोई भी उस कुटीर के बाहर नहीं निकला। स्नान, भोजन अथवा नित्य-क्रियाओं के लिए भी नहीं। विष्णु तो अब तक स्वयं को सृष्टि के विलक्षणतम व्यक्तित्व के रूप में स्थापित कर ही चुके थे, राम और लक्ष्मण भी बला-अतिबला के थोड़े से ही अभ्यास से इतने समर्थ हो चुके थे कि इस निरंतर साधना ने उनके शरीरों को क्लान्त नहीं किया था। हाँ, इसमें विष्णु की उपस्थिति का भी निश्चित योगदान था। पूरे तीन दिन बाद, जब वे कुटीर से बाहर निकले, तब भी वे ऊर्जा और उत्साह से भरपूर थे। विष्णु बाहर ही नहीं निकले। कुमारों के देखते-देखते ही उनका शरीर सूक्ष्म प्रकाश-कणों में विखण्डित होकर क्रमशः धुँधलाता हुआ विलुप्त हो गया। जाते-जाते विष्णु भी उन्हें निर्दिष्ट कर गए कि वे दोनों उनके इस आगमन की चर्चा किसी से न करें।

कुमार जब उस कुटीर से बाहर निकले तो दोनों ही अनुभव कर रहे थे कि अब वे वह नहीं रहे हैं, जो वे थे। अब तक जिसे वे शक्ति और सामर्थ्य समझते आए थे, अब उन्हें प्रतीत हो रहा था कि वह तो कुछ भी नहीं थी। उन्हें अनुभव हो रहा था जैसे विष्णु ने अपनी अनुपमेय आत्मशक्ति से, अपनी विलक्षण शक्तियाँ उनकी आत्मा और शरीर में प्रतिरोपित कर दी हों। ऐसी विलक्षण क्षमता सम्भवतः सृष्टि में अन्य किसी के पास भी नहीं थीं। विष्णु के विषय में वर्णन कर पाना उन्हें ऐसा ही प्रतीत हो रहा था जैसे गूँगे ने मिठाई खाई हो और चाह कर भी वह उसके स्वाद का वर्णन न कर पा रहा हो।

इतना अवश्य है कि राम ने इस प्रशिक्षण-सत्र में लक्ष्मण से कुछ अधिक ही उपलब्धि प्राप्त की थी। दो कारण थे इसके-

पहला तो यही था कि विष्णु ने स्वयं ही राम पर अधिक ध्यान केन्द्रित किया था। शायद उनके लिए राम ही मुख्य कर्ता थे, लक्ष्मण तो उनके सहयोगी मात्र होने थे।

दूसरा यह कि राम अपने स्वाभाविक चरित्र के अनुसार पूर्णतः शांत और निर्विकार थे। वे एक प्रकार से रिक्त-घट थे जिसमें विष्णु ने जो भी चाहा, जितना चाहा, जैसे चाहा ... भर दिया था। उनके विपरीत लक्ष्मण के घट में उनकी चंचलता, उनकी जिज्ञासाएँ, उनकी भावनाएँ पूर्व ही विद्यमान थीं। ये जिज्ञासाएँ अपने स्तर से किसी से कुछ सीखने में तो सहायक और उत्प्रेरक होती हैं किन्तु जब कोई दूसरा ... आपके प्रयास के बिना ... अपनी शक्तियाँ आपमें आरोपित कर रहा हो तब बाधक भी बन जाती हैं। यही लक्ष्मण के साथ हुआ था। यह अलग बात है कि इसे न तो राम ने अनुभव किया था और न ही लक्ष्मण ने।

राम अब विष्णु के अगले अवतार के रूप में प्रतिष्ठित होने के लिए गढ़े जा चुके थे। उन्हें यह प्रतिष्ठा प्रदान करना अब ऋषि-मुनियों और जनमानस का कार्य था, जिसके लिए ताड़का, मारीच और सुबाहु के आसन्न वध के रूप में मंच सज चुका था।

दोनों कुमार जब कुटीर से बाहर निकले तो एक प्रहर रात्रि व्यतीत हो चुकी थी। अधिकांश आश्रमवासी सो चुके थे। ये दोनों गुरु विश्वामित्र के कुटीर में पहुँचे तो पाया कि गुरुदेव अभी भी जाग रहे हैं।

‘आओ, बैठो।’ गुरुदेव ने स्नेह से कहा।

‘लक्ष्य-प्राप्ति हुई?’ जब दोनों बैठ गए तो विश्वामित्र ने पूछा।

‘जी गुरुदेव!’ राम ने संक्षिप्त उत्तर दिया।

‘प्रातः से तुम्हारा एक और प्रशिक्षण-सत्र चलना है, अतः अब विश्राम-शयन करो। अब वापस उस कुटीर में जाने की आवश्यकता नहीं, यहीं लेट जाओ।’

4- दिव्यास्त्र

प्रातः ही गुरुदेव ने आदेश दिया-

‘नित्य-क्रियाओं से निवृत्त हो लो, तदुपरान्त सन्ध्या उपासना कर प्रशिक्षण हेतु उसी कुटिया में प्रस्तुत हो जाओ।’

‘जी गुरुदेव!’ दोनों कुमारों ने उत्तर दिया और अपने काम में लग गए।

दोनों कुमार नित्यकर्म, स्नान, संध्या-उपासना से निवृत्त हो चुके थे। बला-अतिबला का अभ्यास भी कर चुके थे। दोनों ही आज प्रातः से आश्रमवासियों के व्यवहार से चमत्कृत थे, लक्ष्मण विशेष रूप से। प्रातः से अनेक आश्रमवासियों से भेंट हुई थी, सबसे यथोचित अभिवादन का आदान-प्रदान भी हुआ था। दोनों ही आशा कर रहे थे कि आश्रमवासी उनसे विगत तीन दिवसों के विषय में प्रश्न करेंगे और उन्हें झूठे बहाने बनाकर उन्हें समझाना पड़ेगा, किन्तु ऐसा कुछ भी नहीं हुआ। किसी भी आश्रमवासी ने विगत तीन दिनों के विषय में जानने की कोई जिज्ञासा नहीं दिखाई। ब्रह्मर्षि विश्वामित्र सर्वत्र पूजनीय थे। यदि वे कुछ गोपनीय रखना चाहते थे, तो उस विषय में कोई जिज्ञासा दिखाना उचित नहीं था। यही आश्रम की और आश्रमवासियों की भी, मर्यादा थी। अनेक वरिष्ठ ऋषियों को अपनी दिव्य शक्तियों से विष्णु के आगमन का आभास हो भी गया था किन्तु उन्होंने भी कुछ जानने की उत्सुकता नहीं दिखायी थी, न तो विश्वामित्र से पूछ कर और न ही अपनी दिव्य-आत्मिक शक्तियों का प्रयोग कर। विष्णु उनके आराध्य, उनके इष्ट प्रभु शिव के समकक्ष थे। उनके किसी भी कार्य में हस्तक्षेप करना अमर्यादित आचरण होता। ... ये ऋषिगण समस्त मानवीय दुर्बलताओं से ऊपर उठ चुके निस्पृह संत थे, इनका एकमात्र लक्ष्य योग के माध्यम से परब्रह्म के साथ एकाकार होना था। शेष वह ब्रह्म जीवन को, जीवन की दैनंदिन घटनाओं को जैसा उनके समक्ष प्रस्तुत करता था, उन्हें उसी रूप में सहजभाव से स्वीकार करना इन ऋषियों का स्वभाव बन चुका था।

राम ने आश्रमवासियों के इस अनौत्सुक्य को अपनी सहज वृत्ति से स्वीकार किया किन्तु लक्ष्मण के लिए यह असंभव था। थोड़ा सा एकांत मिलते ही वे राम से फुसफुसाए-

‘कैसे अबूझ जीव हैं ये आश्रमवासी भी!’

‘क्यों, क्या हुआ?’

‘किसी के मन में कोई कौतूहल ही नहीं प्रतीत होता कि हम तीन दिन तक उस कुटिया से बाहर नहीं निकले।’

राम बस मुस्कुरा कर रह गए।

‘यदि अयोध्या में ऐसा हुआ होता तो सभी हमारा जीवन दुष्कर कर देते, प्रश्न पूछ-पूछ कर। नहीं?’

‘हाँ सो तो है। किन्तु वे अयोध्या के सामान्य जन हैं। ये आश्रमवासी हैं, निरंतर तपश्चर्या में तल्लीन ... कुछ तो अन्तर होगा ही इनमें और सामान्य जनों में।’ राम ने वार्ता को विराम दे दिया। वे अब उस कुटीर के निकट पहुँच चुके थे, जहाँ के लिए गुरुदेव ने निर्देशित किया था।

विश्वामित्र वहाँ पहले से ही उपस्थित थे।

‘आसन ग्रहण करो दोनों।’ कुमारों का प्रणाम स्वीकार करने के उपरांत विश्वामित्र ने आसन की ओर संकेत करते हुए कहा।

दोनों बैठ गए।

‘आज मैं तुम्हें अपने संग्रह के दिव्यास्त्र प्रदान करूँगा। मेरे लिए अब उन सब का कोई प्रयोजन नहीं है। मैं तो क्रोध और हिंसा से विरत हो चुका हूँ।’

वे कुछ पल शांत दृष्टि से दोनों को देखते रहे, फिर पूछ बैठे-

‘दिव्यास्त्रों के विषय में जानते तो होगे ही न?’

‘कुछ अधिक नहीं गुरुदेव।’ राम के उत्तर देने से पूर्व ही लक्ष्मण तत्परता से बोले।

‘इतना ही पर्याप्त है। शेष धीरे-धीरे स्वतः ज्ञात हो जाएगा।’ विश्वामित्र ने अपनी उसी सहज स्मित के साथ उत्तर दिया।

‘विगत तीन दिवसों में इतना कुछ ग्रहण किया है कि उसे क्रमबद्ध ढंग से सहेजना भी एक कार्य है।’ राम सस्मित बोले- ‘उसमें दिव्यास्त्रों से संबंधित भी बहुत कुछ है किंतु अभी वह अस्त-व्यस्त है।’

‘हाँ, मैं अनुभव कर रहा हूँ, तुम्हारे पास इस विषय में पर्याप्त ज्ञान होना चाहिए किंतु लक्ष्मण के मन में अभी अनेक जिज्ञासायें जन्म लेंगी ... और उनका शमन होना आवश्यक है।’ विश्वामित्र कुछ पल जैसे कुछ सोचते रहे, फिर बोले- ‘अच्छा, अब एक प्रहर के लिए समाधि में जाने का प्रयास करो।’

‘जी!’ राम ने उत्तर दिया और आँखें मूँद लीं। किंतु लक्ष्मण बोले-

‘उससे पूर्व एक शंका है गुरुदेव!’

‘पूछो?’

‘समस्त आध्यात्मिक कृत्य, शिक्षण-प्रशिक्षण कार्य अथवा अन्य शुभ कार्य, स्नान-पूजन कर, स्वच्छ एवं पवित्र होकर आरम्भ किए जाते हैं।’ आपने भी देखिए हमें दिव्यास्त्र प्रदान करने से पूर्व स्नान और संध्या-उपासना से निवृत्त होने का आदेश दिया था।’

विश्वामित्र सस्मित लक्ष्मण की बात सुनते रहे। बोले कुछ नहीं।

‘किंतु श्रीविष्णु अर्द्धरात्रि में प्रकट हुए थे और सीधे प्रशिक्षण कार्य में संलग्न हो गए थे।’

अब विश्वामित्र जोर से हँसे, फिर जैसे लक्ष्मण से खिलवाड़ सा करते हुए बोले- ‘यह प्रश्न स्वयं श्रीविष्णु से ही क्यों नहीं पूछ लिया? वही सबसे उपयुक्त उत्तर दे सकते थे।’

‘उन्होंने कोई अवसर ही कहाँ दिया- कुछ सोचने का अथवा कुछ भी पूछने का।’ लक्ष्मण ने अत्यंत मासूमियत से उत्तर दिया। लक्ष्मण का उत्तर देने का ढंग सुनकर अनायास समाधि में प्रवृत्त होने का प्रयास कर रहे राम भी मुस्कुरा उठे। विश्वामित्र तो खुल कर हँस पड़े। हँसी शान्त होने पर ब्रह्मर्षि बोले-

‘विष्णु प्रकृति की अन्यतम कृति हैं। वे इस सब से बहुत ऊपर उठ चुके हैं। वे आत्मिक पवित्रता के उस स्तर को स्पर्श कर चुके हैं जहाँ ये समस्त बातें गौण हो जाती हैं। क्या तुमने स्वयं ही उन्हें सबसे अद्भुत अनुभव नहीं किया?’

‘किया। सत्य ही अनुपमेय हैं वे। वे हमें सिखा नहीं रहे थे, वे तो जैसे अपना ज्ञान, अपनी ऊर्जा हमारे अंदर रोपित कर रहे थे। बिना किसी प्रयास के ही हम सब जानते चले जा रहे थे।’

‘हाँ, ऐसे ही हैं वे।’ विश्वामित्र बोले। फिर अचानक पूछ बैठे-

‘अच्छा बताओ, उनकी आयु क्या अनुमान करते हो तुम?’

‘यही कोई पैतीस-चालीस वर्ष।’

‘उनकी आयु साढ़े तीन सौ वर्ष से अधिक ही है। ये उनकी अपूर्व आध्यात्मिक क्षमताएँ ही हैं, जो उनकी आयु उनके शरीर पर प्रभाव नहीं डाल पाती। वे आज भी उतने ही युवा प्रतीत होते हैं, जितने आज से सवा तीन सौ वर्ष पूर्व प्रतीत होते थे।’

लक्ष्मण विस्मित ... अवाक् ... मुँह बाये गुरुदेव को देखते रह गए। विश्वामित्र कुछ पल उनके विस्मय का आनंद लेते रहे, फिर व्यवधान देते हुए बोले-

‘अच्छा, क्या उन्होंने तुमसे अपनी भेंट की चर्चा को निषेध नहीं किया था?’

प्रश्न सुनते ही लक्ष्मण ने एकाएक अपनी जीभ दाँतों से दबाकर ऐसी प्रतिक्रिया दी मानों भूल का भान हुआ हो, पर अगले ही क्षण स्वयं पर नियन्त्रण करते हुए सफाई दी-

‘किया था किन्तु निषेध उनके लिए प्रयोजनीय है जिन्हें इस विषय में ज्ञात नहीं है। आप तो इस भेंट के सूत्रधार हैं। इस भेंट से उपजी प्रहेलिकाओं (पहेलियों) की गुथियाँ तो आप ही सुलझायेंगे।’

विश्वामित्र मुस्कुराये। वे इस विषय में कुछ कहना चाहते थे किंतु कहा नहीं। प्रकरण समाप्त करते हुए बोले-

‘अच्छा, अब कोई प्रश्न नहीं। अब समाधि में प्रवृत्त हो जाओ।’

कहने के साथ ही उन्होंने स्वयं भी आँखें मूँद लीं और ‘ॐ’ का सुदीर्घ उच्चारण आरंभ कर दिया।

दोनों कुमार समाधि की अवस्था में ही थे, जब उन्होंने ब्रह्मर्षि का स्वर सुना-

‘तत्पर हो जाओ अब दिव्यास्त्रों का ज्ञान प्राप्त करने हेतु।’

‘तत्पर हैं।’ दोनों ने समवेत उत्तर दिया।

विश्वामित्र ने अपना एक हाथ सामने फैलाया और कुछ मंत्र बुदबुदाते हुए आवाहन किया। अगले ही क्षण उनके हाथों पर एक धुँधली सी आकृति प्रकट हुई ... जो धीरे-धीरे स्पष्ट होती गयी। कुछ ही पलों में आकृति पूर्णतः स्पष्ट हो गयी। यह किसी धातु का बना एक दंडनुमा अस्त्र था जिसके अग्रभाग पर एक चक्र जुड़ा हुआ था।

समाधि में भी लक्ष्मण विस्मित थे। तीनों के शरीर जड़वत अपने-अपने स्थान पर बैठे हुए थे, आँखें बन्द थीं किन्तु उनके सूक्ष्म शरीर गतिमान थे। तीनों प्रज्ञा चक्षुओं से सब कुछ देख रहे थे, सुन रहे थे और क्रिया-प्रतिक्रिया कर रहे थे।

‘यह दंडचक्र है। यह ...’ गुरुदेव ने कहना आरम्भ किया किन्तु अपनी जिज्ञासा के वशीभूत लक्ष्मण बीच में ही बोल पड़े-

‘गुरुदेव, अभी तो आपकी हथेली रिक्त थी। शून्य में से यह दण्डचक्र कहाँ से प्रकट हो गया?’

चलो प्रथम इसे ही समझ लेते हैं।’ दण्डचक्र को पास में ही पड़े एक अन्य आसन पर रखते हुए गुरुदेव बोले-

‘इसे समझने के लिए सर्वप्रथम यह समझना होगा कि पदार्थ क्या है? उसकी संरचना क्या है?’ लक्ष्मण सम्पूर्ण उत्सुकता से और राम निर्विकार भाव से सुनने में तल्लीन थे।

‘तुम जानते हो हमारा शरीर पंच-महाभूतों से निर्मित है।’

‘जी ! भूमि, जल, अग्नि, वायु और आकाश।’ लक्ष्मण ने उत्तर दिया, राम मौन ही रहे।

‘जैसे हमारा शरीर पंचमहाभूतों से निर्मित है वैसे ही सृष्टि का प्रत्येक पदार्थ भी इन्हीं पंचमहाभूतों से निर्मित है।’

‘जी!’

‘विष्णु तुम्हारे सम्मुख किस प्रकार प्रकट हुए थे?’

‘हमें नहीं ज्ञात। हम तो उस समय समाधि में थे। जब उन्होंने हमें पुकारा तब हमें उनकी उपस्थिति का ज्ञान हुआ।’ जिज्ञासा के वशीभूत लक्ष्मण ने ध्यान नहीं दिया कि

अभी तो गुरुदेव ने विष्णु से भेंट का उल्लेख निषेध किया था और अब स्वयं ही उसका उल्लेख कर रहे थे।

‘अच्छा, वे गए किस भांति थे; द्वार से निकलकर?’

‘नहीं! वे तो हमारे नेत्रों के सम्मुख बैठे-बैठे, शनैः-शनैः धुँधलाते हुए अलोप हो गए।’

‘तुमने इसके विषय में चिन्तन नहीं किया?’

‘किया, किन्तु कुछ समझ नहीं आया। यह रहस्य भी पूछना था आपसे।’

‘मैंने बताया अभी कि सृष्टि की प्रत्येक वस्तु पंच-महाभूतों से निर्मित है। ये पंच-महाभूत ऊर्जा के आदि स्रोत हैं। वस्तुतः ये रंगहीन, गंधहीन, आकारहीन अतिसूक्ष्म कणों का संयोजन हैं। यही पंचमहाभूत या तत्व जब विभिन्न मात्राओं में, विभिन्न रासायनिक या भौतिक अभिक्रियाओं द्वारा परस्पर संगठित होते हैं तब विभिन्न जड़ अथवा चेतन वस्तुओं का निर्माण करते हैं।

‘तुमने देखा ही होगा कि जल को ताप देने से वह वाष्पकणों में परिवर्तित हो जाता है। यही वाष्प किसी शीतल सतह को स्पर्श कर पुनः जल-बिन्दुओं में परिवर्तित हो जाती है। जल एक निश्चित ताप के उपरांत शीतलता प्राप्त करने पर हिम में परिवर्तित हो जाता है। ये किसी एक ही तत्व से बनी संरचना के उदाहरण हैं।

‘किसी भी वस्तु को जलाने के उपरांत अंततः राख ही शेष बचती है। शेष तत्व धूम्र में परिवर्तित हो आकाश में विलीन हो जाता है। यह दो तत्वों- भूमि और आकाश से बनी संरचना का उदाहरण है। आकाश तत्व आकाश में विलीन हो जाता है और भूमि तत्व शेष बच रहता है।

‘आटे को जल की सहायता से माड़कर तदुपरांत सेंककर उससे रोटी बन जाती है। यह भूमि, जल और अग्नि तीन तत्वों की अभिक्रिया का उदाहरण है।

‘विभिन्न धातुओं पर विभिन्न रसायनों के द्वारा रासायनिक अभिक्रिया के द्वारा एक नई ही धातु हम प्राप्त करते हैं इसका भी तुम्हें ज्ञान होगा ही।’ विश्वामित्र ने कुछ पल रुककर दोनों कुमारों को देखा। दोनों अपनी समस्त चेतना से उनकी बातों को आत्मसात कर रहे थे। वे पुनः बोले-

‘इन समस्त अभिक्रियाओं में हम हर बार किसी न किसी नये पदार्थ को जन्म देते हैं। किंतु जल, वाष्प और हिम के उदाहरण के अतिरिक्त किसी अन्य अभिक्रिया में मूल पदार्थ को पुनः नहीं प्राप्त कर पाते। यह तो सामान्य मनुष्यों की स्थिति है। महान योगी अपनी आत्मिक शक्ति से बिना किसी अन्य भौतिक तत्व की सहायता लिए, किसी भी पदार्थ के विभिन्न तत्वों को विखंडित कर सकते हैं और उन्हें पुनः उसी प्रकार संयोजित कर, पुनः मूल पदार्थ को प्राप्त भी कर सकते हैं।’

‘मानव को भी विखण्डित कर सकते हैं इस प्रकार?’ लक्ष्मण ने ही प्रश्न किया।

‘हाँ, मानव को भी। किन्तु किसी भी चेतन वस्तु के साथ साधारणतया ऐसा करते नहीं हैं, जब तक कि अन्य समस्त विकल्प समाप्त न हो गए हों।’

‘अन्य विकल्पों से तात्पर्य गुरुदेव?’

‘तुम्हें क्या प्रतीत होता है कि विष्णु स्वयं यहाँ उपस्थित हुए थे?’ गुरुदेव ने लक्ष्मण की आँखों में झाँकते हुए प्रतिप्रश्न किया- ‘और जाते समय उन्होंने इसी प्रकार अपने शरीर को कणों में विखण्डित कर स्वयं को अलोप कर दिया?’

‘हाँ, वे यहीं तीन दिवस, तीन रात्रि निरन्तर उपस्थित रहे थे हमारे सम्मुख।’

‘नहीं, वे स्वयं विष्णु नहीं थे।’ गुरुदेव हँसे। दोनों कुमार आश्चर्यचकित उनका मुख ताक रहे थे। किन्तु इस बार लक्ष्मण ने कोई प्रश्न नहीं किया बस उत्सुकता से गुरुदेव के आगे बोलने की प्रतीक्षा करते रहे। गुरुदेव आगे बोले-

‘वह विष्णु की प्रतिच्छाया मात्र थी। यही दूसरा विकल्प है। योगी अपनी त्रिआयामी छवि प्रक्षिप्त कर सकते हैं, किसी भी स्थान पर। वे स्वयं वहाँ से बहुत दूर स्थित होते हैं। ऐसे ही जिससे तुम्हारी भेंट हुई वह विष्णु की त्रिआयामी छवि मात्र थी। स्वयं विष्णु तो पता नहीं कहाँ विराजमान रहे होंगे उस समय।’

‘ओह!’ दोनों कुमारों ने दीर्घ निःश्वास ली।

‘किन्तु गुरुदेव, यह अस्त्र तो वस्तुतः उपस्थित है अथवा यह भी छाया मात्र है?’ लक्ष्मण ने प्रश्न किया।

‘यह वास्तविक है।’ गुरुदेव मुस्कुराये- ‘चेतन वस्तुओं में प्राणों का पुनः प्रतिरोपण जटिल हो सकता है अतः उनके साथ सावधानी बरती जाती है। अचेतन वस्तुओं के साथ ऐसी कोई समस्या नहीं होती।’

‘आपने तो शून्य में से इस अस्त्र को उपस्थित कर दिया, आप महान योगी हैं, किन्तु हम ऐसा कैसे कर सकेंगे? हम तो आपके समान योगी नहीं हैं।’ लक्ष्मण ने पुनः अपनी शंका रखी।

‘इसीलिए तो इस प्रशिक्षण-सत्र का आयोजन किया गया है।’ गुरुदेव ने हँसते हुए कहा।

लक्ष्मण ने संतोष की साँस ली।

‘नादब्रह्म का नाम सुना है कभी?’ गुरुदेव ने पूछा।

‘जी!’ दोनों ने समवेत स्वर में उत्तर दिया।

‘किन्तु यह विषय आगे। अभी पदार्थ की संरचना पर विचार कर रहे हैं। प्रथमतः उसे भलीभाँति समझते हैं।’ गुरुदेव ने मूल विषय पर ही टिकने को वरीयता देते हुए कहा-

‘समस्त पदार्थ पंच-महाभूतों से निर्मित हैं, यह तुम्हें ज्ञात है। पृथ्वी, जल, अग्नि, आकाश और वायु ये समस्त तत्व स्वयं में अति सूक्ष्म अणुओं का संगठन हैं। ये अणु हमारी देखने की क्षमता से भी कई गुना सूक्ष्म होते हैं।’

‘तब हमें इनके विषय में ज्ञान कैसे हुआ गुरुदेव?’

‘व्यवधान न दो वत्स! सुनो, मनन करो ... तुम्हारे समस्त प्रश्नों के उत्तर स्वयमेव प्राप्त हो जायेंगे।’

‘क्षमा गुरुदेव!’

‘योगी, योगसमाधि में जब चिन्तन में निमग्न होता है, तब उसकी भौतिक इन्द्रियाँ शिथिल हो जाती हैं। उस समय उसकी आत्मा ही इन्द्रिय बन जाती है। ... और तब योगी की क्षमतायें सामान्य व्यक्ति की क्षमताओं से लाखों गुना बढ़ जाती हैं। वह अपनी आत्मा के नेत्रों से सूक्ष्म से सूक्ष्म तत्व का आभास प्राप्त कर लेता है। ... किन्तु आत्मा की क्षमतायें भी सीमाहीन नहीं हैं, उनकी भी अपनी सीमा होती है। किन्तु वह विषय भी फिर कभी यदि अवसर मिला तो, ... अभी तो पदार्थ की बात कर रहे हैं।’

‘उपरोक्त पंच-महाभूतों के सूक्ष्मतम अणु भी विभिन्न परमाणुओं और एक ब्रह्म तत्व से मिलकर बनते हैं। परन्तु प्रत्येक अणु में उपस्थित विभिन्न तत्वों के परमाणुओं की संख्या भिन्न होती है। जिस तत्व के परमाणुओं की संख्या अधिक होती है, अणु उसी तत्व की संज्ञा ग्रहण करता है। अर्थात् किसी अणु में यदि भूमि तत्व के परमाणु अधिक हैं तो उसे भूमि तत्व का अणु माना जाता है। यदि जल तत्व के परमाणु अधिक हैं तो उसे जल तत्व का, इसी प्रकार अन्य ... ठीक?’

‘जी!’

‘इन अणुओं के केन्द्र में ब्रह्म-तत्व होता है। यही ब्रह्म-तत्व समस्त सृष्टि का आधारभूत है। यही समस्त जीवन का आदि-स्रोत है। यह ब्रह्म-तत्व अपनी सकारात्मक और नकारात्मक ऊर्जा से आच्छादित होता है। यही ऊर्जा अणु के समस्त रिक्त भाग को भी आप्लावित किए होती है। चेतन पदार्थों में यह ऊर्जा सक्रिय होती है, निरंतर ब्रह्म तत्व का परिक्रमण करती रहती है, इसी ऊर्जा में परमाणु तैरते से रहते हैं। इसके विपरीत जड़ पदार्थों में यह ऊर्जा निष्क्रिय होती है, प्रसुप्त अवस्था में होती है। उपरोक्त पंच-महाभूतों के अतिरिक्त एक तत्व और है जो समस्त चेतना का आधार है। वह है प्राण-तत्व जो समस्त वायुमंडल में व्याप्त है। समस्त जल में घुलित रूप में परिव्याप्त है। श्वसन क्रिया द्वारा यही तत्व हमारे शरीर में प्रवेश कर हमारे समस्त अणुओं में विद्यमान ऊर्जा को आवेशित करता है। इसी आवेशन को ऊर्जा की जाग्रत अवस्था कहते हैं। जैसे ही हमारी श्वसन क्रिया बाधित होती है, हमारे

अणुओं की ऊर्जा का आवेशन रुक जाता है और कहा जाता है कि हमारी मृत्यु हो गयी।

‘एक बात और महत्वपूर्ण कि ब्रह्म-तत्व जब चाहे इस ऊर्जा को जाग्रत कर सकता है।’

‘तो करता क्यों नहीं?’

‘यदि ऐसा कर देगा तो सृष्टि का संतुलन नहीं नष्ट हो जाएगा? ब्रह्म तत्व प्रत्येक अणु में व्याप्त होते हुए भी, निर्लिप्त भाव से मात्र सब कुछ देखा करता है, अपवाद स्वरूप ही कभी हस्तक्षेप करता है।’ विश्वामित्र ने हँसते हुए उत्तर दिया।

‘गुरुदेव!’ अचानक शांत बैठे राम ने प्रश्न किया- ‘आत्मा क्या है? ... और बुद्धि क्या है? क्या ये भी हमारे शरीर के अन्य अवयवों के समान ही कोई पदार्थ है?’

‘ये पदार्थ हैं भी और नहीं भी।’

‘तात्पर्य गुरुदेव?’

‘आत्मा हमारे शरीर में विद्यमान समस्त परमाणुओं में व्याप्त सकारात्मक अथवा धनात्मक ऊर्जा है। बुद्धि भी ऊर्जा ही है किन्तु वह हमारे मस्तिष्क में संचित विशिष्ट परमाणुओं की संयुक्त ऊर्जा है- सकारात्मक और नकारात्मक दोनों। तभी तो आत्मा कभी भी हमें नकारात्मक विचारों की ओर प्रेरित नहीं करती किन्तु बुद्धि दोनों ओर प्रेरित करती है।

‘अब क्योंकि ये दोनों ऊर्जा-स्वरूप हैं तो जब शरीर विज्ञानी शरीर में खोजते हैं तब उन्हें इन दोनों तत्वों के दर्शन नहीं होते, किन्तु दोनों का ही अस्तित्व तो है ही। इसे नकारा तो नहीं जा सकता। इसीलिए ये पदार्थ हैं भी और नहीं भी।’

‘बुद्धि यदि सकारात्मक और नकारात्मक, दोनों प्रकार की ऊर्जा का संयुक्त रूप है तो इनका संतुलन किस प्रकार बनता है? यह किस भाँति निश्चित होता है कि किन परिस्थितियों में बुद्धि सकारात्मक चिंतन करेगी और किनमें नकारात्मक? ... और क्या ऐसी कोई विधि नहीं है जो बुद्धि को सदैव सकारात्मक चिंतन के लिए ही प्रेरित कर सके?’ अब राम मुखर थे और लक्ष्मण सुन रहे थे।

‘यही तो समय का खेल है। यही तो विराट् प्रकृति का खेल है और अंततोगत्वा उस ब्रह्म की, प्रत्येक अणु में विद्यमान उस ब्रह्म तत्व की लीला है। जिस दिन हम इसके रहस्य को समझने में सक्षम हो जायेंगे, हम स्वयं ब्रह्म हो जायेंगे - हम स्वयं अपनी सृष्टि की संरचना करने में समर्थ हो जायेंगे।

‘रही सकारात्मक चिंतन हेतु प्रेरित करने की बात, तो हम अपनी समझ से ऐसा करते तो रहते ही हैं, चाहे उपदेश द्वारा करें अथवा हठ द्वारा अथवा बलप्रयोग द्वारा, परंतु करते रहते हैं। किन्तु यहाँ सबसे महत्वपूर्ण यह सत्य है कि प्रत्येक व्यक्ति अपनी

समझ से प्रायः सकारात्मक ही होता है। उसके पास उसके प्रत्येक कृत्य के लिए कारण उपस्थित होता है, भले ही दूसरे उस कारण को मान्यता न दें ... परंतु उसके स्वयं के पास तो होता है। उसके स्वयं के लिए यही महत्वपूर्ण होता है।

‘बस, इस विषय को यहीं पर छोड़ देते हैं। ऋषिगण पीढ़ियों तक अपनी सम्पूर्ण आयु खपा देते हैं और इस विषय का कोई छोर नहीं खोज पाते। हम भी यदि इसी में उलझ गये तो हमारा वर्तमान कर्तव्य उपेक्षित रह जाएगा।’

‘जैसी आपकी इच्छा गुरुदेव!’ राम ने सहज भाव से गुरुदेव की बात का अनुमोदन कर दिया।

‘तो इस पर आते हैं कि दिव्यास्त्र किस भांति कार्य करते हैं।’ ब्रह्मर्षि ने समझाना आरंभ किया-

‘दो संज्ञायें हैं- शब्द और नाद।’

‘जी!’ दोनों कुमारों ने सहमति प्रकट की।

‘शब्द को हमारी बुद्धि ग्रहण करती है। ग्रहण करने के उपरांत अपने अनुसार उसका अर्थ प्रतिपादित करती है। नाद अथवा ध्वनि, शब्द के विपरीत, सीधे चेतना को स्पर्श करता है। चेतना बुद्धि नहीं होती, अतः वह उस नाद का अर्थ निकालने का प्रयास नहीं करती अपितु सीधे उसका प्रभाव ग्रहण करती है। इस नाद या ध्वनि में असीम शक्ति होती है। किन्हीं दो पदार्थों के परस्पर टकराने से अथवा घर्षण से वायु में तरंगें उत्पन्न होती हैं और ये तरंगें ध्वनि उत्पन्न करती हैं। साथ ही ये तरंगें अपने सम्पर्क में आने वाली प्रत्येक वस्तु पर प्रभाव भी डालती हैं। हमारी कर्ण-तन्त्रिका इनके प्रति अतिरिक्त संवेदनशील होती है, अतः हम शब्द सुनने में समर्थ होते हैं किन्तु प्रभाव प्रत्येक वस्तु ग्रहण करती है।’

‘हमारे कर्ण भी तो एक निश्चित सीमा के तरंग-दैर्घ्य की ध्वनियाँ ही सुन पाते हैं, गुरुदेव।’ लक्ष्मण ने कहा।

‘हाँ, उस सीमा से कम अथवा अधिक तरंग-दैर्घ्य की ध्वनियाँ हम नहीं सुन पाते किंतु अनेक पशु-पक्षी उससे अधिक की ध्वनियाँ भी ग्रहण करते हैं। तुमने देखा होगा कि किसी झंझावात के आगमन के पूर्व ही पशु-पक्षी विचलित होने लगते हैं किंतु हमें कोई अनुमान नहीं होता। हम उन पशु-पक्षियों का व्यवहार देखकर ही अनुमान लगाते हैं।’

‘जी!’

‘इसी भांति ये ध्वनियाँ अचेतन वस्तुओं पर भी प्रभाव डालती हैं।’

‘जी!’

‘हमारे मंत्र इसी ध्वनि-विज्ञान के अनुसार कार्य करते हैं। किसी विशिष्ट आरोह-अवरोह के साथ किसी विशिष्ट शब्द का उच्चारण किसी विशिष्ट पदार्थ पर मनोनुकूल प्रभाव डालने में समर्थ होता है। तुमने अनुभव किया होगा कि किसी भी वनस्पति के सम्मुख यदि मधुर संगीत प्रसारित किया जाए तो उसकी वृद्धि की गति तीव्र हो जाती है, इसके विपरीत यदि कर्कश ध्वनियाँ प्रस्तुत की जाएँ तो यही वृद्धि मंद हो जाती है।’

‘जी !’ दोनों ने सहमति में सिर हिलाए।

‘मंत्र इसी दिशा में गहन शोध का प्रतिफल हैं। प्रत्येक मंत्र की सर्जना किसी निश्चित उद्देश्य की प्राप्ति के लिए की जाती है। प्रत्येक मंत्र के उच्चारण का अपना विधान होता है, उस विधान के विपरीत उच्चारण से वह मंत्र फलदायी नहीं होता। किन्हीं-किन्हीं परिस्थितियों में तो विपरीत फल भी दे सकता है।’

दोनों ने पुनः सहमति में सिर हिलाए। विश्वामित्र बोलते रहे-

‘मैंने विशिष्ट विधान के साथ इस अस्त्र के आवाहन का मंत्र पढ़ा, बस यह अस्त्र उपस्थित हो गया। इसके विसर्जन का मंत्रपाठ करूँगा तो यह विलोपित हो जाएगा।’

‘गुरुदेव! इसके विसर्जन का मंत्र न पढ़कर यदि हम बार-बार आवाहन का ही मंत्रपाठ करें तो ऐसे अनेक अस्त्र प्राप्त कर सकते हैं?’

‘नहीं’, गुरुदेव पुनः हँसे- ‘यह अस्त्र शून्य से अवतरित नहीं हुआ। प्रत्येक दिव्यास्त्र सूक्ष्म अदृश्य अणुओं के रूप में विघटित होकर अपने धारक के आभामंडल में समाहित हो जाता है और उसीके साथ संचरण किया करता है। आवाहन करने पर यही अदृश्य सूक्ष्म अणु, पुनः संगठित होकर अस्त्र के रूप में प्रकट हो जाते हैं। आवाहन मंत्र के द्वारा नये अस्त्र की सर्जना नहीं की जा सकती, मात्र उससे संबन्धित अस्त्र का आवाहन किया जा सकता है। यदि उस अस्त्र का पूर्व ही आवाहन किया जा चुका है और वह सम्मुख प्रकट है, तो आवाहन-निष्प्रभावी हो जाएगा। यह प्रक्रिया दोहराने पर अस्त्र स्वतः ही विसर्जित हो जाएगा और भविष्य में उसका दुबारा आवाहन संभव नहीं होगा। अतः ऐसी चतुरता,’ कहते-कहते अचानक गुरुदेव फिर हँस पड़े और फिर आगे बोले- ‘अथवा स्पष्ट कहा जाए तो धूर्तता, करने का प्रयास कदापि मत करना। दिव्यास्त्रों की अपनी मर्यादा होती है। प्रायः सभी प्रमुख दिव्यास्त्रों का एक बार ही प्रयोग किया जा सकता है, अतः उनका प्रयोग अत्यंत कृपणता से करना होता है। उनका प्रयोग जब तक विवशता ही न उत्पन्न हो जाए, किसी दिव्यास्त्र रहित प्रतिद्वन्द्वी के विरुद्ध कदापि नहीं किया जाता।’

‘विवशता?’ लक्ष्मण ने आश्चर्य से प्रश्न किया।

‘मान लो तुम्हारा प्रतिद्वन्द्वी तुमसे प्रबल सिद्ध हो रहा है और किसी दिव्यास्त्र का प्रयोग न करने की स्थिति में प्राणों का संकट उत्पन्न हो सकता है, तब दिव्यास्त्रों से रहित प्रतिद्वन्द्वी के विरुद्ध भी दिव्यास्त्र का प्रयोग किया जा सकता है।’ विश्वामित्र कुछ पल रुके। संभवतः प्रतीक्षा कर रहे थे कि लक्ष्मण अपना अगला प्रश्न प्रस्तुत करें, पर जब लक्ष्मण भी मौन कुछ सोचते रहे तो स्वयं ही बोले-

‘और कोई प्रश्न?’

‘जी?’ लक्ष्मण जैसे चौंक पड़े। किन्तु उन्होंने हथियार नहीं डाले। अगले ही क्षण चैतन्य होते हुए प्रश्न प्रस्तुत किया-

‘आपने अभी कहा गुरुदेव कि दिव्यास्त्र का एक ही बार प्रयोग किया जा सकता है। किन्तु प्राचीन कथाओं में तो विभिन्न दिव्यास्त्रों के अनेक बार प्रयोग का वर्णन है।’

‘जैसे?’

‘जैसे ... आग्नेयास्त्र, वारुणास्त्र, ऐन्द्रास्त्र आदि-आदि। प्रत्येक कथा में विभिन्न योद्धाओं द्वारा इनके प्रयोग का उल्लेख आता है। ब्रह्मास्त्र का भी कई बार प्रयोग सुनने में आता है।’

‘तुम्हें क्या प्रतीत होता है, पितामह ने मात्र एक ही ब्रह्मास्त्र का निर्माण किया है? वस्तुतः ब्रह्मास्त्र के आविष्कर्ता पितामह हैं। प्रथम ब्रह्मास्त्र का निर्माण उन्होंने किया था किन्तु तदुपरान्त उन्होंने विश्वकर्मा के सहयोग से उसकी कई प्रतिकृतियों का निर्माण कराया। आवश्यकता होने पर भविष्य में और भी कर सकते हैं। प्रत्येक देव ने कई-कई दिव्यास्त्रों का आविष्कार किया है, भविष्य में और भी कर सकते हैं। साथ ही अब तक आविष्कृत इन दिव्यास्त्रों की आवश्यकतानुसार अन्य प्रतिकृतियाँ भी वे बना सकते हैं।’

‘गुरुदेव, जैसे श्रीविष्णु का सुदर्शन चक्र है। उसका तो वे निरंतर, बारम्बार प्रयोग करते हैं?’

‘वस्तुतः विष्णु का सुदर्शन चक्र, शिव का त्रिशूल, इन्द्र का वज्र, यम का कालदण्ड आदि, इन विशिष्ट शक्तियों के विशिष्ट आयुध हैं। ये दिव्यास्त्रों के समान ही शक्तिशाली होते हुए भी दिव्यास्त्र नहीं हैं। वस्तुस्थिति यह है कि यदि देखा जाए तो ये दिव्यास्त्रों से भी विशिष्ट हैं। प्रथम तो इनका यही गुण है कि इन्हें बारम्बार प्रयोग किया जा सकता है। द्वितीयतः ये विनाशक क्षमता में ब्रह्मास्त्र को छोड़कर किसी भी दिव्यास्त्र से अधिक ही हैं। विष्णु का सुदर्शन तो ब्रह्मास्त्र से भी कम नहीं है। इनका भी आवाहन और विसर्जन सम्भव है। किन्तु, पूर्व ही कहा कि ये इन विशिष्ट शक्तियों के विशिष्ट आयुध हैं। इनकी कोई प्रतिकृति नहीं है। ये आयुध इनकी पहचान हैं। त्रिशूल के बिना शिव की और सुदर्शन के बिना विष्णु की कल्पना नहीं की जाती।

‘अधिकांश दिव्यास्त्रों का प्रयोग धनुष द्वारा प्रक्षेपण करके ही होता है। इसके विपरीत आयुधों के लिए ऐसे किसी प्रक्षेपक की आवश्यकता नहीं है। इन्हें हाथ में लेकर भी युद्ध किया जाता है और आवश्यकता पड़ने पर फेंका भी जा सकता है। इनके सबके अपने-अपने विशिष्ट गुण हैं। ये आयुध स्वयं में विस्फोट नहीं करते। इसलिए नष्ट भी नहीं होते। किंतु वही तथ्य कि ये विशिष्ट शक्तियों के विशिष्ट आयुध हैं, जिन्हें वे शक्तियाँ किसी अन्य को प्रदान नहीं करतीं। फिर भी कौमोदिकी गदा जैसे ऐसे ही कुछ दिव्य आयुध हैं जो मैं तुम्हें प्रदान करूँगा।’

‘जी गुरुदेव!’ दोनों कुमारों ने प्रसन्नतापूर्वक उत्तर दिया।

तभी लक्ष्मण ने दूसरा प्रश्न उपस्थित कर दिया-

‘गुरुदेव, ऐसा भी तो हो सकता है कि कभी कोई व्यक्ति देवों पर विजय प्राप्त कर ले ... और तब वह देवों से बलात् अपने लिये दिव्यास्त्रों का निर्माण करवाये?’

‘क्या तुम्हें ऐसा प्रतीत होता है कि देवों पर विजय प्राप्त करना कोई खिलवाड़ है?’ विश्वामित्र ने लक्ष्मण के साथ पुनः खिलवाड़ सा करते हुए प्रश्न किया।

‘नहीं गुरुदेव, मेरा तात्पर्य ऐसा कदापि नहीं है। किन्तु पूर्व में भी तो कई योद्धाओं ने देवों को पराजित किया है। अभी कुछ काल पूर्व ही रावण ने ही देवों को पराजित किया है। भविष्य में अन्य कोई भी कर सकता है।’

‘निस्संदेह देव विगत में पराजित होते रहे हैं और भविष्य में भी यह असंभव नहीं है। किन्तु वत्स! क्या अभी तक किसी ने देवों से बलात् अपने लिए दिव्यास्त्रों का निर्माण करवाने का प्रयास किया है?’

‘अभी तक नहीं किया किन्तु इसका यह अर्थ तो नहीं कि भविष्य में भी नहीं करेगा!’

‘देवों को पराजित करने वाला निस्संदेह बल-पौरुष में देवों से बढ़ा-चढ़ा ही होगा। उसके पास देवों से भी श्रेष्ठ शस्त्रास्त्र होंगे तभी वह देवों को परास्त कर पाएगा। ऐसा निकट भविष्य में तभी संभव है जब तीनों महाशक्तियों में से एक अथवा अधिक उसके पक्ष में हों। ऐसे में तुम ही विचार करो कि जिसके पक्ष में, ब्रह्मा, विष्णु अथवा शिव होंगे उसे देवों से बलात् दिव्यास्त्र प्राप्त करने की क्या आवश्यकता होगी।’

‘किन्तु ...’

‘कोई किन्तु नहीं लक्ष्मण।’ विश्वामित्र ने लक्ष्मण की बात बीच में ही काट दी- ‘सुदूर भविष्य में क्या होगा यह किसी को ज्ञात नहीं। बहुत संभव है, तब तक कोई नवीन ही शक्ति अस्तित्व में आ जाए, जिसके सम्मुख देव भी, इन तीनों महाशक्तियों समेत, गौण होकर रह जायें। हो सकता है, इनका अस्तित्व ही समाप्त हो जाए। अतः जो अभी सम्मुख है उस पर विचार करो। जो कर्तव्य तुम्हारे सम्मुख अभी प्रस्तुत है

उस पर विचार करो। जब इन्हें सम्पूर्ण कर लेना तब सुदूर भविष्य की समस्याओं पर चिंतन करना।’

‘जी गुरुदेव।’ लक्ष्मण के अधरों पर प्रायः ही नर्तन करती रहने वाली स्मित, जो इस गम्भीर वार्तालाप में कहीं दुबक कर सो गयी थी पुनः मुखर हो उठी। अनायास ही राम भी मुस्कुरा उठे।

‘गुरुदेव, दिव्यास्त्रों के आवाहन, विसर्जन और परिचालन की प्रक्रिया पर चर्चा चल रही थी।’ इस बार राम ने पुनः छूटे हुए सूत्र को पकड़ा।

‘हाँ, वायु की तरंगें ध्वनि या नाद उत्पन्न करती हैं। जब हम सामान्य रूप में वर्णों का, शब्दों का उच्चारण करते हैं तब ध्वनि का महत्त्व उसके अर्थ के लिए होता है। उस ध्वनि में छिपी भाषा और तदनुरूप उसके अर्थ को हम ग्रहण करते हैं। मंत्र में इस अर्थ का उतना महत्त्व नहीं होता जितना नाद या ध्वनि का होता है। मैंने अभी वनस्पतियों पर पड़ने वाले, संगीत के सकारात्मक और कर्कश ध्वनि के नकारात्मक प्रभाव का उल्लेख किया था। मंत्र उसी प्रभाव का अत्यंत परिमार्जित-परिष्कृत रूप हैं। मंत्रों का अर्थ मात्र भ्रम उत्पन्न करने के लिए है, महत्वपूर्ण उस मंत्र के उच्चारण द्वारा उत्पन्न ध्वनि-तरंगों का विभिन्न कारकों पर प्रभाव है।

‘दिव्यास्त्रों के साथ चार अभिक्रियाएँ जुड़ी हैं। हम उनका आवाहन करते हैं, हम उनका विसर्जन करते हैं, हम आवश्यकतानुरूप उनका उपयोग करते हैं और हमारे लिए अनुपयोगी होने पर अथवा किसी अन्य के लिए अधिक उपयोगी होने पर, हम उस किसी अन्य को कोई विशेष दिव्यास्त्र प्रदान भी करते हैं ... जैसे अभी मैं तुम्हें प्रदान करने वाला हूँ। प्रत्येक कार्य के लिए पृथक मंत्र का प्रयोग किया जाता है।

‘जब हम विधान-पूर्वक किसी विशेष दिव्यास्त्र के लिए उसके विशिष्ट आवाहन मंत्र का उच्चारण करते हैं, तब उस मंत्र के उच्चारण से उत्पन्न ध्वनि-तरंगे उस विशेष दिव्यास्त्र के सूक्ष्म कणों के साथ अभिक्रिया करती हैं और वह दिव्यास्त्र प्रकट हो जाता है।

‘जब हम विसर्जन मंत्र का उच्चारण करते हैं तब उसकी ध्वनि-तरंगें उस दिव्यास्त्र के साथ अभिक्रिया कर पुनः उसे उन्हीं सूक्ष्मतम कणों में विखंडित कर देती हैं।

‘जब हम प्रक्षेपण मंत्र का उच्चारण करते हैं तो उससे उत्पन्न ध्वनि-तरंगें, उस दिव्यास्त्र की धातु और उसपर लेपित विभिन्न रसायनों के अणुओं को विशेष प्रकार से उत्तेजित कर उन्हें सक्रिय कर देती हैं। फिर जब हम उनका प्रक्षेपण करते हैं तो यही सक्रिय रासायनिक अणु वायुमंडल के साथ घर्षण कर विशाल ऊर्जा संग्रहीत करते हैं और इच्छित लक्ष्य पर वह समस्त ऊर्जा फेंक देते हैं। कभी यह ऊर्जा विस्फोट के रूप में होती है, तो कभी अग्नि के रूप में, तो कभी जल के अथवा वायु

के अथवा किसी भी अन्य रूप में, जैसी भी अपेक्षा की गयी हो, और जैसा उस दिव्यास्त्र का गुण हो, होती है।

‘दिव्यास्त्रों की धातु भी विशेष होती है साथ ही प्रत्येक दिव्यास्त्र में कुछ भिन्न धातु का प्रयोग होता है। यह धातु अभिक्रिया को उच्चतम स्तर तक ले जाती है। इस प्रकार की धातु का ज्ञान अभी तक मात्र देवों को ही है, इसीलिए दिव्यास्त्रों का निर्माण करने में अभी तक वही समर्थ भी हुए हैं।

‘दिव्यास्त्रों का एक और विशेष गुण है।’

दोनों कुमार निर्निमेष दृष्टि से विश्वामित्र की ओर देखते हुए सुनते रहे।

‘दिव्यास्त्रों को इच्छित लक्ष्य के भेदन की भावना दी जा सकती है। जिस लक्ष्य के भेदन की भावना देकर ... और उसे लक्ष्य कर, इन्हें प्रक्षिप्त किया जाता है, ये उसे पहचान कर, उसके स्थान परिवर्तन करने पर उसी के अनुरूप अपनी दिशा परिवर्तित कर सकते हैं।’

‘गुरुदेव हम लक्ष्य किसी और वस्तु का करें और भावना किसी अन्य वस्तु की दें तब? क्या तब भी ये भावना दी गयी वस्तु को खोजकर उसे नष्ट कर देंगे?’ लक्ष्मण ने प्रश्न किया।

‘नहीं, बिना कोई भावना दिए मात्र किसी विशेष व्यक्ति अथवा वस्तु को लक्ष्य कर प्रक्षिप्त किया गया अस्त्र तो फिर भी किसी सीमा तक अपने लक्ष्य को पहचानने में सक्षम होता है, किन्तु जो तुम कहना चाह रहे हो वैसा कृत्य तो अस्त्र को भ्रमित कर देगा। तब वह मात्र उस दिशा का अनुसरण करेगा जिसमें उसे प्रक्षिप्त किया गया होगा। वह लक्ष्य विशेष का शोधन नहीं कर पाएगा।’

अचानक, एकाएक विश्वामित्र चर्चा को विराम देते हुए बोले-

‘अब यह चर्चा पर्याप्त हो चुकी। हमारे पास अधिक समय नहीं है। अब प्रस्तुत हो जाओ दिव्यास्त्रों को ग्रहण करने के लिए और उनकी आवाहन, विसर्जन और प्रक्षेपण विधि समझने के लिए।’

‘प्रस्तुत हैं गुरुदेव!’ राम ने कहा।

‘मात्र एक प्रश्न!’ लक्ष्मण ने कहा।

‘पूछो!’ गुरुदेव ने मुस्कुराते हुए सहमति दी।

‘अभी जब यह दण्ड-चक्र आपके हाथ में प्रकट हुआ, तब तो आपने किसी आवाहन मंत्र का उच्चारण किया ही नहीं था। तब यह कैसे प्रकट हो गया?’

‘किसने कहा नहीं किया था? मैंने उच्चारण मंत्र पढ़ा था, परंतु मेरा स्वर इतना मंद था कि तुम सुन नहीं सके।’

‘क्या इतने मंद स्वर से भी इच्छित ध्वनि-तरंगें उत्पन्न होकर अभिक्रिया करने में समर्थ होती हैं?’

‘हाँ, हल्की से हल्की फुसफुसाहट भी ध्वनि-तरंगें उत्पन्न करती है। अधिकांश दिव्यास्त्रों के लिए आवश्यक ध्वनि-तरंगें तो ऐसे ही मंद स्वर में मंत्र के उच्चारण से ही उत्पन्न होती हैं। उनके लिए तीव्र स्वर में मंत्रोच्चार आवश्यक नहीं होता। कई दिव्यास्त्र तो मात्र मंत्रों के मानसिक उच्चारण से ही परिचालित होते हैं। उनके लिए मानसिक तरंगें ही पर्याप्त होती हैं।’ गुरुदेव ने लक्ष्मण की शंका का समाधान प्रस्तुत किया।

और फिर दंडचक्र, धर्मचक्र, कालचक्र, विष्णुचक्र, ऐन्द्रचक्र, **वङ्कास्त्र**, ब्रह्मशर, ऐषीकास्त्र, ब्रह्मास्त्र, मोदकी-शिखरी गदायें, धर्मपाश, कालपाश, वरुणपाश, तामस, महाबली, सौमन, संवर्त, दुर्जय, मौसल, सत्य, मायामय, तेजप्रभ, शिशिर, शीतेषु जैसे दिव्यास्त्र विश्वामित्र राम को देते चले गए। हाँ राम को, लक्ष्मण मात्र देख रहे थे, समझ रहे थे, दिव्यास्त्रों को ग्रहण राम ही कर रहे थे। अनन्य रामानुरागी लक्ष्मण इसीमें प्रसन्न थे। राम में और उनमें क्या कोई भेद था।

राम के पश्चात् कुछ दिव्यास्त्र विश्वामित्र ने लक्ष्मण को भी प्रदान किये।

सम्पूर्ण अहोरात्र (दिन-रात) इसीमें व्यतीत हो गया। विश्वामित्र प्रदान करते गए, राम ग्रहण करते गए ... और एक-एक कर समस्त दिव्यास्त्र राम के आभामंडल को सुशोभित करते चले गए। लक्ष्मण ने लक्ष्य किया कि प्रत्येक दिव्यास्त्र के साथ, राम के आनन के पृष्ठ में उपस्थित आभामंडल की आभा तीव्रतर होती चली गयी थी।

5-सुग्रीव-हनुमान

‘कहाँ थे अंगद, आज प्रातः से ही दिखाई नहीं पड़े?’ तारा ने चिंतित भाव से अंगद से प्रश्न किया।

‘काका के पास गया था माता!’ अंगद ने सहज भाव से उत्तर दिया।

‘तुम्हें काका के पास जाने से मैं नहीं रोकती पुत्र, किन्तु यह भी तो सोचो कि यदि महाराज को ज्ञात हो गया तो क्या वे क्रोधित नहीं होंगे?’

‘ज्ञात तो है उन्हें!’

‘तुम कभी-कभी अपने काका से मिल आते हो इतना ही तो ज्ञात है उन्हें। यह तो नहीं ज्ञात कि यह कभी-कभी नित्य में परिवर्तित हो गया है।’

‘फिर क्या करूँ? क्या महाराज का काका पर क्रोध अकारण नहीं है? आपको तो सब ज्ञात ही है।’

‘निस्संदेह अकारण है। महाराज उसे मात्र ताड़ना देकर छोड़ सकते थे। तुमसे भी अधिक स्नेह करते थे वे तुम्हारे काका से। दैव जाने क्या हुआ जो इतना विकट क्रोध आ गया। फिर भी वे मात्र महाराज ही नहीं, तुम्हारे पिता भी हैं। वे सदैव तुम्हारा शुभ ही चाहते हैं।’

अंगद ने बीच में कुछ कहना चाहा पर तारा ने उसे रोक दिया और कहती रही-

‘तुम अपने काका से द्वेष न करो, कभी-कभी मिल लो अथवा आवश्यकता पड़ने पर उनकी कोई सहायता कर दो, इसमें कुछ भी अनुचित नहीं है। महाराज भी इसे अन्यथा नहीं लेंगे किन्तु पूर्व की भाँति ही नित्य पूरा दिन काका के साथ व्यतीत करना यह तो अब उचित नहीं है।’

‘काका के बिना मुझसे समय व्यतीत ही नहीं होता। मेरा समय तो दो ही के साथ कटता था - काका अथवा बजरंग भइया। अब ये दोनों ही यहाँ नहीं, ऋष्यमूक पर हैं; तो बताइये यहाँ ...’

बड़ी देर चर्चा हुई माता और पुत्र में किन्तु कोई निष्कर्ष नहीं निकल सका। तारा को अंगद के सुग्रीव और हनुमान के साथ समय व्यतीत करने में कोई आपत्ति नहीं थी। उसकी दृष्टि में यह श्रेयस्कर ही था, अन्यो की अपेक्षा सुग्रीव और हनुमान की संगत श्रेष्ठ ही थी। अन्य किष्किंधावासियों की भाँति वह भी हनुमान को समस्त किष्किंधा में सर्वश्रेष्ठ मानती थी - प्रत्येक दृष्टि से। फिर भी उसे बालि के कुपित होने का भय बना रहता था।

अंगद दूसरे दिन पुनः रिष्यमूक पर्वत पर अपने काका और हनुमान की संगत में था। नित्य की भाँति वह गुरुकुल से सीधे यहीं आ गया था।

सुग्रीव ने नित्य की भाँति उससे उसकी काकी, रूमा, की कुशलक्षेम पूछी-

‘तेरे काकी तो कुशलता से हैं?’

‘कुशलता से ही होंगी। सभी उनका विशेष ध्यान रखते हैं- माता भी, पिता भी।’

‘किन्तु मैंने यह दायित्व तुझे सौंपा हुआ है।’ सुग्रीव ने नित्य की भाँति अंगद की पीठ पर धौल लगाते हुए कहा।

‘मैंने आपको कितनी बार बताया कि काकी से मिलना मुझे अच्छा नहीं लगता। मुझे प्रतीत होता है कि मैं उनका अपराधी हूँ।’

‘तू अपराधी क्यों है, भला? नित्य समझाता हूँ किन्तु तुझे समझ ही नहीं आता।’ सुग्रीव किंचित क्रोध और किंचित हताशा के स्वर में बोला।

ये नित्य की बातें थीं। अंगद जहाँ तक संभव हो सकता था, रूमा से कतराता था। वैसे उसे अपनी काकी की पूरी चिंता रहती थी, किन्तु उनके सामने पड़ने में उसे असुविधा प्रतीत होती थी। सुग्रीव उसे इसी असुविधा से बाहर निकालना चाहता था। वह गंभीर स्वर में बोला-

‘देख! मुझे नहीं प्रतीत होता कि भाई का क्रोध अब कम होगा। अपितु मुझे तो प्रतीत होता है कि उन्होंने मुझे सदैव के लिए ही त्याग दिया है। इसलिए अब दुबारा तेरी काकी से मेरी भेंट की संभावना लगभग नहीं के समान है। ऐसे में अब तू ही वहाँ उनका सबसे निकट का व्यक्ति है। तू भी यदि उनसे छिपा-छिपा रहेगा तो उन्हें कितना कष्ट होता होगा।’

‘काका मैं सब समझता हूँ, किन्तु बस साहस नहीं होता उनके सामने जाने का। अच्छा अब यह विषय बन्द कीजिए, अन्यथा मैं जाता हूँ।’ अंगद ने खड़े होने का प्रयास करते हुए कहा।

‘अरे, बुरा लग गया मेरे भतीजे को। रूठ गया, अभी मनाता हूँ।’ सुग्रीव ने अपने फूले हुए गाल और फुलाते हुए कहा और अंगद के गुदगुदी करने लगा। अंगद हँस पड़ा और उठकर भाग लिया। सुग्रीव बैठा हँसता रहा।

उधर से हनुमान पहाड़ी पर चढ़ते हुए आ रहे थे। पीछे देखता हुआ दौड़ता अंगद उनसे टकरा गया। हनुमान ने उसे पकड़कर भींच लिया और फिर हँसते हुए ऊपर उछाल दिया। चारों ओर सबकी सम्मिलित हँसी गूँज उठी।

अब तक मतंगवन क्षेत्र में एक प्रकार से सुग्रीव का छोटा सा पन्द्रह-बीस सदस्यों का ग्राम-राज्य स्थापित हो गया था। हनुमान के उपरांत कई अन्य वानर भी किष्किंधा छोड़कर उसके पास आ गये थे। इनमें सबसे महत्वपूर्ण ऋक्षराज जाम्बवान थे। भले

ही सुग्रीव स्वयं ऐसी कोई अपेक्षा नहीं रखता था परंतु फिर भी ये सभी उसे राजा के समान ही सम्मान देते थे। जीवन कोई विशेष कठिन नहीं था। वानर जाति थी, ऊँची महत्वाकांक्षाएँ थीं ही नहीं। परिवार भी थे नहीं साथ में, निर्द्वन्द्व खाया-पिया, खेला-कूदा और सो गये - ऐसे ही दिन कट जाता था। बस बालि का भय ही सबसे बड़ी समस्या थी। अन्य सब तो थोड़ा-बहुत इधर-उधर घूम-फिर भी आते थे किन्तु सुग्रीव के लिए मतंगवन ही उसके जीवन की सीमा थी। वह उसके बाहर निकलने की सोच भी नहीं सकता था।

अंगद प्रायः नित्य ही आता था। अन्य भी बहुत से किष्किंधावासी थे जो बहुधा आ जाया करते थे। चार वर्षों से अधिक हो गया था, किंतु अभी तक बालि का सुग्रीव पर से क्रोध कम नहीं हुआ था। अब तो इन लोगों ने आशा भी छोड़ दी थी। बस भाग्य के आसरे जिए जा रहे थे।

अंगद जब हँसता हुआ भूमि पर खड़ा हो गया तो अचानक हनुमान ने एक भूला-बिसरा प्रश्न फिर से पूछ दिया-

‘अच्छा अंगद! वह जो लंका की सैन्य-चौकी वाला विषय था (देखें दशानन) उसमें आगे कोई कार्यवाही हुई अथवा उसे भुला ही दिया गया?’

‘मेरे संज्ञान में तो कुछ भी नहीं हुआ।’

‘तुमने मातुल से वार्ता करने को कहा था, की भी थी अथवा नहीं?’

‘सत्य कहूँ भैया तो मैंने नहीं की थी, किंतु पिता को ज्ञात तभी हो गया था। हमारी चौकी को तुमने जो बंदी सौंपे थे, दूसरे दिन ही चौकी वालों ने उन्हें किष्किंधा भिजवा दिया था। किंतु जितना उन्होंने तुम्हें बताया था, उससे अधिक वे कुछ भी नहीं बता पाए। हमारे सुरक्षा-कर्मियों ने खोजबीन की औपचारिकताएँ निभा कर बता दिया कि किष्किंधा की सीमा में लंका की और कोई सैनिक चौकी नहीं मिली।’

‘मातुल ने भी इसे गम्भीरता से नहीं लिया?’

‘नहीं! आप तो जानते ही हैं कि पिता को भी और अन्य समस्त वानरों को भी अपने बल का दर्प आवश्यकता से अधिक ही है। फिर लंका से हमारे मित्रवत संबंध हैं। स्वयं पिता, रावण के भारी प्रशंसक हैं। एक प्रकार से यह सत्य भी है कि रावण की ओर से आज तक कोई आपत्तिजनक कार्य नहीं किया गया।’

हनुमान ने कोई उत्तर नहीं दिया। बस कंधे उचका दिए। किंतु जाम्बवान बोल पड़े-

‘माना कि रावण के व्यक्तित्व में अथवा उसके आचरण में अभी तक कोई खोट नहीं मिली है किन्तु राजनीति में किसी पर इतना भरोसा करना उचित नहीं होता। वह एक चौकी तो इन दोनों ने स्वयं ही पकड़ी थी और इनके अनुसार पाँच सौ चौकियों की उपस्थिति उन लोगों ने स्वीकार की थी। पाँच सौ सैन्य चौकियाँ कोई छोटी-मोटी

बात नहीं है। तुम्हारी बात उचित है कि सम्राट को अपने बल का दर्प अधिक ही है। वस्तुतः वे अत्यधिक भोले हैं, सहज विश्वासी हैं। और अन्य वानरों, विशेषकर राज्य-कर्मियों को मैं भलीभाँति जानता हूँ, उन सभी में कर्तव्यनिष्ठा रत्तीभर नहीं है।’

‘वीर हैं किंतु लापरवाह हैं सभी।’ सुग्रीव ने हताशा से कहा- ‘जब तक कुबेर लंका का शासक था यह राजनैतिक लापरवाही चल जाती थी। कुबेर को अपने व्यवसाय से ही अवकाश नहीं था जो सैन्य-अभियानों के विषय में सोचता किंतु रावण तो त्रिलोक-विजय कर चुका है। वह तो अनेक सैन्य अभियान संचालित कर चुका है, उस पर इस प्रकार भरोसा कैसे किया जा सकता है?’

‘किंतु काका, रावण ने किसी भी विजित राज्य पर अधिकार नहीं किया, क्या यह तथ्य उसके पक्ष में नहीं जाता?’ अंगद ने शंका प्रकट की।

‘जाता है, अवश्य जाता है। किंतु क्या पता उसके सदाचरण वास्तविक हैं अथवा मात्र आवरण भर हैं! फिर वे चौकियाँ भी तो वास्तविकता थीं। चार वर्ष पूर्व तक थीं तो किसी कारण से ही रही होंगी। किसी दूसरे राज्य की सीमा में अपनी सैन्य-चौकियाँ स्थापित करना, वह भी बिना उस राज्य से अनुमति लिए, शुभेच्छा तो नहीं मानी जा सकती?’

‘आपका कथन भी सोचने पर विवश तो करता है।’

‘तुम थोड़ा और बड़े हो जाओ तब स्वयं ही इन विषयों को देखना।’ हनुमान ने हँसते हुए कहा।

‘अब तो मैं पर्याप्त बड़ा हो गया हूँ, बजरंग भइया। आप सब लोग कब तक मुझे इसी भाँति नन्हा बालक बनाये रहेंगे।’ अंगद ने किंचित रोष का प्रदर्शन करते हुए कहा।

‘बात-बात पर बच्चों जैसे तो रूठ जाते हो, बड़ा कैसे मान लिया जाए तुम्हें। बड़े होकर दिखाओ तब बड़ा मानें।’ हनुमान ने खिंचाई जारी रखी।

‘भइया!’ अंगद ने आहत स्वर में प्रतिरोध किया। फिर सुग्रीव की ओर उन्मुख होकर शिकायत की- ‘देखिए काका, बजरंग भइया चिढ़ा रहे हैं और आप हैं कि ...’

‘रहने दो न हनुमान।’ कहते हुए सुग्रीव ने अंगद को खींच कर अपनी छाती से भींच लिया। फिर छोड़ते हुए कहा- ‘अच्छा अब तुम घर जाओ। भाभी प्रतीक्षा कर रही होंगी।’

‘और कल यहाँ आने के स्थान पर लंका की कोई सैन्य चौकी खोजने जाना तब तुम्हें मैं बड़ा स्वीकार कर लूँगा।’ हनुमान ने उसकी पीठ ठोंकते हुए फिर चुहल की।

अंगद ने फिर आहत दृष्टि से हनुमान की ओर देखा और पलटकर पहाड़ी से नीचे उतरने लगा।

‘अब आप भी चिन्ता छोड़ें मातुल।’

‘ठीक कहते हो बजरंग। जब भाई ही कुछ नहीं सोच रहे तो हम सोचकर कर भी क्या लेंगे!’

6- ताड़का

विश्वामित्र, राम-लक्ष्मण के साथ प्रातः ही स्थाणु आश्रम से निकल लिए। आश्रमवासियों ने गंगातट पर उनके लिए नाव का प्रबन्ध कर दिया था। पतित पावनी की धार में प्रवेश करने से पूर्व विश्वामित्र ने उन्हें प्रणाम निवेदित किया फिर झुककर अंजलि में जल लेकर माथे से लगाया, आचमन किया और फिर शेष जल को अपने ऊपर छिड़क लिया। उनकी देखादेखी दोनों कुमारों ने भी यही सब किया। तब विश्वामित्र ने धारा में प्रवेश किया और नाव पर चढ़ गये। आश्रमवासियों के साथ प्रणाम-अभिवादन का आदान-प्रदान हुआ। कुमारों ने भूमि पर लेटकर समस्त आश्रमवासियों को सम्मिलित दण्डवत प्रणाम किया। दोनों कुमारों के नाव में प्रवेश करते ही नाविक ने चप्पू चलाना आरंभ कर दिया।

ग्रीष्म ऋतु थी। नदी के ऊपर प्रवाहित शीतल वायु शरीर को सुख प्रदान कर रही थी। विश्वामित्र बड़ी देर तक वातावरण के प्रभाव में खोये-खोये से आँखें बंद किए बैठे रहे। लक्ष्मण एक हाथ नीचे लटकाए नदी के जल से खेलवाड़ कर रहे थे। बीच धार में पहुँचने से पूर्व ही एक शोर ने दोनों कुमारों का ध्यान आकर्षित किया। लक्ष्मण धारा से खेलना भूल कर शोर का स्रोत खोजने लगे। समझ नहीं आया तो गुरुदेव से पूछा-

‘गुरुदेव यह तीव्र कोलाहल कैसा सुनाई पड़ रहा है?’

‘उधर देखो,’ विश्वामित्र ने उत्तर-पूर्व की ओर हाथ उठाकर संकेत करते हुए कहा- ‘वो ... उधर से सरयू आ रही हैं और इधर से माँ गंगा प्रवाहित हो रही हैं। वो देखो वहाँ पर दोनों का संगम हो रहा है। यह कोलाहल दोनों नदियों के जल के टकराने का कोलाहल है। प्रणाम करो इस पवित्र संगम तीर्थ को।’ कहते हुए विश्वामित्र ने स्वयं भी आँखें बन्द कर हाथ जोड़ दिए।

दोनों कुमारों ने भी श्रद्धा से प्रणाम किया।

कुछ ही समय उपरांत नौका ने गंगा के दक्षिणी घाट को स्पर्श किया। तीनों उतर पड़े। नाविक ने उनके आगे बढ़ने से पूर्व, भूमि पर लेट कर उन्हें दण्डवत प्रणाम किया। गुरुदेव ने आशीर्वाद दिया और फिर गंगा को प्रणाम किया और घूम कर आगे बढ़ चले। दोनों कुमारों ने भी गंगा को प्रणाम किया और गुरुदेव के पीछे बढ़ चले।

इस बार गुरुदेव की गति अपेक्षाकृत धीमी थी। उन्होंने दोनों कुमारों को अपने अगल-बगल चलने का संकेत किया और बोले-

‘राम! अब तुम्हारी प्रथम परीक्षा का समय प्रस्तुत हो गया है।’

‘हम प्रस्तुत हैं गुरुदेव ! किंतु एक शंका है।’

‘बताओ वत्स !’

‘ताड़का स्त्री है। क्या स्त्री पर प्रहार करना क्षत्रियोचित है?’

‘पुत्र! स्त्री जब तक स्त्री की मर्यादा का निर्वाह करती है, वह स्त्री होती है। ताड़का तो स्त्री के वेश में स्त्रियों के लिए कलंक है। वह स्त्री के रूप में एक अत्याचारी योद्धा है और योद्धाओं का समरांगण में वध न्यायोचित है। फिर तुम तो उसका वध असंख्य ऋषियों और निरीह नागरिकों को त्राण दिलाने के लिए करोगे। यदि तुम ताड़का का वध करने में संकोच करोगे तो इस सम्पूर्ण क्षेत्र में वैदिक मर्यादा की हानि के पातक के भागी बनोगे। यदि तुम ताड़का का वध करने में संकोच करोगे तो इन समस्त निरीह नागरिकों पर, ताड़का द्वारा किए जा रहे अत्याचारों के पातक के भी भागी बनोगे। क्षत्रिय का प्रथम कर्तव्य निरीह-दुःखी जनों की रक्षा है, उनका उद्धार है। अतः किसी संकोच की ... किसी प्रकार के चिंतन की आवश्यकता नहीं है। अत्याचारी का, धर्मद्रोही का सर्वनाश करना ही क्षत्रिय का धर्म है। ताड़का सभी दृष्टियों से वधयोग्य है।’

राम शांत भाव से चलते रहे किंतु उनके मन में अभी भी संभवतः कुछ संदेह था। ताड़का का वध किए बिना भी तो उसे निष्क्रिय किया जा सकता था। किंतु उन्होंने अपने संदेह को व्यक्त नहीं किया। उनके विपरीत लक्ष्मण की भुजायें फड़कने लगी थीं।

राम को शांत देखकर विश्वामित्र पुनः बोले- ‘कोई शंका है अभी भी राम? हो तो बिना किसी संकोच को बोलो। मैं समाधान करूँगा। किंतु ताड़का और उसके पुत्रों का विनाश ही इस समय तुम्हारा प्रथम कर्तव्य है। यह मेरा आदेश है।’

‘कोई शंका नहीं गुरुदेव। हम इस सम्पूर्ण क्षेत्र को इन राक्षसों के आतंक से मुक्त कराएंगे।’ गुरु के आदेश के बाद राम आदेश-पालन के अतिरिक्त और कुछ नहीं सोच सकते थे। गुरु और ब्राह्मणों के आदेश के आगे उनके सभी मनोभाव गौण थे।

विश्वामित्र पुनः बोले-

‘किसी समय पुरोचन की पुत्री मन्थरा (कैकेयी की दासी मन्थरा नहीं) पापाचारों और अत्याचारों में प्रवृत्त हो गयी थी। तब इन्द्र ने उसका वध कर लोक को उससे त्राण दिलाया था। इसी प्रकार शुक्राचार्य की माता, भृगु पत्नी भी जब अत्याचारों में प्रवृत्त हुई तो विष्णु ने उनका वध कर लोक का कल्याण किया था। ये दोनों ही अपने कृत्य के लिए पाप के भागी नहीं बने। अतः लोक के कल्याण हेतु स्त्री के वध में कोई शंका नहीं है।’

राम ने बस मौन सहमति प्रदान की, बोले कुछ नहीं।

अब वन दिखाई पड़ने लगा था। लक्ष्मण ने प्रश्न किया-

‘यही सुन्दरवन है गुरुदेव?’

‘हाँ वत्स!’

‘गुरुदेव! ...’ लक्ष्मण बोले और अचानक रुक गए।

‘रुक क्यों गए? यह तो लक्ष्मण की प्रकृति नहीं है। निःशंक पूछो जो भी पूछना हो।’ विश्वामित्र सहास बोले।

‘गुरुदेव, सुन्दरवन का और ताड़का का इतिवृत्त जानने की उत्सुकता थी।’

गुरुदेव बताने लगे। वृत्रासुर के वध के उपरांत इंद्र पर लगी ब्रह्महत्या के पाप से लेकर महर्षि अगस्त्य द्वारा ताड़का के पति सुन्द के वध तक की सम्पूर्ण कथा उन्होंने सुना डाली। (देखें : पूर्व-पीठिका)

दोपहर ढलने लगी थी। वातावरण अभी भी गर्म था परंतु सघन वन के कारण धूप का प्रकोप नहीं था। हवा भी वृक्षों को पार कर इन यात्रियों को स्पर्श करने तक अपनी उष्णता खो देती थी। पैरों के नीचे सूखे पत्ते चरमरा रहे थे। कभी-कभी सर्प आदि घूमते-टहलते इन अनजाने यात्रियों को देखकर कुछ अचरज से तो कुछ भय से मार्ग छोड़ कर छुपने का स्थान खोजने लगते थे। कुल मिला कर यात्रा कठिन नहीं थी।

लक्ष्मण को इस यात्रा में विशेष आनंद आ रहा था। जंगल में पीपल, बबूल, नीम, आम भांति-भांति के पेड़ थे। बीच-बीच में बरगद के पेड़ भी मिल रहे थे। वे सबसे पीछे चल रहे थे। बीच-बीच में इतनी ऊँचाई पर आम दिख जा रहे थे जो धनुष उचका कर तोड़े जा सकें। ये आम उन्हें ललचा रहे थे। बिना आगे वालों के मन में कोई संदेह उत्पन्न किए धनुष उचका कर आम तोड़ लेने के अवसर बनाने के लिए उन्होंने थोड़ी दूरी और बढ़ा ली। यात्रा चलती रही।

लगभग एक मुहूर्त की और यात्रा के बाद एकाएक विश्वामित्र मुड़े। उन्होंने देखा कि लक्ष्मण थोड़ा पीछे छूट गए हैं। वे एक हाथ से आम चूस रहे हैं। उनके उत्तरीय में भी एक छोर पर कई सारे आम बँधे हुए हैं। विश्वामित्र मुस्कुराये किंतु उन्होंने इस विषय में कोई टिप्पणी नहीं की। वे बोले-

‘अच्छा, अब दोनों सतर्क हो जाओ। मुझे आभास हो रहा है कि अब किसी भी समय ताड़का और उसके गणों से सामना हो सकता है।’

लक्ष्मण अपनी गति बढ़ाकर राम के बराबर आ गए और बोले-

‘जी गुरुदेव, हम सतर्क हैं।’

उन्होंने शीघ्रता से हाथ का आम समाप्त किया। हथेली के पृष्ठ भाग से मुँह पोंछा और राम के बराबर में चलने लगे। राम ने मुस्कुराकर उन्हें देखा और सहज भाव से चलते रहे।

आधा मुहूर्त भी नहीं बीता होगा कि कुछ कोलाहल सुनाई पड़ने लगा। दोनों कुमारों ने तूणीर से दो-दो तीर निकाल कर हाथ में पकड़ लिये, अपने-अपने धनुषों पर उनकी पकड़ कठोर हो गयी।

गुरुदेव ने कोलाहल की ओर ही बढ़ना आरंभ कर दिया।

कुछ ही देर में एक विराटकाय, अत्यंत कुरूप स्त्री प्रकट हुई। राम से भी कई अंगुल ऊँचा कद, भरपूर पुष्ट शरीर, गौर वर्ण किन्तु चेहरे समेत सारे शरीर पर स्थान-स्थान पर जलने के चिन्हों ने उसे वीभत्स स्वरूप प्रदान कर दिया था। ऐसा कि कोई दुर्बल हृदय का व्यक्ति रात में देखे तो उसे हृदयाघात हो जाए। हाथ में उसने विशालकाय मुग्धर उठा रखा था। इतने विशालकाय कद की कोई स्त्री कुमारों ने अपने जीवन में नहीं देखी थी।

उसके पीछे हाथों में भाले लिए दस-पन्द्रह सैनिकों की टोली थी। जो अनर्गल कोलाहल कर रही थी।

इन लोगों को देखकर विश्वामित्र थमककर खड़े हो गए और निर्निमेष दृष्टि से उस स्त्री की आँखों में आँखें डालकर देखने लगे। यही ताड़का थी।

‘अरे ढोंगी दड़ियल, मैंने तो सुना था कि तू अपने यज्ञों की रक्षा के लिए कोई सेना लेने गया है। मैं कब से प्रतीक्षा कर रही हूँ, कहाँ है तेरी सेना?’ उपहास उड़ाते हुए ताड़का ने तीव्र स्वर से कहा।

‘तेरे लिए किसी सेना की आवश्यकता नहीं है ताड़का।’ विश्वामित्र का स्वर सदैव की भांति शांत था- ‘तेरे लिए तो ये दो बालक ही पर्याप्त हैं।’

राम और लक्ष्मण की ओर देखकर ताड़का ने विकट अट्टहास किया। कुछ क्षण रुककर दोनों का सूक्ष्म निरीक्षण किया। फिर विस्मय भरे स्वर में बोली-

‘तू है तो निश्चय ही धूर्त। तेरा खेल मेरी समझ में नहीं आया।’ उसने अपना सिर ठकठकाया, तत्पश्चात् आगे बोली- ‘तेरी प्रतीक्षा में मैंने इतने दिन तेरे उन डरपोक चले-चपाटों की ओर भी दृष्टिपात नहीं किया। मन ही नहीं किया उन मरे हुए खिलौनों से खेलने का। सोच रही थी कि तू कुछ नए खिलौने लेकर आएगा उनसे खेलूँगी जी भरके। आनन्द आएगा कुछ। किन्तु तूने तो निराश कर दिया ताड़का को।’

‘नहीं, तुझे निराश नहीं होना पड़ेगा।’ विश्वामित्र मंद हास्य के साथ बोले- ‘तू आरंभ कर खेल, निश्चय ही न तुझे निराशा होगी ... न मुझे। चल आरंभ कर।’

‘निश्चय ही कुछ है, जो तूने अपनी पोटली में अलग छिपा रखा है।’

‘तुझे पता है, विश्वामित्र लुकाछिपी का खेल नहीं खेलता। मैंने यदि क्रोध और हिंसा का पूर्ण परित्याग न कर दिया होता तो तेरे लिए तो मैं ही पर्याप्त था। सुन्द को भस्म करते समय तुझे जीवित छोड़ जो कार्य महर्षि अगस्त्य ने अधूरा छोड़ दिया था मैं उसे

पूरा कर देता। किंतु तू आज अपने स्वभाव के विपरीत मात्र जिह्वा से युद्ध क्यों कर रही है? क्या तेरी भुजाओं की शक्ति कुंद पड़ गयी है, अथवा भयभीत है?’

ताड़का ने पुनः अट्टहास किया। फिर बोली-

‘ताड़का भयभीत हो जाएगी इन सुकुमार बालकों से? इन पर तो तरस आ रहा है। ये तेरे समान ढोंगी नहीं प्रतीत होते।’ फिर कुमारों से सम्बोधित हुई- ‘जाओ बालकों, भाग जाओ! ताड़का तुम्हें जीवनदान देती है। तुम्हारे तो अभी दूध के दाँत भी नहीं टूटे लगते, अपनी माता का आँचल त्याग इस ढोंगी के कुचक्र में फँसकर व्यर्थ यहाँ क्यों चले आए? तुम ...’

‘ये बालक नहीं हैं, काल हैं तेरा।’ ताड़का की बात बीच में ही काटते हुए विश्वामित्र बोल पड़े। ‘वार कर, फिर देख ये क्या हैं।’

‘ऐसा ???’ ताड़का ने महान आश्चर्य प्रकट करते हुए कहा। ‘चलो अच्छा तुम ही प्रथम वार करो।’

‘देवी ! हम इक्ष्वाकु के वंशज हैं। अकारण स्त्री पर वार करना हमारी मर्यादा में नहीं है।’ राम ने शांत स्वर में ताड़का को उत्तर दिया। किंतु लक्ष्मण शांत नहीं रह सके। वे आवेश में बोल पड़े-

‘इतनी देर से गुरुदेव के प्रति अनर्गल प्रलाप किए जा रही है, दुष्टा! यदि तू स्त्री न होती तो अब तक यमपुर प्रस्थान कर चुकी होती। यदि तुझे अपनी शक्ति का इतना ही दंभ है तो वार कर।’

‘अरे! भयभीत नहीं हो तुम?’ ताड़का ने पुनः उपहास किया।

‘भयभीत होना इक्ष्वाकुओं ने नहीं सीखा। किंतु तू जिह्वा से युद्ध करने के स्थान पर शस्त्रों से युद्ध कर अथवा यह स्थान त्याग कर भाग जा।’ लक्ष्मण पूर्णतः आवेश में आ चुके थे।

‘चल मैं ही करती हूँ। किंतु प्रथम एक जिज्ञासा शांत कर।’

‘बोल।’

‘इक्ष्वाकुओं के कुलगुरु तो वशिष्ठ हैं और वशिष्ठ से तो इस ढोंगी का जन्मों का वैर है। उसने तुम्हें इसके साथ कैसे आने दिया? तेरे पिता ने...’

‘तुझे इससे क्या प्रयोजन। तू वार कर मूर्खा। आज रक्षों के सर्वनाश का प्रथम अध्याय लिखा जाना है।’ उसकी बात बीच में ही काटते हुए विश्वामित्र बोल पड़े।

‘तो ले फिर ...’ कहते हुए ताड़का ने एक ही झटके में एक वृक्ष की पूरी डाल तोड़कर इन लोगों की ओर उछाल दी।

उसके डाल फेंकते ही उसके साथियों ने भी जो भी हाथ में आया, उठा-उठा कर इनकी ओर फेंकना आरंभ कर दिया।

राम ने डाल को आते देखकर विश्वामित्र को पीछे कर स्वयं आगे आने का प्रयास किया किंतु विश्वामित्र ने अपनी बाँह फैलाकर उन्हें रोक दिया। वे एकटक डाल की ओर देखते रहे। डाल उनसे दो हाथ पूर्व ही किसी अदृश्य दीवार से टकराकर गिर पड़ी।

‘तुम लोग मेरी चिंता मत करो, वह मैं स्वयं कर लूँगा। तुम इनसे ही निपटो और शीघ्रता करो। शीघ्र ही अंधकार हो जाएगा। यह वन इनका घर है, अंधकार में तुम इनका सामना नहीं कर पाओगे।’

अपना वार विफल जाते देख ताड़का कसमसा उठी।

‘जादू-टोने का युद्ध करता हैं ढोंगी।’ चीखते हुए उसने पुनः एक डाल ऊँची उछाल कर फेंकी ताकि वह विश्वामित्र को पार कर राम-लक्ष्मण पर गिरे। उसके साथी भी अब अपने भाले लेकर झपट पड़े।

विश्वामित्र ने इस डाल को रोकने का प्रयास नहीं किया और एक ओर हो गए। राम-लक्ष्मण सजग थे, एक उछाल भरते हुए वे डाल की पहुँच से दूर हो गए। उछाल भरने के क्रम में ही उन्होंने हाथों में पकड़े तीर प्रत्यंचा पर रख कर छोड़ दिए। लक्ष्य चूकने का प्रश्न ही नहीं था। ताड़का के चार सैनिक चीख मार कर धराशायी हो गए। सारे तीर ठीक सैनिकों के माथे के बीचोंबीच लगे थे। जब तक ताड़का ने मुड़कर अपने गिरते सैनिकों की ओर देखा तब तक ... इस बार तीन-तीन तीर दोनों कुमारों ने छोड़ दिये थे। छः सैनिक और ढेर हुए। शेष जहाँ थे वहीं जड़ होकर खड़े हो गए। पर इससे क्या होना था, अगले ही पल वे सारे भी ढेर हो चुके थे। कोई समझ ही नहीं पाया कि कब कुमारों ने तीर निकाले और कब उनका संधान किया। सबने बस सैनिकों को गिरते देखा और फिर उनका लहू बहते देखा, उन्हें एड़ियाँ रगड़कर प्राण त्यागते देखा।

अब ताड़का के अतिरिक्त बस एक सैनिक बचा था। उसने एक पल भी नहीं गँवाया और भाग खड़ा हुआ। यह भी नहीं सोचा कि यदि ताड़का बच गई तो वह उसका क्या हाल करेगी!

ताड़का क्रोधावेश में फुफकार उठी। वह सारा उपहास भूल गयी। और अपना मुग़्दर लेकर क्रोध में कुमारों की ओर दौड़ी।

दोनों कुमारों की परस्पर दृष्टि मिली और अगले ही पल राम के बाण ताड़का के दोनों हाथों को उड़ाते हुए और लक्ष्मण के बाण उसके दोनों कानों को उड़ाते हुए निकल गए। ताड़का का पहले से ही वीभत्स शरीर और भी वीभत्स रूप धारण कर चिंघाड़ उठा।

‘अब भी भाग जा। प्राण बच जायेंगे।’ राम ने कहा।

‘राम खिलवाड़ मत करो। यह स्त्री वधयोग्य है। इसे समाप्त करो।’ पहली बार विश्वामित्र का स्वर सामान्य से कुछ ऊँचा था।

राम ने गुरुदेव की आज्ञा का पालन किया।

ताड़का का निष्प्राण शरीर डकारता हुआ वहीं गिर पड़ा। उसकी छाती में बाण बिंधा हुआ था।

‘चलो।’ विश्वामित्र का स्वर पुनः पूर्ववत् शांत था।

‘किन्तु गुरुदेव इनका अंतिम संस्कार?’ राम विचलित थे।

‘सूचना देने के लिए एक जीवित भाग तो गया है। अभी ये हजारों राक्षस शेष हैं, अंतिम संस्कार विधानपूर्वक वे स्वयं कर लेंगे, तुम लोग चलो। इससे पूर्व कि इनकी कोई टुकड़ी आश्रम पर पहुँचकर आक्रमण करे, हमें वहाँ पहुँचना है।’

‘किंतु गुरुदेव, आनंद नहीं आया। यह तो क्रीड़ा आरंभ होते ही समाप्त हो गयी।’ यह लक्ष्मण थे। उनके इस वाक्य ने गंभीर वातावरण को अनायास सहज कर दिया।

7- सिद्धाश्रम

कहते हैं सिद्धाश्रम की स्थापना विष्णु ने की थी। उन्होंने दीर्घकाल तक यहाँ रहकर तपस्या की थी। यहीं उन्होंने सिद्धि प्राप्त की थी। विष्णु के बाद अगस्त्य ने इस आश्रम को अपनाया और अब, अगस्त्य के दंडकारण्य क्षेत्र में अपनी नवीन भूमिका के लिए स्थापित हो जाने के उपरांत, क्षेत्र के ऋषियों की प्रार्थना पर विश्वामित्र ने इस आश्रम को अपना लिया था।

विश्वामित्र के यहाँ आने के बाद यह आश्रम बहुत विशाल हो गया था। अब यह आश्रम मात्र नहीं रह गया था, सम्पूर्ण ग्राम बन गया था। राक्षसों के भय से आसपास के समस्त ऋषियों ने अपने छोटे-छोटे आश्रम या कुटीर त्यागकर यहीं आकर शरण प्राप्त की थी। आसपास के अनेक ग्रामों से अनेक ग्रामवासियों ने भी यहाँ शरण प्राप्त कर ली थी। सबको विश्वास था कि ब्रह्मर्षि विश्वामित्र की उपस्थिति में राक्षस उन्हें कोई क्षति नहीं पहुँचा सकेंगे। वे भले ही राक्षसों के विरुद्ध शस्त्र न उठायेँ किंतु उनकी आध्यात्मिक शक्तियों के प्रभाव से राक्षसों की समस्त शक्ति भी निष्प्रभावी हो जाएगी और वे सुरक्षित रहेंगे।

यह विश्वास मिथ्या भी नहीं था। राक्षसों की शक्ति अभी तक विश्वामित्र की आत्मिक शक्तियों की सुदृढ़ दीवार का अतिक्रमण नहीं कर पाई थी। प्रयास वे नित्य ही करते रहते थे, किंतु सफल नहीं हो पाते थे। अब वे आश्रम से इतर ही **ऋषियों** और ग्रामवासियों को क्षति पहुँचाते थे। विश्वामित्र चाह कर भी इसे नहीं रोक सकते थे। वे एक समय में सभी स्थानों पर तो उपस्थित नहीं रह सकते थे।

आश्रम लगभग एक कोस के वृत्ताकार घेरे में फैला हुआ था। आश्रम को चारों ओर से पास-पास स्थित ऊँचे-घने वृक्ष घेरे थे। वृक्षों के बीच की दूरी में **कँटीली** झाड़ियाँ डाल कर रोक बनायी गई थी। इनसे वन्य पशुओं से तो सुरक्षा संभव थी किन्तु राक्षसों के लिए ये कोई व्यवधान नहीं थीं। ये अभी तक विद्यमान थीं तो बस इसलिए कि राक्षसों ने इन्हें हटाने की अथवा जला देने की कोई आवश्यकता अनुभव नहीं की थी। आश्रम के द्वारों पर ही कौन सी कोई बड़ी रोक थी जो वे इन कांटों से जूझने का प्रयास करते!

आश्रम में पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, चारों दिशाओं में चार द्वार थे। मुख्य द्वार पूर्व में था। द्वार के नाम पर पेड़ों की लम्बी-लम्बी टहनियों को लताओं के माध्यम से बाँध कर दो-दो पल्ले बनाये गए थे जिन्हें दो पेड़ों से बाँध दिया गया था। चारों द्वार इसी प्रकार बने थे।

* * *

इधर, सुमाली की मृत्यु के उपरांत राक्षस-शक्ति कुछ क्षीण भी हुई थी। सुमाली द्वारा लंका से सुन्दर वन तक तैयार किया गया तन्त्र छिन्न-भिन्न हो गया था। वह तन्त्र सुमाली ने रावण से छिपाकर ही तैयार किया था। उसके विषय में सुमाली के बाद वङ्गामुष्टि को ही इस योजना की पूर्ण जानकारी थी। किंतु वह सुमाली जितना प्रखर तो नहीं था। यह भी एक सत्य है कि वट-वृक्ष की छाया में अन्य छोटे-मोटे वृक्ष पनप नहीं पाते। वङ्गामुष्टि सुमाली की छाया में बढ़ा था, सुमाली ने उसे अपनी प्रतिकृति की भांति तैयार करना चाहा था ... उसे स्वतंत्र निर्णय लेने का अवसर ही नहीं प्राप्त हुआ था। वह बस सुमाली के निर्देशों का अनुपालन ही करता आया था और इसीलिये वह सुमाली के उपरांत उसके कूट-कार्यों को दक्षता के साथ सँभालने में सक्षम सिद्ध नहीं हुआ था।

रावण की इस प्रकार के कुटिल कार्यों में कोई रुचि नहीं है, यह वङ्गामुष्टि भी जानता था। इस कारण से वह इस विषय में उसकी सहायता भी नहीं प्राप्त कर सकता था।

वैसे भी दण्डकारण्य का साम्राज्य रावण ने चन्द्रनखा को सौंप दिया था। चन्द्रनखा विद्युज्जिह्व की मृत्यु के बाद से ही अर्द्धविक्षिप्त सी थी। वह अपने भाई रावण को प्यार भी करती थी, साथ ही उसे अपने पति का हत्यारा भी मानती थी। कुछ भी परिस्थितियाँ रही हों, परंतु सत्य भी यही था। चन्द्रनखा की ऐसी मनस्थिति के चलते वङ्गामुष्टि उससे भी किसी प्रकार की सहायता की आशा नहीं कर सकता था।

दण्डकारण्य में चन्द्रनखा के सहयोगी, खर और दूषण प्रभुता प्राप्त कर भयंकर विलासी हो गये थे। रावण चन्द्रनखा के कारण, बल्कि चन्द्रनखा को लेकर अपने अपराध-बोध के कारण; इस क्षेत्र में कोई हस्तक्षेप नहीं करता था। खर और दूषण की विलासिता के निर्बाध विचरण में यह कारक भी सहायक था। उन्हें भय था तो केवल बालि का, तो उसकी सीमा से वे दूर ही रहते थे।

विरुद और प्रवर्धन, जिनके द्वारा सुमाली ने यह तंत्र विकसित किया था, इन परिस्थितियों में असहाय पड़े थे। वे तंत्र को टूटते देख रहे थे। रावण तक न तो उनकी पहुँच थी और यदि होती भी तो उसके सम्मुख इस समस्या को लेकर जाने का उनका साहस नहीं था। (सब जानने के लिए पढ़ें : दशानन)

फिर भी ताड़का और उसके पुत्रों की यह दुर्बल परिस्थिति इस क्षेत्र के निवासियों के लिए कोई सुविधा का कारण नहीं थी। उनके लिए तो ताड़का और उसके पुत्र स्वयं ही पर्याप्त सक्षम थे। जब तक कोई बड़ी राजनैतिक आर्य शक्ति हस्तक्षेप नहीं करती, ताड़का और उसके पुत्रों को कोई भय नहीं था।

अब प्रश्न यह था कि कोई आर्य-शक्ति हस्तक्षेप करती तो क्यों करती? अपने शासित क्षेत्र में ताड़का नागरिकों को सिर पर बैठाये है अथवा पैरों तले रौंद रही है, इससे उन्हें क्या लेना-देना था, वे तो अपने में मगन थे।

परन्तु विधि का चक्र, आर्य-शक्ति का हस्तक्षेप हो ही गया। तभी तो राम-लक्ष्मण यहाँ उपस्थित थे और ताड़का का वध कर चुके थे। अब मारीच-सुबाहु और अन्य राक्षसों की बारी थी।

विश्वामित्र ने आश्रम क्षेत्र में रहने वाले ऋषियों और ग्रामवासियों की सहायता से छोटा-मोटा नागरिक रक्षा-तंत्र विकसित तो कर ही दिया था। भले ही यह तंत्र प्रतीकात्मक ही था किंतु था तो। कार्य का सम्पादन करने तो राम और लक्ष्मण आ ही चुके थे।

* * *

जब तक ये लोग आश्रम पहुँचे, अँधेरा घिरने लगा था।

विश्वामित्र की आशंका निर्मूल सिद्ध हुई। उस रात राक्षसों ने आश्रम पर कोई आक्रमण नहीं किया। पहुँचते ही विश्वामित्र ने ताड़का के वध की सूचना दी और नागरिक रक्षा-दल को चौकसी पर लगा दिया। उन्हें निर्देश था कि पूरे क्षेत्र में पहरा देते रहें और दूर से ही राक्षसों की कोई भी हलचल देखते ही सूचित करें। स्वयं उनका प्रतिरोध करने की, उन्हें अनुमति नहीं थी, अगर होती, तो भी वे ऐसा कोई प्रयास करते इसकी संभावना नहीं थी।

रात्रि कुशलता पूर्वक व्यतीत हो गयी।

ताड़का के वध के समाचार से सभी प्रसन्न थे, साथ ही आशंकित भी थे कि अब मारीच और सुबाहु कुपित होकर और भी विकट आक्रमण करेंगे। फिर भी सभी के मन में विश्वास था कि ब्रह्मर्षि के उपस्थित रहते राक्षस कोई क्षति नहीं पहुँचा पायेंगे। इतने दिनों में विश्वामित्र की क्षमता से वे परिचित हो ही चुके थे, और अब तो अयोध्या के राजकुमार भी आ चुके थे। उन्होंने तो खेल-खेल में ही विकट ताड़का का वध कर डाला था।

प्रातःकाल नित्यकर्म के उपरांत सब एकत्र हुए।

सबके चेहरे खिले हुए थे। सब अयोध्या के राजकुमारों का यशोगान कर रहे थे। दोनों कुमार इस यशोगान से संकुचित हुए जा रहे थे। उन्हें अभी राजसभा में बैठने का और बैठकर दरबारियों की प्रशस्तियाँ सुनने का अनुभव नहीं हुआ था। वे तो गुरुकुल से सीधे ही इस अभियान पर निकल आए थे।

विश्वामित्र ने हाथ उठाकर सबको शांत किया।

‘आपको ज्ञात ही है कि ताड़का का कल राम ने वध कर दिया। एक पातक कटा किंतु संकट अभी टला नहीं है। मारीच और सुबाहु चोट खाये नाग की भांति क्रोधोन्मत्त हो रहे होंगे। अब वे सम्पूर्ण शक्ति से आक्रमण करेंगे, इसके लिए हमें तैयार रहना है। सुरक्षा-दल के जिन सदस्यों ने रात में पहरा दिया है वे विश्राम कर लें और उनके स्थान पर अन्य सदस्य अविलम्ब स्थान ग्रहण कर लें जाकर।’ विश्वामित्र ने आदेश दिया।

‘ब्रह्मर्षि, उन्हें प्रातः ही बदल दिया गया है।’ रक्षा-दल के नायक सिंहलक ने सूचना दी।

‘ब्रह्मर्षि यहाँ तो हम सब सुरक्षित हैं। मुझे निरीह ग्रामवासियों के विषय में चिंता हो रही है। यदि इन राक्षसों ने उधर आक्रमण कर दिया तो उनकी रक्षा का कोई उपाय नहीं है।’ ऋषि न्यायमूर्ति ने आशंका प्रकट की।

‘कोई उपाय नहीं है। अभी उन्हें उनके हाल पर छोड़ना ही पड़ेगा।’ लक्ष्मण ने उत्तर दिया- ‘हमें तो यहीं आश्रम की सुरक्षा में ही रहना है। यदि आप लोग साहस कर सकें तो कुछ ग्रामों को तो सुरक्षित कर ही सकते हैं।’

‘नहीं कर सकते। आप और ब्रह्मर्षि ही हमारा साहस हैं। आपके बिना हम तृणमात्र ही शेष रह जायेंगे।’

‘परंतु ...’

‘परंतु नहीं, ग्रामों में मात्र वाह्य आक्रमण का ही भय नहीं है। वहाँ हमें भीतरी प्रतिरोध का भी सामना करना पड़ेगा। वहाँ तो प्रत्येक पाँच परिवारों में एक परिवार रक्ष-संस्कृति को अंगीकार कर चुका है। राजसत्ता के वरदहस्त के चलते वे अभी प्रबल हैं। सामान्य ग्रामीणों पर इन आतताइयों से अधिक अत्याचार तो वे नवराक्षस ही करते हैं।’

‘नवराक्षस ???’ लक्ष्मण के स्वर में असीम आश्चर्य था- ‘यह शब्द तो पहली बार ही सुना है।’

‘सुमाली से सम्पर्क के उपरांत ताड़का ने रक्ष-संस्कृति की दीक्षा ले ली थी। तभी से उसने समस्त क्षेत्र में संस्कृति-परिवर्तन का अभियान चलाया हुआ था। जो रक्ष-संस्कृति को अंगीकार कर लेता है, उसे कुछ सुविधायें प्राप्त हो जाती हैं, कुछ विशेषाधिकार प्राप्त हो जाते हैं। उनमें से कुछ अतिउत्साही और उद्वंड युवक तो इन राक्षसों से भी अधिक अत्याचार करने लगते हैं।’

‘ओह! यह बात है। तब फिर निश्चित बैठिये। भवितव्यता को टालना हमारे वश में नहीं होता। मारीच और सुबाहु के अंत के उपरांत वे स्वयं ही समाप्त हो जायेंगे। पाँच में से चार परिवार तो अभी भी आर्य संस्कृति में विश्वास रखते हैं, सारे अत्याचार

सहकर भी पूरी दृढ़ता से अपनी संस्कृति के अनुयायी हैं। वे निश्चय ही इनका प्रतिकार स्वयं कर लेंगे।’

‘हाँ, इसी विश्वास का आसरा है।’ एक अन्य ऋषि ने कहा।

विश्वामित्र इस बीच नेत्र बन्द किए किसी चिन्तन में निमग्न थे। एकाएक उन्होंने नेत्र खोले, चारों ओर दृष्टिपात किया और तब सहज स्वर में बोले-

‘मेरा आकलन कहता है कि वे यहीं आक्रमण करेंगे।’

‘मुझे भी यही प्रतीत होता है गुरुदेव! वे क्रोधी हैं, उदंड हैं और इस समय चोट खाए हुए हैं। मुझे नहीं प्रतीत होता कि उनके अन्दर शांत-चित्त से सोचने-विचारने की क्षमता होगी।’ राम ने कहा।

‘यही है।’ कई ऋषियों ने समर्थन किया।

‘क्रोध सर्वप्रथम विवेक का ही भक्षण करता है। वे आवेश में सर्वप्रथम अपनी माता की हत्या के लिए हमें दण्ड देने का प्रयास करेंगे। वे सीधा वहीं आक्रमण करेंगे जहाँ हम होंगे। इसलिए ग्राम अभी सुरक्षित हैं।’

‘... और इस बार वे हमें दो दिशाओं से अथवा संभव है, कई दिशाओं से, घेरकर अधिकाधिक क्षति पहुँचाने का प्रयास करेंगे।’ विश्वामित्र ने बात आगे बढ़ाई।

‘जी गुरुदेव! वे पूर्व में एक बार महर्षि अगस्त्य से बुरी प्रकार पराजित और अपमानित हो चुके हैं। वे जानते हैं कि आप भी उन्हीं के समान सामर्थ्यवान हैं। अतः वे आपको कहीं एक स्थान पर अटकाने का प्रयास करेंगे और हमें दूसरी ओर से घेरने का प्रयास करेंगे।’ राम कुछ पल रुके, कुछ सोचते रहे, फिर बोले- ‘उनका प्रयास यह भी हो सकता है कि हमें भी वे किसी दूसरे स्थान पर व्यस्त कर किसी तीसरी दिशा से आश्रम वासियों पर आक्रमण करें।’

‘इसका तो एक ही उपाय है कि वे किसी ग्राम पर भयंकर ताण्डव करें। इतना भयंकर कि आपको विवश होकर उनके रक्षार्थ वहाँ जाना पड़े। तब उनका शेष दल यहाँ आश्रम पर दो दिशाओं से आक्रमण करे।’ ऋषि वेदविज्ञ ने संभावना प्रकट की।

‘नहीं ऐसा नहीं होगा।’ ब्रह्मर्षि ने विश्वासपूर्वक कहा- ‘किसी को कहीं जाने की आवश्यकता नहीं है। ग्रामों से कितने भी उत्पात की सूचनायें प्राप्त हों, हम सब यहीं रहेंगे। उनका लक्ष्य हम तीनों हैं, अंततोगत्वा वे अपनी सम्पूर्ण शक्ति से वहीं आक्रमण करेंगे, जहाँ हम तीनों होंगे। ... और यह आक्रमण संभवतः मध्यान्ह के उपरांत होगा ...’

ब्रह्मर्षि अपनी बात पूरी करते, उससे पूर्व ही रक्षक-दल का एक व्यक्ति भागता हुआ आया। उसने सूचना दी-

‘गुरुदेव! उत्तर की ओर से कुछ राक्षस सैनिक आ रहे हैं।’

‘कितने होंगे?’ गुरुदेव ने प्रश्न किया।

‘पन्द्रह-बीस के लगभग।’

‘तुमने देखा?’

‘नहीं गुरुदेव, वहाँ उन्मुख सबसे ऊँचे वृक्ष पर चढ़ा हुआ है, उसीने देखा। उसने मुझसे आपको सूचित करने को कहा।’

‘उचित किया।’ फिर गुरुदेव उपस्थित समुदाय से सम्बोधित हुए- ‘सभी शस्त्र ग्रहण कर लें।’

भीड़ छँट गयी तो लक्ष्मण ने प्रश्न किया-

‘शस्त्र हैं आश्रम में?’

‘बहुत उपयोगी तो नहीं हैं किन्तु मन को आश्वस्त करने के लिए तो हैं ही। ऋषिवर अनिरुद्ध आप ही सही-सही गणना दें कुमारों को।’

‘जी, कुल्हाड़ी तो प्रत्येक कुटिया में है। पचासेक कृपाणें भी हैं, उत्तम कोटि की नहीं हैं किन्तु कार्य करती हैं। लाठियाँ बहुत हैं, प्रत्येक कुटीर में कई-कई हैं।’

‘धनुष-बाण?’ लक्ष्मण ने प्रश्न किया।

‘तीस से कुछ अधिक ही हैं।’ कहते हुए ऋषि कुछ संकुचित से हुए, फिर आगे जोड़ा- ‘आपके धनुषों के समक्ष तो बच्चों के खिलौने जैसे ही हैं। इन्हीं वृक्षों की सामान्य टहनियों से बनाए गए हैं। निष्प्रयोज्य हो चुके यज्ञोपवीतों को भलीभांति बटकर उनकी प्रत्यंचा बनाई गई है।’

‘बाण?’

‘पतली किन्तु सुदृढ़ टहनियों को नुकीला कर बनाये गए बाणों से तो एक पूरा कुटीर भरा हुआ है किन्तु लौह-निर्मित फल वाले बाण एक सहस्त्र से अधिक नहीं होंगे।’

‘पर्याप्त हैं।’ लक्ष्मण ने संतोष पूर्वक कहा।

‘गुरुदेव! सम्पूर्ण राक्षस-सैन्य कितना होगा?’

‘पाँच-छह सहस्त्र के लगभग।’ ऋषि अनिरुद्ध ने ही उत्तर दिया।

वह व्यक्ति जो सूचना लाया था, अभी भी वहीं खड़ा था।

‘कितनी दूरी पर होंगे आगन्तुक?’ गुरुदेव ने उससे पूछा।

‘बस, अभी दिखना आरम्भ हुए हैं। आधे मुहूर्त (एक मुहूर्त लगभग 48 मिनट का होता है) में ही उन्हें यहाँ तक पहुँच जाना चाहिए।’

‘ठीक है, तुम पुनः वहीं पहुँच कर अपना दायित्व निभाओ।’ गुरुदेव ने उसे आदेश दिया।

थोड़ी ही देर में शस्त्रों से सज्जित होकर लोगों का जमा होना आरंभ हो गया। जब पर्याप्त लोग आ गए तब राम ने प्रश्न किया-

‘धनुष-बाण से लक्ष्यवेध कौन-कौन कर सकता है?’

पचास-साठ लोगों ने हाथ उठा दिए।

‘बहुत सारे हैं ये तो!’ लक्ष्मण ने आश्चर्य से कहा।

उनकी बात पर ध्यान न देते हुए राम आगे बोले-

‘सबसे सटीक लक्ष्य-भेदन करने वाले दस व्यक्ति आगे आयें।’

सात व्यक्ति तो बिना किसी हिचकिचाहट के आगे आ गए। शेष तीन के लिए कुछ देर आपस में धक्कामुक्की हुई फिर तीन और निकल आए। राम ने उन तीनों को अलग ही खड़ा किया। पहले आए सातों व्यक्ति अपने-अपने धनुष हाथों में थामे हुए थे।

‘तुम सातों उत्तर दिशा के सबसे ऊँचे वृक्षों को छाँटकर उन पर आसन जमा लो। जितने अधिक तीर साथ में ले सको ले लेना।’ तभी जैसे कुछ ध्यान आया हो, पूछा- ‘तूणीर तो होंगे नहीं?’

‘नहीं।’

‘तब फिर वृक्ष पर तीर सम्हालोगे कैसे?’

वे लोग एक-दूसरे की ओर देखने लगे। कुछ पल सबने सोचा, फिर एक बोला- ‘दो रस्सियों में बाँध कर बगल की डाल में लटका लेंगे।’

‘अच्छा उपाय है। किंतु कसकर मत बाँधना अन्यथा आगे का फलक रस्सी में फँस जाए और तुम तीर खींच ही न पाओ।’

इस सलाह से उस व्यक्ति को इस परिस्थिति में भी हँसी आ गयी। बोला-

‘कुमार हमारे इन तीरों में फलक हैं ही नहीं, न आगे न पीछे। फिर भी अधिक कस कर नहीं बाँधेंगे जिससे सहजता से खिंचते रहें।’

‘तो फिर अपने-अपने स्थान सँभाल लो।’ कहते-कहते राम भी हँस पड़े। वे सोच रहे थे कि घातक नहीं होंगे किंतु कुछ चोट तो करेंगे ही।

वे लोग चले गए।

बाकी जितने व्यक्ति धनुष चला सकते हों वे सारे अपने धनुष लेकर पीछे की ओर के वृक्षों पर छिप जायें। कुछ लोग नीचे ही रहें, किसी भी आवश्यकता पर सहयोग करने के लिए तत्पर।’

लक्ष्मण राम की इस सम्पूर्ण कार्यवाही से विरक्त से खड़े थे।

इसी बीच वह व्यक्ति दौड़ता हुआ आता दिखाई दिया जो पहले सूचना लाया था। सब प्रश्नवाचक निगाहों से उसकी ओर देखने लगे।

‘आ गए?’ विश्वामित्र ने पूछा।

‘जी!’ उसने संक्षिप्त सा उत्तर दिया।

‘आओ चलें हम लोग भी। मात्र दस लोग हमारे साथ आयें, शेष यहीं रहें। जिधर भी आवश्यकता हो उधर चले जायें।’

कहने के साथ ही गुरुदेव पूर्व की ओर मुख्य द्वार की ओर बढ़ चले।

ये लोग द्वार पर पहुँचे तो ताड़का के सैनिकों की वेशभूषा में सामने से आते हुए दस-पन्द्रह व्यक्ति दिखाई दिए। इन्हें देखते ही वे लोग भूमि पर दण्डवत लेट गए और ‘त्राहिमाम्-त्राहिमाम्’ की गुहार लगाने लगे।

‘इधर आकर अपनी बात कहो।’ विश्वामित्र ने जोर से कहा।

सभी उठकर खड़े हुए और सहमे-सहमे से इनकी ओर बढ़े। जब वे पास आ गए तो ब्रह्मर्षि बोले-

‘अब कहो।’

‘गुरुदेव हमें पुनः आर्य-संस्कृति में दीक्षित कर लीजिए।’

‘क्यों? वहाँ तो तुम राजकीय वैभव का भोग कर रहे हो।’

वे लोग एक-दूसरे की ओर देखने लगे। फिर एक बोला-

‘हमने स्वेच्छा से राक्षस संस्कृति स्वीकार नहीं की थी। जीवन-रक्षा हेतु राक्षस हो जाना हमारी विवशता थी।’

‘तो अब विवशता नहीं रही।’

‘अब हमारी रक्षा के लिए अयोध्या के कुमार आ गए हैं। अब हमें कोई भय नहीं है। ... और आप तो हैं ही।’

‘क्या तुम पर विश्वास किया जा सकता है? क्या पता तुम्हें मारीच अथवा सुबाहु ने यहाँ का भेद लेने के लिए भेजा हो?’ लक्ष्मण ने प्रश्न किया।

‘धर्म व्यक्ति की सबसे मूल्यवान वस्तु होती है। उसका छिन जाना उसे जीते जी मार देता है। हमारी भी यही स्थिति है। हम पुनः जीना चाहते हैं।’ एक ने उत्तर दिया।

‘मारीच और सुबाहु अथवा अन्य राज्याधिकारियों को हमारे यहाँ आने के विषय में रंचमात्र भी ज्ञान नहीं है। वे सब तो इस समय साम्राज्ञी की अन्त्येष्टि में व्यस्त हैं। हम भी वहीं थे, अवसर देख कर सबकी आँख बचाकर निकल आए।’ दूसरे ने कहा।

‘अब हमारे जीवन की डोर आपके ही हाथों में है।’ पहले ने पुनः कहा।

लक्ष्मण ने गुरुदेव की ओर देखा। वे बारी-बारी से उन लोगों की आँखों में झाँक रहे थे। लक्ष्मण उनके बोलने की प्रतीक्षा करने लगे।

‘आने दो इन्हें। ये सत्य बोल रहे हैं।’

* * *

सब भीतर आकर एक विशाल वृक्ष के नीचे बैठ गए।

‘तुम इतने ही हो अथवा तुम्हारे अन्य साथी भी हैं जो हमारे साथ आना चाहते हैं?’ राम ने प्रश्न किया। उनका मुख अत्यंत गंभीर था।

‘बहुत सारे आ सकते हैं।’ उसी पहले व्यक्ति ने पूरे विश्वास से कहा।

‘अच्छा पहले अपना परिचय दो, तब आगे विचार किया जाए।’

‘जी कुमार, मेरा नाम प्रकीर्ण है। मैं ही नहीं हम सभी जन्म से क्षत्रिय हैं। सभी आसपास के गाँवों के मूल निवासी हैं। हम सभी ने जीवन-रक्षा के लिए विगत तीन-चार वर्षों में रक्ष-संस्कृति को अंगीकार किया है और अब पुनः आर्य-संस्कृति में दीक्षित होना चाहते हैं।’

‘तुमने कहा कि तुम्हारे अनेक साथी हमारे साथ आ सकते हैं?’

‘जी!’

‘किस आधार पर कहा? तुम्हारी इस विषय में साथियों से वार्ता कब हुई, हम तो अभी रात्रि में ही यहाँ आए हैं।’

‘कुमार! मैंने कहा था न कि धर्म व्यक्ति की सबसे अमूल्य सम्पत्ति होती है। राक्षस धर्म अंगीकार करने वाले सभी अपनी यह सम्पत्ति छिन जाने से व्यथित हैं, मात्र कुछ गिनती के मूर्खों और अपराधी वृत्ति के लोगों को छोड़कर। ऊपर से सारे समाज ने, हमारे सारे सम्बन्धियों ने ... हमसे सम्बन्ध तोड़ लिए हैं। हमें अस्पृश्य मान लिया है। लोग भयवश हमसे कुछ कहते नहीं हैं किंतु उनके मनोभाव उनके मुख पर स्पष्ट लिखे होते हैं। यह स्थिति हम सभी की है। हम सभी चाहते हैं कि इस भयानक राक्षस-धर्म से किसी प्रकार छुटकारा प्राप्त हो और हम पुनः अपनों के बीच अपने बन कर रह सकें।’ उस व्यक्ति के हृदय की पीड़ा उसके मुख पर स्पष्ट झलक रही थी। ... उन सभी के मुखों पर झलक रही थी।

तभी एक अपेक्षाकृत उन सबसे कम आयु का लड़का जो अभी किशोरावस्था से यौवन की ओर पदार्पण कर ही रहा था, कहने लगा-

‘कुमार! वे काका, वे दाऊ, वे बाबा ... जिनकी गोद में खेलकर मैं बड़ा हुआ हूँ, अब, जब वे मुझे देखकर सम्मान से झुकते हुए किसी बहाने से पीछे हट जाते हैं कि कहीं मैं उन्हें छू न लूँ तब ऐसा लगता है जैसे किसी ने भरे चौराहे पर नंगा कर दिया हो। हमें इन दुष्टों के आदेश से उन अपने लोगों पर ही अत्याचार करना पड़ता है जिन्हें हम प्यार करते चले आए हैं ... जिनका हम प्यार पाते चले आए हैं।’ कहते-कहते उसका गला रुँध गया और वह मुँह फेरकर चुप हो गया।

‘मैंने पूछा था कि तुम्हारी अपने साथियों से इस विषय में वार्ता कब हुई?’

‘हमारी वार्ता तो जबसे हमने राक्षस-धर्म अपनाया है तबसे प्रायः नित्य ही होती रहती है। सभी लोग अन्दर ही अन्दर घुट रहे हैं किंतु अभी तक इस घुटन से निकलने

का कोई मार्ग नहीं दिखाई पड़ता था। हमारा उद्धार करने वाला कोई दिखाई नहीं पड़ता था। अब दैवकृपा से मिल गया है। जैसे ही सबको ज्ञात होगा कि आपने हमें शरण देना स्वीकार कर लिया है, हमें पुनः आर्य संस्कृति में दीक्षित करना स्वीकार कर लिया है, देखियेगा सारे राक्षस धर्म छोड़कर आपकी शरण में आ जायेंगे।’

‘एक बात बताओ, कुल कितने सैनिक होंगे इस समय वहाँ?’

‘दस सहस्र के लगभग।’

‘मात्र?’

‘जी!’

‘उनमें से कितने तुम्हारी भांति मन से उनके साथ नहीं हैं?’

‘अधिकांश। यूँ समझिए प्रत्येक दस में से सात।’

‘ऐसा ???’

‘वे स्वयं थोड़े से ही तो थे। सुन्द-ताड़का के परिवार के अतिरिक्त शेष सभी तो हमारी भांति आर्य ही थे। राक्षसों के अत्याचारों से पीड़ित होकर जीवन-रक्षा के लिए ही हमने राक्षस धर्म अपना लिया है।’

‘तो इन सात में से कितने अपने पक्ष में आ सकते हैं?’

‘छह तो निस्संदेह आ ही जायेंगे।’

‘बहुत बड़े बोल बोल रहे हो सैनिक।’

‘आप देख लीजिएगा। आप बस सबको पुनः आर्य-संस्कृति में दीक्षित करने का आश्वासन दीजिए। इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं चाहिए हमें। राक्षसों के संस्कार हमें रास नहीं आ रहे, दम घुटता है हमारा।’

‘दिया आश्वासन, दिया।’ इस बार उत्तर विश्वामित्र ने दिया- ‘यह ब्रह्मर्षि का वचन है। स्वयं ब्रह्मा भी इसे असत्य नहीं कर सकते।’

‘तो अब हमें आदेश दीजिए।’

‘उनके आक्रमण की संभावना कब तक है?’

‘मध्यान्ह के उपरांत। अभी तो वे साम्राज्ञी के अंतिम संस्कार में व्यस्त हैं, उसके तुरंत बाद।’

‘आक्रमण यहीं करेंगे, ग्रामों में तो उत्पात नहीं मचायेंगे?’

‘यहीं करेंगे। साम्राज्ञी का वध तो कुमार ने ही किया है। प्रतिशोध तो उन्हीं से लेना है राक्षसों को।’

‘तो अभी तुम लोग चुपचाप वापस लौट जाओ और वहाँ जाकर तुम्हारे सम्पर्क के जितने भी सैनिक हों, उनके मध्य गुपचुप इस बात का प्रचार करो कि ब्रह्मर्षि ने सबको आर्य-संस्कृति में पुनः दीक्षित करने का वचन दिया है। साथ ही यह भी प्रचार

करो कि अयोध्या के राजकुमारों ने जिस भांति खेल-खेल में ही ताड़का का वध कर दिया वैसे ही मारीच और सुबाहु का भी कर देंगे। जाओ, अब विलंब मत करो ... इन राक्षसों के मूलोच्छेदन में तुम्हारा यह योगदान सबसे महत्वपूर्ण होगा।’

उन सबने प्रसन्नवदन फिर से ब्रह्मर्षि को दण्डवत प्रणाम किया।

‘आयुष्मान भव! यशस्वी भव!’ ब्रह्मर्षि ने आशीर्वाद दिया।

वे लोग जाने को मुड़े तभी अचानक राम बोले-

‘कोई ऐसा चिन्ह निर्धारित करो जिससे हम शत्रु और मित्र की पहचान कर सकें।’

कुछ पल के लिए वे सब सोच में पड़ गए। तभी उनमें से एक बोला-

‘हम मित्र पक्ष के सभी लोग माथे पर त्रिपुण्ड धारण किए हुए होंगे। त्रिपुण्ड महामहिम रावण के इष्ट का चिन्ह है। सुन्दरवन के राक्षस उसे धारण नहीं करते, किंतु उसके धारण करने पर कोई शंका भी नहीं होगी।’

‘यदि शत्रु पक्ष में से भी किसी ने त्रिपुण्ड का चिन्ह अंकित कर लिया तो?’

‘प्रथम तो पहले से किसी भी ऐसे भट को जिस पर हमें शंका होगी, इस चिन्हांकन के विषय में बतायेंगे ही नहीं। फिर भी यदि किसी ने धारण कर ही लिया तो उससे हम स्वयं निबट लेंगे, उसके विषय में आपको चिंता करने की आवश्यकता नहीं।’

‘सम्यक! किंतु समस्त कार्यवाही सावधानी से और गुपचुप ही करना।’

‘आप निश्चित रहें। आज इस धरती से इन राक्षसों का अंत होकर ही रहेगा। यह हमारी शपथ है।’

‘जाओ!’

आशा और उत्साह से भरे वे नव-राक्षस लौट गए।

8- आतंक का अंत

‘ब्रह्मर्षि, क्या इन्हें इस प्रकार जाने देकर हमने उचित किया?’ उन लोगों के जाते ही ऋषि पुण्यधाम ने प्रश्न किया।

‘उन्हें मारकर अथवा बंदी बनाकर ही क्या उपलब्धि होती? अब एक आशा तो है कि अनावश्यक रक्तपात नहीं होगा।’

‘क्या यह संभव नहीं कि वे उन राक्षसों के गुप्तचर हों?’

‘क्या उन्होंने गुप्तचरों जैसा कोई आचरण किया यहाँ? उन्होंने तो यहाँ कुछ भी जानने का प्रयास ही नहीं किया, मात्र अपने उद्धार की प्रार्थना करते रहे। फिर यहाँ गोपन क्या है जिसकी कोई गुप्तचरी करेगा। नवीन मात्र कुमारों की उपस्थिति है और उसके विषय में उन्हें ज्ञात ही है।’

‘फिर भी ...’

‘फिर भी के लिए कोई स्थान नहीं है ऋषिवर! धर्म मानव की सबसे बड़ी शक्ति है तो सबसे बड़ी दुर्बलता भी है। उनके मन में अपने धर्म का परित्याग करने के कारण आत्मग्लानि है।’

‘किंतु ब्रह्मर्षि वे पथभ्रष्ट हो चुके हैं। उनका आचरण भ्रष्ट हो चुका है। यह सब जानते हुए भी आपने उन्हें पुनः आर्य-संस्कृति में दीक्षित करने का आश्वासन दे दिया? ये दूषित आचरण वाले व्यक्ति हमारी संस्कृति को भी दूषित कर देंगे। आपने संभवतः यह उचित नहीं किया।’

‘ऋषिवर, आप दूर की नहीं देख रहे हैं। आपने सुना नहीं कि वह किशोर क्या कह रहा था? इन नव-राक्षसों को उनके ही समाज के लोगों ने अस्पृश्य बना दिया है। वे इनसे भयभीत हैं किन्तु उससे भी अधिक भयभीत इस सोच से हैं कि इन्हें स्पर्श करने मात्र से उनकी पवित्रता नष्ट हो जाएगी। आज इन नव-राक्षसों के अंतःकरण में अपनी संस्कृति का त्याग करने के कारण अपराध-बोध है, अपने पूर्वजों की मर्यादा को अपमानित करने के कारण ग्लानि है। अभी वे नई संस्कृति को आत्मसात नहीं कर पाए हैं क्योंकि स्वयं उन्होंने ही संस्कृति परिवर्तन किया है। नई संस्कृति उन्हें विरासत में नहीं प्राप्त हुई है। इसके विपरीत इनके पुत्र-पौत्र जो इसी रक्ष-संस्कृति में जन्म लेंगे उन्हें उनकी संस्कृति विरासत में मिली होगी। उन्हें अपने कृत्य के लिए न तो अपराध-बोध होगा न कोई ग्लानि होगी। ये नव-राक्षस आर्यों से और आर्य संस्कृति से घृणा नहीं करते हैं, अपितु अब भी उसे अपना मूल समझते हैं। इसके विपरीत इनके पुत्र और आगे आने वाले वंशज आर्यों से भी घृणा करेंगे और आर्य-संस्कृति से भी। इस

घृणा के बीज को पनपने से पूर्व ही नष्ट कर देना श्रेयस्कर है। यदि इसने जड़ पकड़ ली तो भयंकर विनाश का कारण बनेगा।’

‘परंतु ...’

‘कोई परंतु नहीं ऋषिवर! निर्णय हो चुका है, अब इस पर कोई विचार-मंथन नहीं चाहिए। इस विषय में मुझे किसी का भी परामर्श नहीं चाहिए। यदि क्षत्रिय विश्वामित्र ब्रह्मर्षि हो सकता है तो ये आर्य पुनः आर्य क्यों नहीं हो सकते?’

‘गुरुदेव आप उचित कह रहे हैं। वही होगा जो आप चाहते हैं। किंतु यह इस विषय पर विमर्श का समय नहीं है। प्रातः जिसके लिए जो कर्तव्य निर्धारित किया गया था, उसके लिए अब भी वही कर्तव्य है। किंतु उससे भी पूर्व आवश्यक है कि सभी आश्रमवासी सूक्ष्म आहार ग्रहण कर लें। संघर्ष दीर्घकालीन भी सिद्ध हो सकता है।’ राम ने इस वार्तालाप को विराम देते हुए कहा।

काश इस्लामी सांस्कृतिक आक्रमण के बाद हिन्दू धर्म के कर्णधारों में गुरुदेव विश्वामित्र जैसी समझ रही होती तो आज इन कर्णधारों को नित्य ही रो-रोकर यह नहीं बताना पड़ता कि यदि हिन्दू नहीं चेते तो उनका धर्म अल्पसंख्यक होने की ओर अग्रसर है।

गुरुदेव ने भी उनके परामर्श से सहमति व्यक्त की और सभी को फलाहार का निर्देश कर दिया। उत्साह से भरे कुछ युवाओं ने आनाकानी की किंतु गुरुदेव के निर्देश के सम्मुख उन्हें झुकना ही पड़ा। राम-लक्ष्मण और विश्वामित्र को इसकी कोई आवश्यकता नहीं थी परंतु उन्होंने अपने लिए भी फलाहार ले आने का निर्देश दे दिया।

इसी सब में मध्याह्न व्यतीत हो गया। सारे आश्रमवासियों ने अपने-अपने निर्धारित स्थानों पर मोर्चा सँभाल लिया।

दो मुहूर्त व्यतीत हो गए। प्रतीक्षा आश्रमवासियों को उकताने लगी। लक्ष्मण ने इसे लक्ष्य किया। वे चिल्लाकर बोले-

‘अब अधिक प्रतीक्षा नहीं करनी है। सभी पूर्णतः सजग रहें। शिथिलता न आने पाये, अन्यथा सम्पूर्ण आयोजन व्यर्थ हो जाएगा।’

ढीले पड़ते लोग पुनः चैतन्य हो गए।

अधिक प्रतीक्षा करनी भी नहीं पड़ी।

गुरुदेव के साथ दोनों कुमार और युवा ऋषि और रक्षक-दल के चालीस पचास सदस्य मुख्य द्वार पर प्रतीक्षारत थे। वृद्ध ऋषि, महिलाएँ और बच्चे आश्रम के मध्य में एक विशाल वट वृक्ष के नीचे बैठा दिए गए थे।

तभी सामने से भयंकर कोलाहल सुनाई पड़ने लगा। सब सजग हो गए। दोनों कुमारों ने अपने धनुष सँभाल लिए।

कुछ ही पलों में भयानक रूप से चीखते-चिल्लाते राक्षस आते दिखाई पड़ने लगे।

‘चार सहस्र से अधिक नहीं होंगे।’ लक्ष्मण ने कहा।

कुछ पलों में दृश्य और स्पष्ट हुआ। कुछ को छोड़कर शेष सारे माथे पर त्रिपुण्ड धारण किए हुए थे। राम ने लक्ष्य किया कि त्रिपुण्डधारी शोर अधिक मचा रहे थे किंतु आश्रम के पास आते-आते उन्होंने अपनी गति धीमी कर दी और अन्यो को आगे जाने देने लगे। राम ने इन आगे आने वालों को अपने बाणों के निशाने पर ले लिया।

तभी मध्य भाग से स्वर सुनाई दिया-

‘पीछे से वन्य शूकरों की सेना आ रही है।’

लक्ष्मण दौड़ कर एक ऊँचे वृक्ष पर चढ़ गए। सच में ही पाँच-सात सौ वन्य शूकर भागते हुए आश्रम की ओर चले आ रहे थे। उनकी गति से प्रतीत होता था जैसे वे पीछे की सारी बाड़-झाड़ियों को तोड़फोड़ कर आश्रम में विध्वंस फैला देंगे। लक्ष्मण ने चारों ओर सतर्क दृष्टि दौड़ाई। उन्हें सारा कांड समझ में आ गया। जितने भी धनुषधारी हैं सब इन शूकरों पर तीर फेंकना आरंभ कर दें। लक्ष्य साधने की आवश्यकता नहीं, बस बाण चलना बन्द न हो। बाकी सारे लोग भी आश्रम में जितने भी धनुष हों लेकर वृक्षों पर चढ़कर तीर फेंकना आरम्भ कर दो। एक भी धनुष खाली नहीं रहना चाहिए। शूकर आश्रम की सीमा तक नहीं पहुँचने चाहिए।

वस्तुतः शूकरों के पीछे से कुछ सैकड़ा राक्षस पत्थरों-तीरों की बौछार कर शूकरों को आश्रम की ओर खदेड़ रहे थे। दायें-बायें वृक्षों के पीछे छिपे कुछ राक्षस भी, बाण-वर्षा कर शूकरों को दायें-बायें बिखरने नहीं दे रहे थे। लक्ष्मण ने उन्हें निशाने पर लेना आरंभ कर दिया। ये लक्ष्मण थे, अधिक समय नहीं लगा कि दायें-बायें की बाधायेँ समाप्त हो गयीं। दायें-बायें से बाणों की वर्षा रुकते ही शूकर आगे और पीछे दोनों ओर से अबाध गति से आ रहे तीरों से बचने के लिए बिखरने लगे। यह बाधा टल गयी थी।

लक्ष्मण ने पेड़ों पर चढ़े अन्य धनुर्धारियों को शूकरों को ही लक्ष्य बनाते रहने का संकेत किया और पीछे से आ रहे राक्षसों को अपने निशाने पर ले लिया। वे एक साथ चार-चार पाँच-पाँच तीरों का संधान कर रहे थे। गति ऐसी थी कि हाथों का संचालन दिखाई ही नहीं पड़ रहा था, बस विद्युत गति से तीर छूट रहे थे ... और एक भी तीर व्यर्थ नहीं जा रहा था। कुछ ही देर में मैदान साफ हो गया।

लक्ष्मण का कौशल देख शेष धनुर्धारी अत्यंत अचंभे में थे। उन्हें विश्वास ही नहीं हो रहा था कि इस गति से भी तीर छोड़े जा सकते हैं! एक अकेला व्यक्ति कुछ ही क्षणों

में इतने सारे लागों को धराशायी कर सकता है। उनका हर्षनाद गूँज उठा। शूकर भी अब आश्रम से बहुत दूर भाग गए थे।

सामने भी बिना त्रिपुण्ड चिन्ह के जितने राक्षस थे ढेर होते चले जा रहे थे। त्रिपुण्डधारी भी अचानक पीछे पेड़ों की ओट में हो गए और वहीं से राम की सहायता करने लगे। अब राम के लिए कुछ करने को बचा ही नहीं था। इसी बीच प्रकीर्ण, आर्य संस्कृति में वापसी का अभिलाषी वही राक्षस जो प्रातः आया था, आगे आया और विश्वामित्र को सांकेतिक प्रणाम कर धीरे से बोला-

‘ब्रह्मर्षि अब सभी को यहीं बुलवा लीजिए और दिखावटी युद्ध होने दीजिए। शेष सैनिकों के साथ सुबाहु और मारीच भी आते ही होंगे। उनके साथ भी हमारे बहुत सारे साथी होंगे। उन दोनों को कुमार देख लें, शेष को हम सँभाल लेंगे।’

अब इन पर अविश्वास का कोई कारण नहीं था। एक ऋषि ने संदेश भीतर प्रसारित कर दिया।

अब धनुषों का कोई कार्य नहीं था। कटारों, भालों, लाठियों से द्वन्द्व का प्रदर्शन होने लगा। पीछे से फिर राक्षसों का कोलाहल सुनाई पड़ने लगा। प्रकीर्ण अपने दो साथियों के साथ राम से भिड़ा हुआ था। वह धीरे से बोला पीछे आने वालों में जो सबसे ऊँचा, बलिष्ठ और बहुमूल्य वस्त्राभूषणों वाला दिख रहा हो वही सुबाहु होगा। मारीच भी लगभग वैसा ही होगा किंतु वह अपेक्षाकृत दुबला-पतला है। कहने के साथ ही वह एक झटके से एक ओर गिर गया, मानो राम के वार से आहत होकर गिरा हो। उसके दोनों साथियों ने भी वही क्रिया दोहराई, अब राम स्वतंत्र थे।

सामने से आ रहे राक्षसों के लिए मुख्य द्वार का दृश्य ऐसे था मानो दोनों पक्ष आपस में गुथे हुए हों। धनुष-बाणों के प्रयोग का कोई स्थान ही नहीं था। वे अपने मुग़्दर, कृपाण, भाले लहराते दौड़ते चले आ रहे थे।

राम ने झपट कर अपना धनुष उठाया। सुबाहु अब तक उनकी दृष्टि में आ चुका था। वह जब तक कुछ समझता, बाण उसके सीने में प्रविष्ट हो चुका था। उसे अन्तिम बार चीखने का भी अवसर नहीं मिला। उसके पीछे ही मारीच था। दूसरा बाण उसके सीने में धँस ही गया होता किंतु सुबाहु के गिरने से वह ठिठक गया और बाण सीने के स्थान पर कंधे में धँस गया।

‘जाओ अब तुम लोगों का कार्य है।’ राम ने प्रकीर्ण से कहा।

‘हर-हर महादेव !’ प्रकीर्ण ने उद्घोष किया और उसके सारे साथी द्वन्द्व युद्ध का अभिनय छोड़ कर पीछे दौड़ पड़े। विरोधी अब थे ही कितने। कुछ पीछे मारे जा चुके थे, बहुत सारे यहीं मारे जा चुके थे।

इस हुंकार से मारीच को भी समझ में आ गया कि बाजी हाथ से जा चुकी है। उसकी अपनी सेना ही पाला बदल चुकी है। आतंक के दम पर राक्षस बनाये गये सारे के सारे सैनिक पुनः आर्यों के दल में सम्मिलित हो चुके हैं। उसे समझ नहीं आ रहा था कि आखिर यह हुआ कब, और हुआ तो आखिर हुआ कैसे?

परंतु यह समझने का समय नहीं था। उसे समझ आ गया था कि अब यह आश्रम ही नहीं, सम्पूर्ण सुन्दरवन क्षेत्र उसके लिये सुरक्षित नहीं था। वह अपने कंधे में धँसे तीर की परवाह न करके जान बचाकर भाग छूटा। उसे पता था कि उसके अपने पक्ष का एक भी सैनिक जीवित नहीं बचने वाला। वह भी यदि किंचित् मात्र शिथिल पड़ा तो जीवित नहीं बचेगा।

कई योजन जाकर उसने अपने कंधे में धँसा तीर निकाला और घाव को उत्तरीय से कसकर बाँध लिया। भय के मारे वह इतनी दूर तक निरन्तर भागता ही रहा था। न उसे भूख-प्यास का अनुभव हो रहा था और न ही थकान का। जब जीवन-मरण का प्रश्न सम्मुख होता है तब शारीरिक व्याधियाँ मुँह ढाँप कर पड़ रहती हैं, वैसे ही जैसे रंगशाला के मंच पर किसी बड़े अभिनेता के उपस्थित होते ही सहायक कलाकार महत्वहीन हो जाते हैं। मारीच के सम्मुख भी इस समय जीवन-मरण का प्रश्न उपस्थित था। परंतु प्रश्न यह था कि जाए तो कहाँ जाए? कल तक वह अपनी माता के संरक्षण में इस सम्पूर्ण प्रदेश का निर्बाध शासक था और आज किसी खजैले कुत्ते की तरह अपनों द्वारा ही दुरदुरा दिया गया था। वही सैनिक जो उसके टुकड़ों पर पलते थे, उसी की शह पर समस्त क्षेत्र को अपने आतंक से त्रस्त किए रहते थे ... वही आज उसके जीवन को लील लेने को तत्पर थे। यह ढोंगी दाढ़ीवाला सच में ही मायावी है। उसकी माता से भी बड़ा मायावी!

थोड़ी सी साँस काबू में होते ही उसने फिर भागना आरंभ कर दिया। उसे दण्डकारण्य तक पहुँचना ही होगा, बीच में कहीं भी त्राण नहीं है। उसने निश्चय कर लिया कि यदि दण्डकारण्य तक जीवित पहुँच सका तो भविष्य में किसी संन्यासी का जीवन बितायेगा और विश्वामित्र के समान ही तेज और शक्ति प्राप्त करने का प्रयास करेगा।

* * *

राक्षसों के मूलोच्छेद में तो मुहूर्त भर का समय भी नहीं लगा। फिर यह शुभ समाचार जैसे हवा के पंखों पर चढ़कर समस्त दिशाओं में फैल गया। कुछ ग्रामीण तो अपनी बैलगाड़ियों में भर कर सूरज डूबते-डूबते ही आश्रम पहुँच गए थे, अपनी प्रसन्नता ज्ञापित करने। दूसरे दिन तो भोर से ही विशाल मेला लग गया। गाड़ियों का ताँता दोपहर तक चलता रहा।

गुरुदेव ने अपने वचन का पूरे मन से निर्वाह किया। क्षेत्र के समस्त राक्षस पुनः आर्य संस्कृति में दीक्षित होने को तत्पर थे। जो जीवनरक्षा के उद्देश्य से नहीं किसी स्वार्थवश राक्षस बने थे, उन्हें भी अब राक्षस बने रहने में हानि ही हानि दीखती थी। उनके आश्रयदाता, जिनके बल पर वे अत्याचार और लूटपाट करते थे समाप्त हो चुके थे।

तीन दिवस तक विशाल आयोजन चलता रहा। हालांकि विश्वामित्र के विचार से इसकी कोई आवश्यकता नहीं थी। वे मानते थे कि आर्य तो एक रक्त-वंश है। जिसमें भी आर्य रक्त प्रवाहित हो रहा है, वह निर्विवाद आर्य है। उसे दीक्षित करने, न करने से कोई अन्तर नहीं पड़ता। आर्य-संस्कृति भी इन आर्य-रक्त से युक्त व्यक्तियों की सांस्कृतिक और जीवन-संबंधी मान्यताओं का सिलसिला भर है। जो भी इन मान्यताओं में आस्था रखता है, वह स्वाभाविक रूप से आर्य है। तथापि इस आयोजन से वापस आर्य-संस्कृति में दीक्षित हो रहे व्यक्तियों की आस्था को संतुष्टि प्राप्त हो रही थी इसलिए उन्हें इस आयोजन में कोई आपत्ति भी नहीं थी।

कुछ ऋषियों में थोड़ी दुविधा थी किंतु दोनों कुमारों के उत्साह का पारावार न था। राम तो सब कुछ भूल गए थे इस आयोजन में। अपनी संस्कृति में उनकी आस्था कितनी गहरी थी, उनका उत्साह इसका परिचय दे रहा था।

सुन्दरवन क्षेत्र में तीन दिवस तक अबाध यज्ञ की अग्नि प्रज्वलित बनी रही, मंत्रोच्चार गूँजता रहा। ताड़का और उसके पुत्रों के आतंक के कथानक का पटाक्षेप हो चुका था।

9- चन्द्रनखा

चन्द्रनखा अपने विश्रामगृह में अर्द्धशयनित अवस्था में थी।

उसकी वयस पचास वर्ष से अधिक हो चुकी थी किंतु पितामह द्वारा बताये गये उपायों ने उसकी देह को आयु से प्रभावित नहीं होने दिया था। वह अब भी युवती ही दिखाई पड़ती थी।

आज पुनः उसका मन खिन्न था, प्रायः ही रहता था। उसे स्वयं समझ में नहीं आ रहा था कि वह चाहती क्या है। कभी उसे खर पर क्रोध आ रहा था तो कभी अपनी दासियों पर। कभी वह दूषण को कोस रही थी तो कभी उन वनवासी युवकों को जिन्हें रात्रि में उसने अपनी यौनेच्छा की शांति के लिए बुलवाया था। रावण पर क्रोध तो उसके मन का स्थाई-भाव था।

दण्डकारण्य में गंगा उल्टी बहती थी। यहाँ नवयुवतियाँ नहीं नवयुवक भयत्रस्त रहते थे। चन्द्रनखा नित्य ही दो-चार युवकों को पकड़ मँगवाती थी और उनके साथ सहवास में प्रवृत्त होने का प्रयास करती थी। किंतु सहवास के प्रथम चरण में ही उसे विद्युज्जिह्व की कमी खलने लगती थी। पकड़कर मँगवाये गए, भय से थर-थर काँपते दास भला प्रेमी के दायित्व का निर्वहन किस भांति कर सकते थे? उनके तो रोम-रोम में भय समाया होता था कि पता नहीं किस बात पर साम्राज्ञी कुपित हो जाएँ और उन्हें वधिकों को सौंप दें! उसके विलास-कक्ष में जाने वाला कोई भी व्यक्ति दुबारा दंडकारण्य में दिखाई नहीं पड़ता था। अधिकांश तो उसके क्रोध का शिकार हो मृत्यु का वरण करते थे। भाग्य से जो बच भी जाते थे वे इतनी दूर जाकर छिप जाते थे कि चन्द्रनखा अथवा उसके किसी गण की दृष्टि में न आ पायें। रात भी तीन युवक लाए गए थे उसकी विलास-क्रीड़ा के लिए। उनमें से एक का तो चन्द्रनखा ने अपने हाथों से ही वध कर दिया था। शेष दो को भी मृत्युदंड का आदेश कर भटों को सौंप दिया था। उन दोनों में से एक मारा गया था। दूसरा थोड़ा साहसी और चतुर निकला, वह भागने में सफल हुआ। उसके भाग जाने की भटों ने कोई चिंता नहीं की थी। उन्हें पता था कि अब वह दण्डकारण्य में पुनः दिखाई नहीं पड़ेगा। दिखाई पड़ा भी तो इतने दिन बाद दिखाई पड़ेगा कि सब उसकी सूरत भूल चुके होंगे। सत्यता तो यह थी कि ऐसे भागने वालों की सूरत तो ये भट दूसरे दिन ही भूल जाते थे। यह तो नित्य का कर्म था, कितनों की सूरत याद रखते ... और रखते तो क्यों रखते ?

वस्तुतः भटों को इन युवकों से कोई सहानुभूति हो ऐसा नहीं था। ऐसा भी नहीं था कि उन्हें किसी की हत्या करने में कोई आत्मग्लानि होती हो। वे तो बस नित्य ही यह

कर्तव्य निर्वहन करते-करते उकता गए थे। उन्हें इसमें कोई आनंद नहीं मिलता था, शौर्य प्रदर्शन का आत्म-संतोष भी नहीं मिलता था।

भटों को यदि लापरवाही के पकड़े जाने का भय होता, तो उस स्थिति में मिलने वाले दंड का भी भय होता। इस प्रकार मृत्यु के मुख में ढकेलने के लिए पकड़े जाने वाले व्यक्तियों का भी कहीं लेखा-जोखा रखा जाता है? जो भी पकड़ में आया, थाम लिया गया और बलि चढ़ने के लिए प्रस्तुत कर दिया गया। लेखा-जोखा तो उन व्यक्तियों के परिजन रखते होंगे। किंतु वे तो इस विक्षिप्त साम्राज्ञी के सामने जाने से स्वयं मृत्यु का वरण कर लेना श्रेयस्कर समझते थे। और यदि उन्हें ज्ञात हो जाता था कि उनका कोई परिजन सौभाग्य से साम्राज्ञी के चंगुल से जीवित बच निकला है तो वे तो चुपचाप घर के अंदर घी के दिये जलाते थे। सारे ज्ञात-अज्ञात देवी-देवताओं को धन्यवाद कहते थे और प्रसाद चढ़ाते थे। वे कर्मचारियों की लापरवाही का परिवाद लेकर भला क्यों आते? उनके लिए तो वह लापरवाही दैव के आशीर्वाद स्वरूप ही होती थी।

साम्राज्ञी स्वयं भला क्यों याद रखती? उसके पास याद रखने को उसके विद्युज्जिह्व की यादें थीं, उसका बिछोह था, भाई का असीमित प्यार था और उसी भाई के प्रति असीमित घृणा थी। समय व्यतीत करने के लिए उसके पास उसकी व्यथायें थीं, उसका एकाकीपन था, उसकी ऊलजलूल हरकतें थीं साथ ही इस एकाकीपन को दूर करने के एक से एक विलक्षण उपाय खोजने का गुरुतर दायित्व था। उसके पास समय ही कहाँ था, भटों को सौंपे गए कीड़ों की खोजखबर लेने का? समय होता भी तो यह क्या उसकी मर्यादा के अनुकूल होता?

तभी एक दासी द्वार पर प्रकट हुई। डरते-डरते उसने धीरे से पुकारा-

‘साम्राज्ञी!’

कोई उत्तर नहीं मिला। वह कुछ काल तक खड़ी रही फिर लौट गयी। चन्द्रनखा उसी प्रकार पड़ी रही।

एक मुहूर्त बाद दासी पुनः प्रकट हुई। उसने फिर उसी प्रकार डरते-डरते पूछा-
‘साम्राज्ञी! दासी क्षमा चाहती है।’

इस बार चन्द्रनखा ने सुना। अनमने भाव से पूछा-

‘किस बात की क्षमा?’

‘लंकेश्वर का संदेश आया है।’

‘तो इसमें तुझे क्षमा माँगने की क्या आवश्यकता है?’

‘साम्राज्ञी के विश्राम में व्यवधान उपस्थित किया न दासी ने।’

‘क्षमा किया। क्या संदेश आया है?’

‘लंकेश्वर ने आपको लंका आमंत्रित किया है।’

‘मैं क्यों जाऊँ लंका? पहले स्वयं ही निष्कासित कर दिया अब आमंत्रित कर रहे हैं। भाग जा।’

दासी सारी हिम्मत सँजोए खड़ी रही। चन्द्रनखा ने करवट बदल ली। कुछ क्षण बाद सिर घुमाकर देखा, दासी अब भी खड़ी थी।

‘क्या है, गई नहीं अभी तक?’

‘साम्राज्ञी, संदेशवाहक भेंट की अनुमति चाहता है।’

‘अभी अवकाश नहीं है मुझे। अब भागती है अथवा कूकुरों के आगे फिंकवाऊँ?’

दासी के पास भाग जाने के अतिरिक्त कोई मार्ग नहीं था। कुत्तों से अपनी दुर्दशा करवाने का शौक किसी को नहीं होता।

संदेशवाहक को दूसरे दिन भेंट का अवसर प्राप्त हुआ ... संयोग से।

चन्द्रनखा आज कई दिन बाद अपने सभाकक्ष में उपस्थित हुई थी। दासियों से घिरी वह सभाकक्ष में पहुँची। कक्ष पूर्णतः रिक्त था। कोई सभासद नहीं था, वस्तुतः सभासद थे ही नहीं। खर के कुछ सहायक थे जो उसीके साथ रहते थे और सेनापति दूषण था। चन्द्रनखा को राजकाज में कोई रुचि नहीं थी। उसे चाटुकारों की संगति में भी कोई रुचि नहीं थी। सभाकक्ष विशाल था, भव्य था। द्वारों पर द्वारपाल सन्नद्ध खड़े हुए थे।

प्रवेश करते ही चन्द्रनखा ने पीछे-पीछे चल रही दासियों को आदेश दिया- ‘नृत्य का आयोजन करो।’

दासी ने हाथ जोड़कर मौन सहमति जताई और वैसे ही हाथ जोड़े-जोड़े बाहर निकल गई। कल वाली दासी भी साथ में उपस्थित थी। वह एक बार फिर साहस कर हाथ जोड़कर सामने खड़ी हो गयी और प्रतीक्षा करने लगी कि साम्राज्ञी की दृष्टि उस पर पड़ जाए। दृष्टि जल्दी ही पड़ गई।

‘क्या है?’ आज चन्द्रनखा का स्वर शांत था।

‘वह लंकेश्वर का संदेशवाहक भेंट की प्रतीक्षा कर रहा है।’

‘गया नहीं वह अभी तक?’

दासी वैसे ही हाथ जोड़े मौन खड़ी रही।

‘भाई के संदेशवाहक भी न ... भाई की भांति ही हठी होते हैं। बुलाओ, मिलना ही पड़ेगा। भेंट किए बिना वह दुष्ट जाएगा ही नहीं।’

दासी चली गयी किंतु वह संदेशवाहक को लेकर लौटती, उससे पूर्व ही खर और दूषण ने प्रवेश किया। उनके साथ राजकीय वेशभूषा में पाँच अन्य व्यक्ति भी थे। ये खर के सभासद अथवा मंत्री थे।

चन्द्रनखा का राजसभा में आगमन तो एक विशेष घटना होती थी। ऐसा भी कभी-कभी ही होता था कि वह खर-दूषण को अपने इस कार्यक्रम की पूर्व सूचना दे दे, इसीलिए वे भी कभी-कभी ही सभाकक्ष में आते थे। दूषण और शेष पाँचों मंत्री प्रायः सदैव ही उसके साथ रहते थे। अतः किसी भी विषय पर उनसे विचार-विमर्श करने के लिए किसी राजकीय आडम्बर की आवश्यकता नहीं थी। प्रजा उस दुर्गम, जनहीन प्रदेश में बहुत थी भी नहीं। जो थी, उसे अपने इन राज्याध्यक्षों से कोई प्रयोजन नहीं होता था। प्रजाजन जंगलों पर आश्रित थे। आपसी झगड़े अपने देसी अस्त्रों के दम पर स्वयं ही सुलझा लेते थे। कर जैसी कोई प्रणाली अस्तित्व में थी ही नहीं। जब भी आवश्यकता होती थी, जितनी भी आवश्यकता होती थी, दूषण के सैनिक बलात वसूल लेते थे। यूँ चन्द्रनखा का यह राज्य लंका के संरक्षण में था। दशानन की दुलारी बहन को जो भी आवश्यकता होती थी उससे दुगने की आपूर्ति पलक झपकते हो जाती थी।

आज भी किसी को सूचना नहीं थी कि साम्राज्ञी राजसभा को अपनी उपस्थिति से धन्य करेंगी। खर-दूषण को जैसे ही सूचना प्राप्त हुई वे सभी को लेकर बिना किसी विलम्ब के उपस्थित हो गये। संयोग से वे नगर में ही उपस्थित थे।

अभिवादन के आदान-प्रदान की राजकीय मर्यादाओं का निर्वहन हुआ। चन्द्रनखा ने किसी प्रकार इन औपचारिकताओं को झेला। इस सब के प्रति उसकी अनास्था उसके मुख पर स्पष्ट लिखी हुई थी।

इन लोगों के पीछे-पीछे ही संदेशवाहक ने भी प्रवेश किया। उसने भी वही सब क्रम दोहराया। चन्द्रनखा ने उसके अभिवादन का कैसा भी उत्तर देने का प्रयास नहीं किया। सीधा प्रश्न किया-

‘भाई कुशल से तो हैं?’

‘जी साम्राज्ञी!’

‘तो फिर कैसे आना हुआ तुम्हारा?’

‘सम्राट् ने संदेश भेजा है आपके लिए।’

‘तो संदेश बताते क्यों नहीं, व्यर्थ समय क्यों नष्ट कर रहे हो?’

‘जी सम्राट् ने आती एकादशी को एक वृहद उत्सव का आयोजन किया है। उन्होंने कहलवाया है कि यदि आप अपनी उपस्थिति से उत्सव को धन्य करेंगी तो उन्हें प्रसन्नता होगी।’

‘अर्थात्, चन्द्रनखा को मात्र उत्सव में सम्मिलित होने के लिए औपचारिक आमंत्रण है। भाइयों, भाभियों, बहनों और बच्चों से भेंट करने का कोई आत्मीय निवेदन नहीं है।’

‘ऐसा नहीं है साम्राज्ञी। वे सब तो आपका अपना परिवार हैं। उनसे तो आप साधिकार जब चाहें तब, कभी भी भेंट कर सकती हैं। उसके लिए भी भला किसी निमन्त्रण की आवश्यकता है?’ संदेशवाहक ने बात सँभालने का प्रयास किया, पर बात सँभली नहीं। ताड़का विद्रूप से बोली-

‘अर्थात्, मैं चाहूँ तो ... वे नहीं चाहते!’

‘जी ... जी ऐसा कदापि नहीं है। वे सब तो सदैव आपकी बाट जोहते हैं, किंतु’

‘क्या किंतु? वे यदि चन्द्रनखा से मिलने की आवश्यकता समझते होते, तो तुम्हें भेजने के स्थान पर स्वयं नहीं आ जाते, अपनी भगिनी को बुला रहे थे, किसी अन्य राज्य के राजा को नहीं?’

‘जी ... जी ...’ संदेशवाहक हकलाते हुए बस इतना ही कह पाया। उसे समझ ही नहीं आ रहा था कि ऐसा क्या कहा जा सकता है जिससे साम्राज्ञी क्रोधित न हों, जो बात उनके मन को भली लग सके।

उसे ही क्या किसी को भी तो यह समझ नहीं आता था। स्वयं रावण अथवा मंदोदरी को भी।

‘जाओ, कह देना भाई से कि चन्द्रनखा को अवकाश नहीं है।’

‘जी!’ उसने झुककर अभिवादन किया किंतु जाने के लिए मुड़ा नहीं।

‘अब खड़े मेरा मुख क्या ताक रहे हो? क्या प्रहरियों से धक्के लगवाने पड़ेंगे?’

‘न ... न ... नहीं। मैं जाता हूँ।’ कहते-कहते उसने पुनः झुक कर प्रणाम किया। खर-द्रूषण को प्रणाम किया और उल्टा चलता हुआ बाहर निकल गया।

सभी जानते थे कि चन्द्रनखा रावण के बुलावे पर अवश्य जाएगी। क्रोध दिखाएगी, रूठ कर दिखाएगी किंतु जाएगी। वहाँ जाकर प्रसन्न होगी किंतु फिर कोई न कोई बखेड़ा भी अवश्य खड़ा कर देगी। पर ये सारी बातें उससे कहने का अर्थ था मधुमक्खियों के छत्ते में हाथ डालना। अतः बात को दूसरी ओर मोड़ने के उद्देश्य से खर ने पूछा-

‘भगिनी आखेट को चलेगी?’

‘अवश्य!’ यह तो उसका प्रिय मनोरंजन था। बस अवसर नहीं मिलता था ... खर-द्रूषण अपने में व्यस्त रहते थे और ... और उसके स्तर का था कौन जिसके साथ आखेट का आयोजन करती! अकेले आखेट का कोई प्रयोजन नहीं था।

‘तुम नित्य ही आखेट का आयोजन क्यों नहीं करते?’ अचानक चन्द्रनखा ने खर से प्रश्न किया।

‘साम्राज्ञी, राजकीय दायित्व भी तो देखने होते हैं। किंतु अब ऐसा प्रयास करूँगा कि इन आयोजनों के मध्य अधिक अन्तराल न हो।’

‘हाँ, यही उचित होगा।’ चन्द्रनखा ने सहमति दी और उठ गयी। नृत्य के लिए आई नर्तकियों ने भी मुक्ति की साँस ली।

10- विष्णु-पद

सुन्दरवन में जो हुआ उससे राम को आत्मिक सन्तोष प्राप्त हुआ था। लक्ष्मण अत्यंत उत्साहित थे किन्तु उनके उत्साह के मूल में रोमांच था। उन्होंने पहली बार किसी बड़े अभियान में सक्रिय भागीदारी की थी। अभी तक तो गुरुकुल के आखेट के अभ्यास ही किए थे।

रोमांच राम ने भी अनुभव किया था किंतु वह उनकी प्रसन्नता के मूल में नहीं था। सम्पूर्ण क्षेत्र राक्षसों के आतंक से मुक्त हो गया था। प्रजा प्रसन्न थी, इसलिए राम भी प्रसन्न थे। अन्याय का प्रतिकार हुआ था इसलिए भी राम प्रसन्न थे और सबसे बड़ी बात धर्म की और आर्य-संस्कृति की पुनर्स्थापना हुई थी इसलिए राम अत्यंत प्रसन्न थे। व्यक्तिगत सोच में उन्हें रक्ष-संस्कृति से कोई विरोध नहीं था, उनका विरोध तो बलप्रयोग द्वारा किसी के आध्यात्मिक आचारों को नियन्त्रित करने से था। उनका विरोध तो व्यक्ति की नैसर्गिक स्वतंत्रता को अपहृत कर लेने से था।

तीन दिन के विशाल उत्सव के उपरांत राम और लक्ष्मण को थोड़ा सा एकांत-विश्राम प्राप्त हुआ। वे आश्रम के पिछवाड़े एकांत में निकल आए और एक पेड़ के नीचे बैठ गए।

‘भ्राता!’

‘हाँ?’ राम ने लक्ष्मण की ओर मुड़ते हुए प्रश्नवाचक दृष्टि से देखा।

‘यहाँ का कार्य तो सम्पादित हो गया। हमारे आगमन का उद्देश्य भी पूरा हो गया!’

‘यह तो ब्रह्मर्षि ही बता सकते हैं कि उद्देश्य पूर्ण हुआ अथवा अभी कुछ शेष है।’ राम ने सहजता से कहा।

‘अब क्या शेष हो सकता है?’

‘कहा न, इसका उत्तर तो ब्रह्मर्षि ही दे सकते हैं।’

‘तो पूछिये न उनसे!’

‘अरे, तुम प्रश्न करने में कबसे हिचकने लगे?’ राम ने हँसते हुए पूछा।

‘हिचकता नहीं हूँ, किंतु यहाँ आप नायक हैं।’

‘तुम नायक नहीं हो? सम्पूर्ण अभियान में तुम्हारी भूमिका मुझसे गुरुतर ही रही है।’

‘ऐसा नहीं है भ्राता। मात्र मैं ही नहीं कहा रहा, यहाँ सभी आपकी स्तुति कर रहे हैं।’

‘अच्छा उपहास बन्द करो अन्यथा अभी कान उमेठ दूँगा।’ राम ने बात को दूसरी ओर मोड़ने का प्रयास करते हुए कहा। अपनी प्रशंसा उन्हें सदैव संकुचित कर देती थी।

‘सत्य तो कह रहे हैं कुमार लक्ष्मण।’ यह स्वर पीछे से आया था।

दोनों ने मुड़कर देखा तो ऋषिवर न्यायप्रिय उनके पीछे ही खड़े थे। दोनों अचकचा कर उठ गए।

‘अरे! आप कब आए ऋषिवर?’ राम ने उन्हें प्रणाम करते हुए कहा- ‘विराजिए।’

लक्ष्मण ने भी प्रणाम किया। ऋषि ने दोनों को आशीर्वाद दिया और उन्हीं के पास भूमि पर बैठ गए।

‘तुम दोनों यहाँ एकान्त में बैठे हुए हो और वहाँ सम्पूर्ण नागरिक तुम्हें खोज रहे हैं। इधर भी आते ही होंगे।’

‘अरे ! किंतु किसलिए?’ राम ने आश्चर्य से पूछा।

‘किसलिए का क्या तात्पर्य ! अपने उद्धारक को कोई किसलिए खोजता है?’ ऋषि ने हँसते हुए कहा।

‘उद्धारक और हम? ऋषिवर, यह तो गुरुदेव का आशीष है। उद्धारक तो वही हैं। हमने तो मात्र उनका अनुसरण किया है।’

‘यही श्रेष्ठ पुरुषों का लक्षण है, श्रेय सदैव दूसरों को देना चाहते हैं।’

राम कुछ और प्रतिवाद करने जा ही रहे थे कि कोलाहल सुनाई देने लगा। देखा तो भारी भीड़ इधर ही चली आ रही थी। दोनों कुमार फिर अचकचा कर उठ बैठे। ऋषिवर उन्हें इस प्रकार हड़बड़ाते देख कर हँसने लगे।

‘अरे, हतप्रभ क्यों होते हो, वे सब तो तुम्हारा आभार प्रकट करने आ रहे हैं।’ ऋषि ने वातावरण को सहज करने के उद्देश्य से कहा किंतु अनजाने ही वे राम की असहजता को बढ़ा गए। राम के लिए ऐसे क्षण ही सबसे कठिन होते थे जब लोग उनका आभार प्रकट करते थे। वे कोई भी कार्य कर्तव्य मानकर करते थे, श्रेय लेने के लिए नहीं।

भीड़ निकट आ गई। दोनों कुमारों को देखते ही स्त्री-पुरुष, बाल-वृद्ध सब उनके पैरों में पड़ने लगे।

युवाओं तक तब भी ठीक था किंतु वृद्धों और कन्याओं को पैरों में पड़ते देख राम अत्यंत असहज हो उठे। वे हाथ जोड़कर बार-बार उनसे उठने का निवेदन करने लगे। असहज लक्ष्मण भी थे किंतु वे इस सम्मान का आनंद भी ले रहे थे।

‘संकुचित क्यों हो रहे हो वत्स, तुमने इनकी आतंक से रक्षा की है। तुम इनके संकटमोचन हो, वैसे ही जैसे विष्णु देवों के संकटमोचन होते हैं ... सदैव, प्रत्येक

आपत्तिकाल में।' अब तक स्वयं विश्वामित्र भी आ गए थे।

राम के मस्तिष्क में एकाएक पुनः गुरु वशिष्ठ का वह अंतिम वाक्य कौंध गया- 'याद रखो, तुम्हें सम्पूर्ण भारतभूमि पर सप्तम विष्णु के रूप में प्रतिष्ठित होना है।' उन्हें समझ आ गया कि गुरुदेव विश्वामित्र ने इसकी प्रस्तावना रख दी है। अब इस प्रस्तावना को महाकाव्य इस जनमानस को बनाना है। वे और अधिक संकुचित हो उठे।

उधर जनता ने विश्वामित्र का उद्घोष बिना एक भी क्षण गँवाये आत्मसात कर लिया।

‘राम स्वयं विष्णु हैं, ब्रह्मर्षि कह रहे हैं तो असत्य कैसे हो सकता है!’

‘हाँ यही बात है, अन्यथा वे राक्षस जो हमारे ऊपर भांति-भांति के अत्याचार किया करते थे, उनकी मति कैसे फिर गयी कि उन्होंने स्वयं अपने ही स्वामियों को मार भगाया।' एक श्रद्धालु ने अपनी सम्मति प्रकट की।

‘अरे, इसमें आश्चर्य क्या! जहाँ विष्णु होते हैं वहाँ उनके साथ उनकी योगमाया भी तो होती हैं। योगमाया के लिए किसी की भी मति फेर देना क्या कुछ कठिन है।' दूसरे व्यक्ति ने उस सम्मति को और विस्तार दिया।

‘निस्संदेह यही बात है। योगमाया ने प्रकीर्ण के सिर पर बैठ कर समस्त राक्षसों की मति फेर दी।' सम्मति ने और विस्तार प्राप्त किया।

‘देखते नहीं, बिलकुल विष्णु के समान ही रूप है। वैसा ही श्यामल वर्ण, वैसी ही मोहिनी मुस्कान, वैसा ही तेजस्वी आनन ...।' किसी महिला ने सम्मति पर अपनी पक्की मुहर ठोक दी।

कुछ ही पलों में यह सम्मति सम्पूर्ण आश्रम में प्रसारित हो गयी। जो जन इधर-उधर बिखरे हुए थे, वे भी भागते हुए चले आये। राम के चतुर्दिक विशाल भीड़ लग गयी। बाद में आने वालों को इस भीड़ के कारण अपने प्रभु के दर्शन प्राप्त नहीं हो पा रहे थे। आगे वालों को धकेल कर पीछे करने का प्रयास करने लगे - ‘हटो, तुम तो दर्शन प्राप्त कर चुके, हमें भी करने दो।'।

कुल मिलाकर धक्का-मुक्की का माहौल बन गया। मुहाँचाँवर होने लगी। बात बढ़ती देख अचानक लक्ष्मण को हँसी सूझी, उन्होंने झपटकर राम को अपने कंधे पर उठा लिया। सभी को सहजता से प्रभु के दर्शन प्राप्त होने लगे।

ब्रह्मर्षि ने सटीक टिप्पणी की- ‘शेषनाग पर विराजमान श्री विष्णु!'

इस टिप्पणी को भी जनमानस ने आत्मसात कर लिया।

‘विष्णु को कंधे पर उठाने की सामर्थ्य शेषनाग के अतिरिक्त और किसकी हो सकती है। निस्संदेह ये भी शेषनाग का ही अवतार हैं।'।

लक्ष्मण को अब इस खेल में विशेष रस प्राप्त होने लगा था। जब उन्होंने देखा कि अब वे भी अवतारी हो गए हैं, न सही किसी देवता के शेषनाग के ही सही, अवतार तो अवतार है। अकस्मात् न जाने किस भावना के वशीभूत, खेल-खेल में ही उन्होंने नारा उछाल दिया-

‘प्रभु श्रीविष्णु की जय!’

आस्था से बँधी भीड़ ने तुरन्त नारे को लपक लिया। प्रभु श्रीविष्णु के जयकारों से आकाश गूँजने लगा। ... थोड़ी देर में भीड़ ने स्वतः ही एक चूक का संज्ञान लिया और नारे को संशोधित कर लिया-

‘प्रभु श्रीराम की जय ! प्रभु श्रीराम की जय!! प्रभु श्रीराम की जय!!!

राम को लक्ष्मण की इस दुष्टता पर, अपने शांत स्वभाव के विपरीत, रह-रह कर क्रोध आ रहा था किंतु विवश थे। भीड़ में घिरे वे कुछ कर नहीं पा रहे थे। सबके बीच में लक्ष्मण को डाँट भी नहीं पा रहे थे।

बड़ी कठिनाई से राम लक्ष्मण के कंधे से उतर पाये।

देर रात तक यह प्रहसन चलता रहा। राम व्यथित थे। यह बलात् आरोपित देवत्व उन्हें बुरी प्रकार सता रहा था। उन्हें सर्वाधिक क्षोभ तो यह था कि स्वयं ब्रह्मर्षि भी उनकी इस अवस्था का आनंद ले रहे थे। कुछ ऋषिगण अवश्य इस सब से असंतुष्ट भी थे, किंतु उनकी सुनने वाला था ही कौन!

11- मिथिला की ओर

देर रात्रि जब प्रसन्न-वदन जन-समुदाय अपने-अपने घरों को लौट गया तब राम ने ब्रह्मर्षि से प्रार्थना की।

अपने स्वभाव से बँधे वे ऐसा करना नहीं चाहते थे, वे सहजभाव से गुरुदेव के आदेशों के अनुसार ही अपने कर्तव्य निर्धारित करना चाहते थे। वे दृढ़ थे कि जब गुरुदेव स्वयं आदेश देंगे कि अब तुम्हारा कार्य सम्पूर्ण हुआ, अब तुम अयोध्या वापस लौट सकते हो, तभी वे वापस लौटेंगे। इसीलिए कल लक्ष्मण के प्रस्ताव को उन्होंने लक्ष्मण पर ही टाल दिया था। किंतु अयाचित देवत्व के भार ने उन्हें प्रार्थना करने पर विवश कर दिया-

‘गुरुदेव!’

‘कहो वत्स!’ विश्वामित्र ने स्नेह से कहा।

‘यहाँ का कार्य तो सम्पन्न हो गया। राक्षसों का मूलोच्छेद हो गया। यज्ञकार्य निर्विघ्न सम्पादित होने लगा है।’

‘हाँ, तुम दोनों के प्रताप से ऐसा संभव हो सका है।’

‘हमारे प्रताप से नहीं गुरुदेव, आपके आशीर्वाद से। किंतु इस समय मैं दूसरा ...’

‘बोलो-बोलो, संकोच मत करो।’

‘अब यदि अनुमति हो तो ...’

‘स्पष्ट कहो न वत्स।’

‘गुरुदेव भ्राता पूछना चाहते हैं कि यदि अब आप अनुमति दें तो हम लोग वापस अयोध्या के लिए प्रस्थान करें। पिता और मातायें चिंता कर रही होंगी।’ लक्ष्मण ने बात को लपकते हुए कहा।

‘नहीं लक्ष्मण! अभी कुछ अन्य अत्यंत महत्वपूर्ण कार्य शेष हैं। अभी अयोध्या वापसी का समय नहीं हुआ है।’

‘जी गुरुदेव!’ लक्ष्मण का चेहरा लटक गया। जिज्ञासा भी हुई कि अब क्या शेष है। उन्होंने पूछ ही लिया- ‘वे कार्य क्या हैं गुरुदेव?’

‘समय आने पर स्वतः ज्ञात हो जाएगा। अब रात्रि हो गयी है, प्रातः ही हमें मिथिला की ओर प्रस्थान करना है अतः अब विश्राम करो।’

* * *

प्रातः ही ये लोग निकल पड़े।

‘गुरुदेव! मिथिला हम किस हेतु जा रहे हैं?’ मार्ग में लक्ष्मण ने जिज्ञासा प्रकट की।

‘महाराज सीरध्वज महान विद्वान और धर्मात्मा नृप हैं। उनके साथ कुछ धर्म-चर्चा हो जाएगी। तुम लोग भी मिथिला के दर्शन कर लोगे- पर्वतों की तलहटी में बसी अत्यंत सुन्दर नगरी है।’ कुछ रुककर विश्वामित्र ने आगे जोड़ा- ‘किंतु सबसे महत्वपूर्ण कारण तो यह है कि राम अपने देवत्व से असहज हो रहा है और किसी भी प्रकार से यहाँ से भाग निकलना चाहता है।’ कहकर गुरुदेव हँस पड़े।

‘प्रभु श्रीराम की जय!’ लक्ष्मण ने चंचलता से राम को चिढ़ाते हुए जयकारा लगाया। यह उसके मन का विषय था। गुरुदेव ने जैसे ही आगे बढ़ना आरम्भ किया, राम ने हँसते हुए लक्ष्मण की पीठ पर एक हाथ जड़ दिया।

‘आह! बहुत कसके लगा है भ्राता। आप ध्यान रखा कीजिए कि आप स्वयं श्रीविष्णु के अवतार हैं। आपका खेल-खेल में किया गया वार भी घातक होता है।’ लक्ष्मण ने अपनी पीठ सहलाने का अभिनय करते हुए शरारत जारी रखी।

‘तुम मानोगे नहीं?’ राम ने आँखें तरेरीं।

‘इसमें मानने, न मानने का प्रश्न ही कहाँ है भ्राता! सत्य तो सत्य ही रहेगा। उसे भला कैसे झुठलाया जा सकता है!’

‘इसका कथन सत्य है राम! तुम भले ही इसे स्वीकार न कर पाओ किंतु जनमानस ने पूरी आस्था के साथ इसे आत्मसात कर लिया है। सत्य को तुम जानते हो, लक्ष्मण जानते हैं, मैं जानता हूँ, ब्रह्मर्षि वशिष्ठ जानते हैं। किन्तु जनमानस की तुम्हारे उस सत्य में कोई आस्था नहीं है; उसकी आस्था तो बस उसकी आस्था में है। उसकी आस्था तुम्हारे देवत्व में है। अब इस आस्था को कोई डिगा नहीं सकता।’

‘परंतु गुरुदेव असत्य पर आधारित आस्था को हमें प्रश्रय नहीं देना चाहिए। उसका खंडन करना ही चाहिए।’ राम ने प्रतिवाद किया।

‘जानते हो, आस्था तर्कों और प्रमाणों की मुखापेक्षी नहीं होती। वह अपने विश्वास के पंखों पर उड़ती है ... और सातों आकाशों से ऊपर उड़ती है। आस्था को झुठलाने के लिए जितने तर्क किए जायेंगे, जितने प्रमाण प्रस्तुत किए जायेंगे, आस्था अपने पक्ष में उससे दुगने तर्क, दुगने प्रमाण उत्पन्न कर देगी। अतः अब इस संकोच से बाहर आने का प्रयास करो। अब इस देवत्व के साथ ही जीना तुम्हारी विवशता है। जीवन पर्यंत तुम इससे छुटकारा नहीं पा सकते ... और जीवन पर्यन्त ही क्यों, संभव है युग-युगान्तर तक तुम्हें इसके साथ जीना पड़े। हमारे इस धर्मप्राण और आस्थावान समाज में कहीं भी एक पत्थर रखकर उसपर दो फूल चढ़ा दो फिर देखो खेल, अधिक समय नहीं लगेगा जब पूरा गाँव उस पत्थर में किसी न किसी देवता को प्रतिरोपित कर उसे पूजने लगेगा।’ कहकर गुरुदेव एक क्षण के लिए रुके, पीछे मुड़कर राम को देखा।

उनके संकोच को लक्ष्य कर मुस्कुराये और स्नेह से उनकी पीठ थपथपाते हुए आगे कहना आरंभ किया-

‘तुम्हें क्या प्रतीत होता है कि आस्था का यह ज्वार सुन्दरवन तक ही सीमित रहेगा और तुम यहाँ से भाग कर इसमें भीगने से बच जाओगे? कदापि नहीं! अब तुम जहाँ भी जाओगे, आस्था का यह ज्वार तुम्हारे पीछे-पीछे जाएगा। कुछ ही समय में यह तुम्हारे आगे-आगे चलने लगेगा और समस्त भारतभूमि को अपने में समेट लेगा।’

राम के पास बोलने को कुछ था ही नहीं किन्तु लक्ष्मण प्रसन्न थे। उन्होंने एक बार फिर राम के कान के पास मुँह करके फुसफुसाया - ‘प्रभु श्रीविष्णु के अवतार श्रीरामचन्द्र जी की जय!’

राम बस उन्हें घूर कर रह गए।

तभी उन्हें विषय परिवर्तन करने का अवसर प्राप्त हो गया। दूर सामने एक भव्य नगरी के चिह्न दिखाई पड़ रहे थे। राम ने उसकी ओर संकेत करते हुए पूछा-

‘गुरुदेव वह भव्य सी दिखाई देने वाली नगरी कौन सी है?’

इस प्रश्न ने सच ही राम को उबार लिया। विश्वामित्र उस क्षेत्र का इतिहास बताने में व्यस्त हो गए।

उस रात्रि सोणभद्र के तट पर विश्राम हुआ।

अयोध्या से सिद्धाश्रम तक की यात्रा में ऋषिवर का सम्पूर्ण ध्यान शीघ्रता पूर्वक गन्तव्य तक पहुँचना ही था। मार्ग में उन्होंने बहुत कम ही वार्ता की थी, बस चलते रहने पर ध्यान केन्द्रित किया था। उसके विपरीत सिद्धाश्रम से मिथिला की यात्रा में वे भरपूर वार्ता करते हुए चल रहे थे। अपने कुशिक वंश के इतिहास से आरम्भ कर उन्होंने इक्ष्वाकु वंश का इतिहास बताना आरम्भ कर दिया। सगर के पुत्रों के भस्म होने से आरंभ करते हुए कालांतर में भगीरथ के प्रयत्नों से गंगा के पृथ्वी पर अवतरण तक की कथा सुना डाली। फिर महर्षि कश्यप से देवों, दानवों और दैत्यों की उत्पत्ति तथा उनके विवाद की कथा, सागर-मंथन की कथा और इसके साथ अन्य भी अन्यान्य कथाओं में मार्ग कब कट गया पता ही नहीं चला। दोनों कुमार इन कथाओं में खोये चलते रहे। रात्रि-विश्राम के समय भी कोई न कोई प्रकरण छिड़ ही जाता और विश्वामित्र कथायें सुनाने लगते।

अंततः ये यात्री मिथिला पहुँच गए।

मिथिला में प्रवेश करते ही एक सुन्दर सा किंतु फिर भी उजाड़ सा दिखता आश्रम दिखाई पड़ा। विश्वामित्र उस आश्रम के निकट ही एक वृक्ष के नीचे कुछ देर के लिए बैठ गए। अब तक मार्ग में ऐसा उन्होंने एक बार भी नहीं किया था कि सूर्यास्त से पूर्व ही कहीं अचानक रुककर बैठ गए हों।

गुरुदेव का इस प्रकार बैठ जाना कुमारों के लिए अप्रत्याशित था। वे दोनों भी बैठ गए। दोनों ने आँखों ही आँखों में एक-दूसरे से पूछा कि कुछ कारण समझ आया क्या? किंतु दोनों को ही कुछ समझ नहीं आया था। राम ने लक्ष्मण को संकेत किया कि पूछें क्या कारण है। लक्ष्मण ने कंधे उचका दिए और गहन निरीक्षण करती दृष्टि से आश्रम को निहारने लगे। अंततः राम ने ही प्रश्न किया-

‘गुरुदेव! यह रमणीक स्थान, दिखने में तो किसी आश्रम सा ही प्रतीत होता है किंतु यह इस प्रकार निस्तब्ध-जनशून्य सा क्यों पड़ा है? यहाँ ऋषि-मुनियों की कोई भी गतिविधि क्यों नहीं दृष्टिगोचर हो रही?’

गुरुदेव तो मानो यहाँ पर रुके ही मात्र इसलिए थे कि राम यह प्रश्न पूछें। उन्होंने बताना आरंभ किया-

‘वत्स! यह महर्षि गौतम का आश्रम है। षड्दर्शन में से एक न्यायदर्शन के प्रतिपादक महर्षि गौतम महान योगी और चिंतक होने के साथ-साथ अत्यंत श्रेष्ठ आयुध-विशारद भी हैं। उनकी विदुषी पत्नी ‘अहल्या’ पंचकन्याओं में एक हैं। उनका पुत्र ‘शतानन्द’ सीरध्वज जनक का राजपुरोहित है और पुत्री अंजना वानरराज बालि के सेनापति केसरी की पत्नी है। ... और इसके बाद वे गौतम-अंजना की पूरी कथा सुनाते चले गए। इंद्र द्वारा अहल्या के साथ सहवास और उसके उपरांत गौतम द्वारा अहल्या का परित्याग और स्व-निर्वासन (देखें : पूर्व-पीठिका) तक का सम्पूर्ण वृत्तांत उन्होंने कुमारों को कह सुनाया।

कुछ काल तक दोनों कुमार स्तब्ध बैठे रहे। लक्ष्मण के चेहरे पर आक्रोश स्पष्ट झलक रहा था। लक्ष्मण बोलने जा ही रहे थे कि राम उन्हें रोकते हुए स्वयं बोल पड़े-

‘यह उचित तो नहीं हुआ गुरुदेव। देवेन्द्र और देवी अहल्या के मध्य जो भी हुआ वह अनुचित था किंतु मुख्य अपराधी तो देवेन्द्र ही हैं फिर दण्ड मात्र देवी को ही क्यों भोगना पड़ा?’

‘इसे संभवतः स्वयं महर्षि गौतम ने भी अनुभव कर लिया था तभी तो उन्होंने स्वेच्छा से अपने लिए भी एक प्रकार से वही दण्ड स्वीकार किया जो उन्होंने देवी अहल्या को दिया था।’

‘किंतु प्रश्न तो यह है कि देवराज के सामाजिक बहिष्कार का आवाहन क्यों नहीं किया महर्षि ने? महर्षि ने नहीं किया था, उन्होंने देवराज को दण्ड प्रहार कर ही छोड़ दिया था तो जगत के अन्य विद्वत-समाज ने क्यों नहीं देवराज का बहिष्कार किया? वे तो आज भी सर्वत्र उसी भांति पूज्य हैं। वे तो आज भी यज्ञों में हव्य ग्रहण करते हैं। क्यों है ऐसा?’

‘तुम्हारे आरोप पूर्णतः उचित हैं वत्स! किंतु अब हम समय के चक्र को विपरीत दिशा में नहीं घुमा सकते। जो घटित हो चुका वह तो हो ही चुका है। इस समय चिन्तनीय यह है कि अब क्या करणीय है?’

‘इसमें भी क्या कोई संशय है, गुरुदेव?’ लक्ष्मण ने हस्तक्षेप किया- ‘देवी के सामाजिक बहिष्कार का विरोध करना, उसे समाप्त करवाना ही करणीय है।’

‘तो वत्स! इसी उद्देश्य से मैं तुम दोनों को यहाँ लेकर आया हूँ।’

‘किंतु इसमें हम क्या कर सकते हैं? यह कार्य तो सम्पूर्ण ऋषि समुदाय का है। महर्षि गौतम के निर्णय में हस्तक्षेप करने की सामर्थ्य हमारी कहाँ है?’

‘प्रश्न महर्षि गौतम का नहीं है। प्रश्न तो अन्याय के प्रतिकार का है। अन्याय तो सदैव सामर्थ्यवान ही करता है। अन्याय के प्रतिकार के लिए सामर्थ्यवान के विरुद्ध ही तो खड़ा होना पड़ता है।’

‘तब भी गुरुदेव ... यह कार्य तो आप मनीषियों द्वारा ही सम्पादित होने योग्य है। निर्णय तो आप ही लेंगे, हम लोग आपके निर्णय के सम्पूर्ण क्रियान्वयन का दायित्व लेते हैं।’

‘परित्याग का निर्णय महर्षि गौतम का था, उसे वापस भी वही ले सकते हैं। अपने निर्णय के अनौचित्य का भान उन्हें स्वयं भी हो गया था तभी तो उन्होंने स्वयं अपने पर भी स्वेच्छा से समान दण्ड आरोपित कर लिया और हिमालय की कन्दराओं में एकान्तवास के लिए चले गए। उनकी अनुपस्थिति में विश्व ने उनके निर्णय को अन्यायपूर्ण ढंग से मान्यता प्रदान की हुई है। अब महर्षि के निर्णय पर टीका-टिप्पणी का समय नहीं है, अब तो विश्व की इस अन्यायपूर्ण मान्यता को नकारने का है। तुम्हारे समान मैं भी इसे नकारता हूँ।’

‘तब फिर विरोध में आप ही स्वर क्यों नहीं उठाते?’

‘किसके विरोध में स्वर उठाना है, महर्षि के ... जो संसार का त्याग किए बैठे हैं, क्या लाभ होगा उसका? मेरी बात को समझने का यत्न करो, महर्षि के द्वारा निर्धारित किए गए दण्ड के औचित्य पर विचार करने का समय व्यतीत हो चुका है। अब समय है स्वयं देवी अहल्या को इसके लिए मनाने का।’

‘तात्पर्य गुरुदेव?’

‘देवी विदुषी हैं, तेजस्विनी हैं साथ ही मानिनी भी हैं। उन्होंने महर्षि द्वारा दिए गए दण्ड को पूरी गरिमा के साथ अंगीकार किया है। देवी यदि स्वयं इस बहिष्कार का विरोध करतीं तब किसमें साहस था जो उनके सम्मुख प्रतिरोध में खड़ा रह पाता! वे स्वयं इस बहिष्कार को स्वीकार किए हुए हैं। यदि इसे समझ सको तो यह महर्षि और देवी के मध्य अहं का टकराव है। महर्षि का पक्ष अन्यायपूर्ण है, इसे महर्षि ने

किसी अन्य के सम्मुख भले ही स्वीकार न किया हो, किंतु स्वयं तो स्वीकार किया है। उनका स्वनिर्वासन इसका प्रमाण है। दूसरी ओर यदि समाज ने देवी का बहिष्कार किया हुआ है तो देवी भी समाज का बहिष्कार किए हुई हैं। यह उनका मान है। इस मान का प्रतिकार स्वयं महर्षि गौतम कर सकते हैं किंतु वे तो अनुपलब्ध हैं?’ कहकर गुरुदेव ने प्रश्नवाचक दृष्टि से राम की ओर देखा।

‘तब गुरुदेव! क्या करणीय है? समाज को कैसे विवश किया जा सकता है, देवी का बहिष्कार समाप्त करने के लिए?’

‘तुम अब भी नहीं समझे मेरी बात।’

राम ने प्रश्नभरी दृष्टि से गुरुदेव को देखा।

‘प्रश्न समाज द्वारा देवी का बहिष्कार समाप्त करने का नहीं है, अब प्रश्न देवी के आहत दर्प द्वारा समाज को स्वीकार करने का है।’

‘तो आप ऋषिगण उन्हें मनाने का प्रयास क्यों नहीं करते?’

‘हम नहीं कर सकते।’ विश्वामित्र के अधरों पर क्षणांश के लिए एक विवश सी मुस्कान उतरी और विलुप्त हो गयी- ‘समतुल्यों के साथ मान अधिक उग्र हो जाता है। फिर एक युग व्यतीत हो चुका है देवी को इस प्रकार एकाकी-अभिषप्त जीवन व्यतीत करते। प्रत्येक बीतते क्षण के साथ उनका मान और भी प्रखर होता जा रहा है। वे हमारे ऐसे किसी अनुरोध को स्वीकार ही नहीं करेंगी।’

‘बिना प्रयास किए ही आप ऐसा कैसे मान सकते हैं गुरुदेव?’

‘मानव मन को समझने की सामर्थ्य है विश्वामित्र में, अन्य ऋषियों में भी है।’

‘तब?’ लक्ष्मण ने प्रश्न किया।

‘देवी को मनाने की सामर्थ्य मात्र एक व्यक्ति में है, और वह है राम!’ गुरुदेव ने मुस्कुराते हुए कहा।

लक्ष्मण भी मुस्कुरा उठे।

गुरुदेव आगे बोले-

‘अन्य किसी में यह सामर्थ्य नहीं है कि देवी के मान को झुकाकर उनके वात्सल्य को उभार सके। अन्य किसी की भी प्रार्थना के उत्तर में देवी वही प्रश्न करेंगी जो अभी राम ने किया था- ‘मुख्य अपराधी तो देवेन्द्र हैं तब दण्ड मात्र उन्हें ही क्यों भोगना पड़ा?’

‘मुझसे नहीं करेंगी?’

‘क्यों करेंगी भला? तुम तो तब अस्तित्व में ही नहीं थे।’

‘तब क्या वे यह हठ नहीं करेंगी कि स्वयं महर्षि गौतम ही आयें ... ?’

‘करेंगी, निश्चय ही करेंगी। किन्तु यह क्यों भूल जाते हो कि नारी को प्रकृति का सबसे बड़ा वरदान उसका मातृत्व है और इस मातृत्व से वात्सल्य अनुप्राणित होता है। जगत में एकमात्र तुम हो जो उनके वात्सल्य को इस सीमा तक जाग्रत कर सकते हो कि वह उनके मान को पराजित कर दे।’

‘एकमात्र मैं ही क्यों गुरुदेव, उनका पुत्र और उनकी पुत्री भी तो हैं।’

‘प्रथम तो अपने माता-पिता के द्वन्द्व में किंकर्तव्यविमूढ़ वे इस विषय में कोई निर्णय लेने में सक्षम ही नहीं हैं। यदि वे सक्षम हो भी जायें तो वे देवी का अपना रक्त हैं। अपने रक्त के साथ तो मान और भी प्रबल हो उठता है।’

दोनों कुमारों के सिर स्वयं ही सहमति में हिल उठे।

‘अब इस विचार-मंथन में समय नष्ट मत करो। इस गुरुतर दायित्व के निर्वहन हेतु प्रस्थान करो। दोनों जाओ ... किंतु लक्ष्मण, कमान राम को ही सँभालने देना। तुम्हारे चरित्र में ओज प्रधान है किंतु यहाँ ओज की आवश्यकता नहीं है। यहाँ राम की सहज-स्वाभाविक विनम्रता और धैर्य ही कार्य सम्पादित करेंगे। ... जाओ अब ...

‘शुभास्ते पंथानः सन्तु!’ गुरुदेव ने आशीर्वाद दिया।

12- अहल्या-उद्धार ?

‘आओ राम! मैं तुम्हारी ही प्रतीक्षा कर रही थी।’ अहल्या ने आश्रम में राम के प्रवेश करते ही सहज वात्सल्य से परिपूर्ण स्वर में कहा।

राम प्रवेश करते ही अहल्या के चरणों में दंडवत हो गये। उनके पीछे आ रहे लक्ष्मण ने भी उनका अनुसरण किया।

‘उठो पुत्र!’ अहल्या दोनों को उठाती हुई बोली- ‘यशस्वी भव!’

‘माता! मैं अत्यंत लज्जित हूँ।’ उठने से पूर्व ही राम बोले- ‘आपके सम्मुख दृष्टि उठाने का साहस नहीं हो रहा है मुझे....’

‘तुम क्यों लज्जित हो वत्स? तुम तो अहल्या के दुर्भाग्य के सम्पूर्ण कथानक में कहीं हो ही नहीं।’

‘माता! मैं भी तो उसी समाज का प्रतिनिधि हूँ जिसने आपके प्रति अपराध किया। मैं भी तो उसी पुरुष सत्ता का प्रतिनिधि हूँ जिसने आपके साथ अत्याचार किया।’

‘हाँ! यह तो है। किंतु क्या अपने गुरुदेव को कुटिया से बाहर ही खड़ा रखोगे। अथवा वे अभी भी अहल्या को त्याज्य समझते हैं?’ अहल्या का स्वर एकरस प्रवाहित मद्धम समीर सा शांत था। किंतु इस सहज स्वर ने ही राम को असहज कर दिया। स्वयं को संयत करते हुये बोले-

‘कैसी बात कर रही हैं माता! यदि गुरुदेव आपको त्याज्य ही मानते होते तो हमें यहाँ लेकर क्यों आते?’ फिर लक्ष्मण का कंधा थपथपाकर बोले- ‘जाओ लक्ष्मण, गुरुदेव तक माता का संदेश पहुँचा तो दो तनिक।’

गुरुदेव तो आश्रम के बाहर ही थे। आने में विलम्ब नहीं लगा। इस समय आश्रम में बनी इस छोटी सी कुटिया में अहल्या अकेली ही थी। मंगला को उसने दूर उपवन से कुछ विशिष्ट फल और पुष्प लाने भेज दिया था। संभवतः वे उसे अभी इन लोगों के दृष्टि में नहीं आने देना चाहती थीं।

विश्वामित्र के प्रवेश करते ही अहल्या परिहास सा करती हुई, उसी संयत स्वर में बोली-

‘आइये महर्षि ... नहीं-नहीं ब्रह्मर्षि! स्वागत है आपका समाज द्वारा परित्यक्ता अहल्या की इस कुटिया में।’

विश्वामित्र ने हाथ जोड़ कर अहल्या का अभिवादन किया, परिहास के उत्तर में कुछ नहीं बोले तो अहल्या ने ही बात आगे बढ़ाई-

‘देखिये तो ब्रह्मर्षि, यह राम लज्जित है। किंतु खेल तो देखिये ... यह उस अपराध के लिये लज्जित है जिसे आप जैसे विद्वान अपराध समझते हैं। उस वास्तविक अपराध के लिये तो कोई भी लज्जित नहीं है जो वस्तुतः हुआ है।... और इस नादान को तो उसका ज्ञान भी नहीं है।’ वे हल्के से हँसीं किंतु इस हँसी में कतई आवेश नहीं था- ‘फिर भी लज्जित है।’

‘देवि! विश्वामित्र उसके लिये भी लज्जित है किंतु उसका प्रतिकार तो संभव नहीं है न! जिस अपराध का प्रतिकार संभव है उसी के लिये यह राम आपके सम्मुख उपस्थित हुआ है।’ विश्वामित्र का स्वर भी सदैव की भाँति शांत था।

‘अपराध का प्रतिकार यह बालक करेगा?’ अहल्या विस्मय का प्रदर्शन करते हुये मंद हास्य से बोली- ‘यह कार्य तो आप जैसे मनीषियों को करना चाहिये था। उसी समय करना चाहिये था जब यह हुआ था।’

‘देवि! विश्वामित्र तो उस समय उद्धत युवराज था ... दंभी ... मदांध ... भोगलिप्सा में आकंठ डूबा हुआ, उसे इन बातों पर विचार करने का अवकाश ही कहाँ था!’

‘और वह सीरध्वज ... विदेहराज जनक, ब्रह्मज्ञानी, ... और समस्त मुनिगण ... इन सब में भी साहस नहीं हुआ प्रतिकार करने का?’

‘आंशिक सत्य है आपका आरोप। किसी में साहस नहीं हुआ किंतु प्रतिकार करने का नहीं, आपके सम्मुख आने का। किस मुँह से आते?’

‘मैं उस गुरुतर अपराध की बात कर रही हूँ।’

‘मैंने कहा न कि उसका प्रतिकार संभव नहीं है।’

‘ओह!’ अहल्या भौंहे उठाकर बोली और हँस पड़ी। ‘और इसके लिये भी आप इस बालक की ओट में छिपकर प्रस्ताव लाये हैं।’

‘किस मुख से आते? और क्या आप तब हमारा प्रस्ताव स्वीकार कर लेतीं?’

अहल्या ने कुछ क्षण विश्वामित्र की आँखों में झाँका फिर बोली-

‘नहीं!’

‘किंतु मुझे विश्वास है कि आपका वात्सल्य इस बालक के अनुरोध को स्वीकार कर लेगा। और देवि! यह साधारण बालक’

‘हाँ! हाँ!’ अहल्या बात काटते हुये उसी हास्य से बोली- ‘मुझे ज्ञात है, यह अब विष्णु है ...’ फिर कटाक्ष करते हुये जोड़ा - ‘सप्तम विष्णु!’

कुछ पल मौन रहा, तदुपरांत अहल्या ने ही मौन तोड़ा-

‘तो राम! जब तुम्हें आर्यावर्त के योद्धाओं और ज्ञानियों ने सर्वश्रेष्ठ स्वीकार कर ही लिया है तो रखो भाई अपना प्रस्ताव! अकारण विलंब क्यों कर रहे हो?’

अहल्या के विनोद से राम सकुचा गये किंतु स्वयं को संयत करते हुये बोले-

‘माता! मैं इक्ष्वाकुवंशी राम आपको पुनः सम्मान से समाज में प्रवेश करने हेतु निवेदन करता हूँ।’ कहते-कहते अचानक उनके स्वर में वीरोचित आवेश आ गया- ‘यदि कोई भी पुनः आपके प्रति कोई अभद्रता करेगा तो उसे राम का शर अपने वक्ष पर झेलना होगा। यदि ...’

‘शांत ... शांत राम!’ अहल्या फिर हँस पड़ी। जैसे राम ने कोई बचपना कर दिया हो। फिर अपने उसी सहज-शांत स्वर में बोली- ‘अहल्या क्यों जाये कहीं? अहल्या तो किसी को त्याग कर आयी नहीं थी। त्याग कर तो तुम्हारा समाज गया था। उसे यदि अहल्या की आवश्यकता हो तो वह आये अहल्या के पास ... जैसे तुम आये हो, जैसे ब्रह्मर्षि आये हैं।’

‘सब आयेंगे माता। किंतु आप ...’

‘न न राम! अहल्या से चलने की अपेक्षा मत करना। अहल्या तो अब प्रकृति के साथ एकाकार हो गयी है। वस्तुतः प्रकृति ही तो उस अनादि-अविनाशी, रूप-रस-गंध हीन अशरीरी ब्रह्म का दृश्य शरीर है। वही तो सर्वोच्च सत्ता है। इस सत्ता की समानता करने की सामर्थ्य किसे है .. तुममें है क्या?’

‘नहीं माता!’

‘जब सब ने अहल्या को त्याग दिया था, तब इसी सर्वोच्च सत्ता ने उसे अपनी गोद में स्थान दिया। उसे अपने साथ एकाकार कर लिया। अहल्या भी अब उसी की भाँति तुम्हारे समस्त ज्ञान, तुम्हारे समस्त स्वत्व, तुम्हारे समस्त अहं से बहुत ऊपर अवस्थित है। वह भी अब समस्त कर्मेन्द्रियों-ज्ञानेन्द्रियों के पाश से मुक्त है, समस्त भावनाओं से अप्रभावित है। तो भला अब वह इस सर्वोच्चता से नीचे कैसे उतर आये? इस एकांत परमानंद को कैसे त्याग दे? उसे पुनः उन्हीं क्षुद्र दैहिक प्रलोभनों में बाँधने का प्रयास मत करो।’

कोई कुछ नहीं बोला तो अहल्या पुनः बोली-

‘मैं स्वीकार करती हूँ कि उस एक क्षण में मेरे मन में भी गर्व का संचार हो गया था- ‘अरे! स्वयं देवराज मेरे रूप के जाल में आबद्ध हैं।’ ... और मैंने उनके रमण के प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया था। किंतु मेरा अपराध क्या इंद्र के अपराध से गुरुतर था? उसका त्याग किसने किया? उसे आज भी उसी सम्मान से आप सब हव्य समर्पित करते हैं, क्यों ब्रह्मर्षि?’

‘देवि!’ विश्वामित्र ने कुछ कहना चाहा किंतु अहल्या हँसकर हाथ के संकेत से उन्हें रोकते हुये बोली-

‘भले ही प्रकृति से एकाकार हो गयी हूँ किंतु हूँ तो मानवी ही। मानव प्रकृति का कुछ अंश तो बना ही रहेगा। आज कितने काल उपरांत तो कोई श्रोता मिला है ... इस

अवसर को व्यर्थ कैसे जाने दूँ! आज तो मुझे ही कहने दीजिये।’

विश्वामित्र भी मुस्कुराकर चुप हो गये।

‘इंद्र की तो प्रकृति ही लम्पट है। कितने अपकृत्य गिनाऊँ ! आरुणि के गर्भ में बालि को रोप दिया और फिर लाकर हमें थमा दिया ‘लो पालन करो इसका।’ ... और आपके सूर्य देव, ... उन्होंने भी उसी आरुणि के गर्भ में सुग्रीव को रोप दिया और फिर लाकर हमें थमा दिया ‘लो इसका भी पालन करो। इनके इन कृत्यों को दंडित न सही, उनका प्रतिरोध भी करने का प्रयास किया कभी किसी ने?’

अहल्या ने एक बार सबके मुख की ओर मुस्कुराकर देखा। लक्ष्मण तो मंत्रमुग्ध से उसे निहार रहे थे।

‘अच्छा, एक प्रश्न पूछूँ आपसे ब्रह्मर्षि?’

‘आपको क्या अनुमति की आवश्यकता है?’

‘माना मैंने अपराध किया था, किंतु क्या मेरा अपराध गौतम के अपराध से भी बड़ा था?’

‘महर्षि का अपराध?’ विश्वामित्र चकित से बोले- ‘उन्हें तो आप पर स्वयं से भी अधिक विश्वास था। वह विश्वास टूटते देख आवेश में वे आपको ...’

‘ओह ब्रह्मर्षि !’ अहल्या पुनः उनकी बात बीच में ही काटते हुए बोली- ‘मैं तो समझती थी कि आप ब्रह्मज्ञानी हैं। आप समझ रहे होंगे मेरा इंगित, किंतु ...! अच्छा दूसरे प्रश्न का उत्तर दीजिए।’ विश्वामित्र के उत्तर की अपेक्षा किए बिना वह बोलती ही रही-

‘यदि मैं पुत्र-तुल्य अपने पालित बालि-सुग्रीव के साथ रमण करने लगूँ तो?’

इतनी भयंकर बात भी अहल्या ने उसी शांत-सहज स्वर में उसी सम्मोहक स्मित के साथ कह डाली थी ... किंतु विश्वामित्र उसकी बात से सहज नहीं रह पाए-

‘क्या कह रही हैं देवि! आपके मुख से ऐसा सुनना भी पाप है।’

‘तो फिर जब गौतम ने अपनी पुत्रीवत पालिता, मुझे, अपनी भोग्या बना लिया तब ... ? मेरे मुख से ऐसी बात सुनना भी पाप है और उनका ऐसा करना पुण्य था?’ अहल्या का स्वर भले ही पूर्णतः शांत था किंतु एक-एक शब्द जैसे तीक्ष्ण शर सा मारक था।

इस आघात से विश्वामित्र हिल गए, किंतु फिर भी प्रतिवाद करने का प्रयास किया- ‘किंतु देवि ! उसमें तो आपकी भी सहमति थी!’

‘मेरी सहमति? कैसी सहमति??’ अहल्या फिर हँसी- ‘मेरी सहमति-असहमति अथवा इच्छा-अनिच्छा का प्रश्न ही कहाँ था! मुझे तो एक निर्जीव वस्तु की भाँति, जिसके हृदय में कोई भावना ही न हो, जिसके मन में कोई आकांक्षाएँ ही न हों,

जिसके नयनों में कोई स्वप्न ही न हों ... बस उठाकर, स्वयं मेरे ही पालक पिता को भोगने के लिए दे दिया गया था ... बिना एक बार भी मुझसे पूछे। ब्रह्मर्षि! प्रस्ताव तो मात्र ऋषिवर के समक्ष रखा गया था ... और ... और उन्होंने प्रस्ताव को स्वीकार भी कर लिया था। बिना किसी तर्क के, बिना किसी प्रतिवाद के ... स्वेच्छा से। और भी विसंगति देखिए ब्रह्मर्षि! ऐसा असंगत प्रस्ताव रखा किसने था ... स्वयं मेरे सर्जक, मेरे पिता ने ... स्वयं आप सबके पितामह ब्रह्मा ने।' अचानक अहल्या कुछ खुलकर हँसी। उसकी हँसी तीव्रतर होती रही, फिर अचानक एक झटके से रुक भी गयी। उसने पुनः विश्वामित्र से प्रश्न किया-

‘अच्छा ब्रह्मर्षि! मेरी माता के विषय में कुछ ज्ञात है आपको? आपको क्या, किसी को भी ज्ञात है? ... किसी को भी नहीं ज्ञात कुछ भी ... स्वयं आपके पितामह को भी ज्ञात नहीं होगा ... किसी ने कभी पूछा भी नहीं उनसे!

‘इतने सारे ... कहाँ तक गिनाऊँ ... जीवन छोटा पड़ जाएगा गिनाते-गिनाते, पापों को धूलि-कण के समान हवा में उड़ा दिया गया। सारे पापी समाज में सम्मानित बने रहे, पूज्य बने रहे और इन सबके मध्य मैं हो गयी - कुलटा, कुलच्छिनी, व्यभिचारिणी, पापी धन्य हैं प्रभु आप, धन्य है आपकी लीला। भर पायी अहल्या आपके इन कौतुक-कृत्यों से!’

विश्वामित्र जैसे धीर-गंभीर ब्रह्मर्षि भी विचलित हो गए थे। किंतु विचलित होने से तो निष्कर्ष नहीं निकलने वाला था। जिस अपराध के परिमार्जन हेतु वे आए थे, यहाँ तक आकर उसके लिए प्रयास को त्यागा नहीं जा सकता था। धीरे से बोले-

‘देवि! देवि!! ... आपके इसी तेज के भय से तो आज तक किसी को आपके सम्मुख आने का साहस नहीं हुआ। किंतु अब शांत हो जाइये। इन समस्त पापों का प्रतिकार आपका वात्सल्य ही कर सकता है। आपके वात्सल्य से पोषित राम ही कर सकता है। उसका अनुरोध स्वीकार कर लीजिए। क्या आपको उसकी शुभेच्छा पर संदेह है? क्या आपको उसकी न्यायप्रियता पर संदेह है? क्या आपको उसकी सर्वजनहिताय प्रवृत्ति पर कोई संदेह है?’

‘नहीं है ब्रह्मर्षि! मैं जानती हूँ अत्यंत चतुर हैं आप। आपने ऐसे मोहरे को आगे बढ़ाया है जिसकी कोई काट ही नहीं है। किसी के भी प्रति छोटे से भी अन्याय से जो विचलित हो जाता है, किसी के प्रति अन्याय की संभावना को भी दूर करने के लिए जो स्वयं अपने लिए ... अपनों के लिए; बड़े से बड़ा अन्याय स्वीकार करने को सहर्ष तत्पर हो जाता है ... त्रिलोक में एकमात्र ही तो ऐसी विभूति है ... इसे भला अहल्या निराश कैसे कर सकती है। किंतु ...’

‘अब किंतु को त्याग दीजिए देवि! महर्षि ने मात्र आवेश में आपके लिए दंड की घोषणा’

‘ओह ब्रह्मर्षि! महर्षि को बारम्बार बीच में क्यों ले आते हैं! उन्होंने तो जितना दंड मुझे दिया था उतना ही, अथवा उससे भी अधिक स्वेच्छा से स्वयं भी स्वीकार कर लिया। मैं तो इस सुरम्य प्रकृति की गोद में थी ... किंतु वे तो अस्थियों तक को गला देने वाली हिमाद्रि की उपत्यकाओं में अपना प्रायश्चित्त कर रहे हैं।’

‘देवि ...’

‘ब्रह्मर्षि ... मुझे अपना कथन पूर्ण करने दीजिए। अकारण बीच में ही टोक देते हैं।’ विश्वामित्र चुप ही रहे।

‘अब तो नहीं टोकेंगे बीच में?’

‘जब तक आप अनुमति नहीं देंगी ... तब तक कदापि नहीं।’ विश्वामित्र ने सस्मित उत्तर दिया।

‘तो राम! तुम्हारी यह लोकरंजन की प्रवृत्ति अत्युत्तम है ... किंतु इसमें तनिक सा बदलाव लाना पड़ेगा अन्यथा मैं देख रही हूँ आगत में लोक को संतुष्ट करने हेतु तुम बारम्बार अपनों के प्रति अन्याय करोगे। ... और फिर उन्हीं लोकहित के कृत्यों के उपहार स्वरूप बारम्बार लोकापवाद का भी सामना करोगे। इस क्षुद्र जीवन की समाप्ति के उपरांत भी ... अनन्त काल तक तुम्हारी ख्याति के साथ ये लोकापवाद भी जुड़े रहेंगे।’

‘सम्पूर्ण प्रयास करूँगा माते!’

‘नहीं कर पाओगे वत्स! सबसे बड़ा अन्यायी तो यह विधि का विधान ही है। तुम्हारे मस्तक पर इसने यही लिख रखा है। इसे कोई नहीं मेट पाया है, अहल्या भी नहीं मेट पायी, तुम भी नहीं मिटा पाओगे। फिर भी प्रयास करने में बुराई भी क्या है! नहीं?’

‘जी माता।’

‘हाँ ब्रह्मर्षि! अब आप निर्विघ्न अपनी बात रख सकते हैं। स्वागत है ...’ कहते हुए अहल्या मुस्कुराई।

‘देवि! शतानंद को सूचना है, वह आता ही होगा।’

‘शता ...’ अहल्या जैसे कहीं खो सी गयी ... खोये-खोये ही बोली- ‘अब तो पर्याप्त प्रौढ़ हो गया होगा। आने दो।’

‘महाराज सीरध्वज को मैंने तो सूचित नहीं किया किंतु उन्हें भी सूचना हो ही गयी होगी, वे भी आते ही होंगे। ... और महर्षि से भी सम्पर्क करने का प्रयास करता हूँ। उन्हें भी सूचित कर दूँ कि उनका प्रायश्चित्त पूर्ण हुआ।’

‘हूँ ...’ अहल्या ने उनींदे से स्वर में उत्तर दिया। फिर अचानक चैतन्य हुई- ‘क्या कहा आपने ब्रह्मर्षि?’

‘महर्षि को सूचित कर दूँ कि उनका प्रायश्चित्त पूर्ण हुआ?’

‘जब आप निश्चित ही किए बैठे हैं तो पूछ क्यों रहे हैं?’

‘महर्षि के विषय में आपका अनुमोदन आवश्यक है देवि!’

‘अनुमोदन .. चलिए अहल्या आपके प्रस्ताव को अनुमोदित करती है।’

तभी मंगला आती दिखाई पड़ी। वह अपनी धोती के पल्लू में जितने समा सकते थे, उतने **मधुर** फल भरे हुए थी।

‘माते! ...’ वह कुछ और भी बोलने जा रही थी किंतु अजनबियों को देख कर ठिठक गयी।

‘अरी निस्संकोच आ जा। ये सब अपने ही हैं। प्रणाम कर सबको - ये ब्रह्मर्षि विश्वामित्र हैं, मैंने बताया था न इनके विषय में। ... और ये राम हैं, इक्ष्वाकुवंशी ... अयोध्या के युवराज ... प्रभु राम ... श्रीविष्णु के सप्तम अवतार और ये लक्ष्मण हैं। राम के प्रिय छोटे भ्राता, शेषावतार।’ वह मंगला को निर्देशित करती रही और मधुर भाव से हँसती रही। संकुचित सी मंगला यथानिर्देशित सबको प्रणाम निवेदित करती रही।

अयोध्या के नामोल्लेख से, अयोध्या के कुमारों को अचानक अपने सम्मुख उपस्थित देख कर कुछ पल के लिए वह विचारों में ही सही, वापस अयोध्या, अपने घर पहुँच गयी थी। अहल्या ने उसे सचेत किया-

‘कहाँ खो गयी मंगले! क्या राम-लक्ष्मण को सम्मुख देखकर अयोध्या की स्मृति हो आयी?’

मंगला सकुचा गयी। अहल्या पुनः विश्वामित्र से सम्बोधित हुई-

‘ब्रह्मर्षि! आप अतिथि हैं, किंतु अहल्या के आश्रम में संचित तो कुछ होता नहीं अतः आपके लिए बड़ी दूर से ... और बड़े श्रम से ये थोड़े से फल लायी है मंगला। इसके श्रम को सौभाग्य प्रदान कीजिए।’

‘अवश्य करेंगे देवि! किंतु शतानंद और सीरध्वज आदि भी आते ही होंगे। हम भी उन्हीं के साथ प्रसाद ग्रहण करेंगे।’

‘ब्रह्मर्षि! अहल्या आपका प्रस्ताव स्वीकार करे अथवा न करे, किंतु आपकी सदाशयता की आभारी तो वह है ही। आपके रूप में इतने काल के बाद किसी अतिथि के पाँव अहल्या के आश्रम में पड़े हैं। यह सत्कार तो आपको अभी स्वीकार करना ही पड़ेगा। रही बात अन्य जो आने वाले हैं उनकी, तो वे तो आपके निमंत्रण पर आ रहे हैं अतः आपके ही अतिथि होंगे ... उनका सत्कार करना आपका विषय

होगा। अहल्या की न तो सामर्थ्य है उनका सत्कार करने की, न ही उसकी कोई आवश्यकता है। उनके सत्कार का दायित्व आप नहीं स्वीकार करेंगे तो महाराज सीरध्वज को स्वयं करना होगा, इस सम्पूर्ण क्षेत्र के अधिपति तो वही हैं अतः प्रथम आतिथेय भी तो वही होंगे।’

अहल्या स्मित बिखेरती हुई कुछ पल मौन रही, फिर आगे जोड़ा- ‘और सत्य तो यही है ब्रह्मर्षि कि आप महाराज सीरध्वज के ही अतिथि हैं, उन्हीं का आतिथ्य स्वीकार करने आए हैं ... अहल्या तो बस मार्ग में अनायास पड़ी दिखाई पड़ गई।’ कहते-कहते वह खुल कर हँस पड़ी।

‘लीजिए ... ग्रहण कीजिए। राम ! ... लक्ष्मण !! ग्रहण करो पुत्रों।’

विश्वामित्र ने एक फल उठा लिया। उन्हें देखकर राम और लक्ष्मण ने भी फल उठा लिए।

फिर अहल्या ने सबकी आँखों में मंगला को लेकर तैर रहे प्रश्नों को पढ़ लिया। वह उसका वृत्तांत बताने लगी।

13- धनुषभंग

शतानंद और सीरध्वज एक मुहूर्त में ही आ गए थे। महर्षि गौतम से भी विश्वामित्र का समाधि द्वारा सम्पर्क हो गया था, ब्रह्मर्षि के आग्रह का मान रखते हुए उन्होंने भी हठ त्याग कर आना स्वीकार कर लिया था, किंतु वे सुदूर हिमालय की एक कंदरा में थे। दूरी के साथ-साथ अत्यंत दुर्गम मार्ग को तय कर उन्हें मिथिला तक आने में एक सप्ताह से अधिक का समय लग जाना स्वाभाविक था। यही निश्चय हुआ कि देवी अहल्या और मंगला को छोड़कर शेष सभी लोग प्रातः ही जनकपुर के लिए प्रस्थान करेंगे। सीरध्वज ने अहल्या से बारम्बार निवेदन किया था कि महर्षि के आते ही दोनों लोग जनकपुर को आतिथ्य का अवसर प्रदान करें किंतु अहल्या ने कोई आश्वासन नहीं दिया था। उसने हर बार यही कहा था कि इस विषय में महर्षि के आगमन के उपरांत ही कोई निर्णय लिया जा सकता है। अनेक वर्षों बाद गौतम-आश्रम के पेड़-पौधे, फूल-पत्ती, मंद-मंद विचरती हवा, उस हवा में तैरते पक्षी ... सभी प्रसन्नता से किलक रहे थे।

राम के नाम के साथ एक और चमत्कार जुड़ चुका था। महर्षि गौतम के शाप से शिला बन गई अहल्या को प्रभु श्रीराम ने पुनः जीवन प्रदान किया था। ऐसे कौतुकपूर्ण समाचारों को प्रसारित करने की आवश्यकता नहीं होती। वे नागरिकों की उत्सुकता के पंखों पर चढ़े हुए स्वतः ही सर्वत्र फैल जाते हैं। इस चमत्कार का समाचार भी फैल रहा था। प्रत्येक मुख से दूसरे कान तक जाने के क्रम में समाचार का चमत्कार और भी गाढ़ा होता जा रहा था, और भी गरिमा प्राप्त करता जा रहा था। सुन्दरवन का समाचार अयोध्या की सीमा को स्पर्श करने लगा था। शीघ्र ही इसे भी पहुँच जाना था। किंतु वह किस्सा अभी आगे।

दूसरे दिन प्रातः ही अहल्या से विदा लेकर सब जनकपुर आ गए।

महारानी सुनैना, सीता और उर्मिला ने अभ्यागतों का स्वागत किया। राजगुरु अष्टावक्र और ब्रह्मर्षि विश्वामित्र ने एक-दूसरे का अभिनन्दन किया।

राम के सौम्य मुख पर व्याप्त तेज ने राजकुमारी सीता को अनजाने ही अभिभूत कर दिया। इस तेज में दग्धता नहीं थी, शीतलता थी जो अनजाने ही सीता के अन्तस्तल की गहराइयों में उतरती चली गयी। उनके हृदय में ऊर्जा-तरंगों सी दौड़ रही थीं। इन तरंगों से इससे पूर्व कभी उनका परिचय नहीं हुआ था। ये तरंगों उनके रोम-रोम में अनबूझ से स्फुरण को जन्म दे रही थीं। यह क्या हो रहा है, उन्हें समझ नहीं आ रहा था।

तभी, अकारण ही उनके मन में एक विचार सिर उठाकर खड़ा हुआ कि क्या यह सुकुमार सा व्यक्तित्व उस धनुष पर प्रत्यंचा चढ़ा जाएगा? उन्होंने उस विचार को झटक दिया। इन लोगों के आगमन के पीछे ऐसे किसी प्रयोजन की कोई चर्चा ही नहीं थी। वे तो देवी अहल्या के आश्रम तक आए थे और वहीं से पिताजी के साथ जनकपुर चले आए थे। झटकने के बाद भी यह विचार बार-बार उठ खड़ा हो रहा था। उन्हें अत्यंत राहत अनुभव हुई जब माता ने कहा-

‘चलो सीता, उर्मिला ... हम लोग अतिथियों के भोजनादि की व्यवस्था देखें चलकर।’

किंतु आने के बाद भी सीता का मन बार-बार भटक रहा था।

* * *

कुशल-क्षेम और अन्य औपचारिकताओं के उपरांत विश्वामित्र मुख्य बिन्दु पर आ गए।

‘विदेहराज, आपके पास देवताओं द्वारा आपके पूर्वजों को धरोहर रूप में सौंपा गया प्रभु शिव का धनुष रखा है। कुमारों ने उसकी बड़ी ख्याति सुनी है। वे उसके दर्शन का सौभाग्य प्राप्त करना चाहते हैं।’

सीरध्वज तो इस प्रस्ताव की प्रतीक्षा में ही थे। उनका हृदय प्रसन्नता से खिल उठा। उन्हें नारद का कथन कभी विस्मृत ही नहीं हुआ था कि सीता का वरण राम ही करेंगे। आज राम उनके सम्मुख थे। नारद ने राम की जितनी भी प्रशंसा की थी वे उससे भी बढ़कर ही थे। जनक स्वयं को पूर्णकाम अनुभव कर रहे थे।

‘ब्रह्मर्षि प्रातःकाल नित्यकर्म और पूजन उपासना के उपरांत का समय उचित रहेगा।’

ब्रह्मर्षि ने अपनी सहमति प्रदान कर दी। रात्रि में राम को धनुष के विषय में सब कुछ बताना भी तो था।

प्रातःकाल निर्धारित समय पर ब्रह्मर्षि ने दोनों कुमारों के साथ राजसभा में प्रवेश किया। महाराज सीरध्वज, राजगुरु अष्टावक्र, राजपुरोहित शतानंद और अन्य सभासद पूर्व ही उपस्थित हो चुके थे। स्वागत और अभिवादन की औपचारिकताओं का निर्वाह किया गया और सबने आसन ग्रहण किया।

सीरध्वज ने एक प्रतिहारी को धनुष वाला छकड़ा लाने और एक प्रतिहारी को महारानी, सीता और उर्मिला सहित अंतःपुर की अन्य स्त्रियों को लिवा लाने हेतु भेज दिया।

* * *

उन्होंने रात्रि को जब महारानी सुनैना को ब्रह्मर्षि के आगमन का वास्तविक प्रयोजन बताया था तो वे अविश्वास से चौंक पड़ी थीं-

‘महाराज, वह सुकुमार सा सुदर्शन बालक ... वह ... वह ... वह किस भांति उस विशाल धनुष पर शर-संधान कर सकेगा?’

‘महारानी जी! उस सुकुमार से सुदर्शन बालक के अतिमानवीय चमत्कारी कृत्यों की जो चर्चायें इतनी तीव्र गति से चतुर्दिक प्रसरित हो रही हैं, क्या आपने वे नहीं सुनीं?’ सीरध्वज ने मुस्कुराते हुए कहा, फिर आगे जोड़ा- ‘और क्या देवर्षि का कथन भी आपको विस्मृत हो गया? आज इस भांति अचंभित होने का नहीं, हर्षित होने का अवसर है। हमारी सीता कल से’ वे बात पूरी नहीं कर पाये। उनका गला रुँध गया और असहाय सी अवस्था में उन्होंने पास ही बैठी सीता को खींच कर प्रगाढ़ आलिंगन में कस लिया था।

पिता की बात सुनकर सीता का हृदय हुलस उठा और पलकें संकोच से मुँद गयी थीं। उनका हृदय उन्हें गुदगुदाने लगा था ... तो अकारण ही उनके मन में विचार नहीं आ रहा था कि यह सुकुमार, सुदर्शन तेजस्वी व्यक्तित्व उस महान धनुष पर शर-संधान कर सकेगा अथवा नहीं? उन्होंने मन ही मन ईश्वर को प्रणाम किया था... आभार व्यक्त किया था।

फिर सभी की रात्रि इसी भांति हर्ष और विषाद के सागर में उतराते हुए बीती थी। किसी को नींद नहीं आयी थी। सीता उल्लसित भी थीं और आशंकित भी। किंतु सबसे अधिक प्रसन्न तो उर्मिला थी। वह रातभर सीता के साथ चुहल करती रही थी, तरह-तरह से छेड़ती रही थी।

* * *

थोड़ी ही देर में, दूसरे द्वार से महारानी के साथ-साथ अन्तःपुर की सभी स्त्रियों ने प्रवेश किया। एक बार पुनः अभिवादन का चक्र चला, फिर सबने आसन ग्रहण किया।

बिलकुल सादी सी सज्जा में सीता की छवि अनुपमेय थी, आँखों को शीतल करने वाली चाँदनी सरीखी। उनके हृदय के भीतर हलचल मची हुई थी। वे अपनी सामर्थ्य भर उस हलचल को शांत करने का प्रयास कर रही थीं किंतु उनके वक्ष का उठना-गिरना भीतर चल रही हलचल को गोपन नहीं रहने दे रहा था।

पास ही एक दासी, तिलक का थाल लिए ओर दूसरी दासी जयमाल का थाल लिए खड़ी थी।

जनता की भीड़ राजसभा में बढ़ती जा रही थी। सीरध्वज को कुछ विस्मय सा हो रहा था कि क्या जनता को भी सत्य का भान हो गया है? उन्होंने तो महारानी के

अतिरिक्त अन्य किसी से भी देवर्षि के कथन का उल्लेख नहीं किया। फिर ... फिर?

तभी अचानक जैसे उत्तर मिल गया। यह जन-समुद्र अपने प्रभु श्रीराम के दर्शन के लिए उपस्थित हुआ होगा। हो भी क्यों न, राम के अवतार होने का समाचार तो कानोंकान चारों ओर प्रसरित हो गया है। स्वयं श्रीविष्णु के अवतार के दर्शन कर अपने नश्वर-जीवन को भला कौन धन्य नहीं करना चाहेगा? ... निश्चय ही यही कारण है। ... इस सोच ने उन्हें सन्तोष दिया।

तभी एक खूब सजे हुए छकड़े ने सभाकक्ष में प्रवेश किया। छकड़े पर एक सन्दूक जैसा रखा हुआ था। यह छकड़ा अनेक सजीले, विशालकाय, शरीर से ही अद्भुत शक्तिशाली प्रतीत हो रहे मल्लों द्वारा खींचा जा रहा था। छकड़े को कक्ष के ठीक मध्य में लाकर मल्ल रुक गए और अपने मस्तक पर चुहचुहाते स्वेद-बिंदु पोंछने लगे।

छकड़े के प्रवेश करते ही जनक और अष्टावक्र समेत समस्त सभासद हाथ जोड़कर खड़े हो गए थे।

छकड़े पर एक सजी हुई, गेरुआ रंग से रंगी विशाल काष्ठ-मंजूषा रखी हुई थी। अष्टावक्र के संकेत पर उन मल्लों में से दो ने उस मंजूषा को दोनों ओर से पकड़ा और उठा लिया। वस्तुतः वह मंजूषा नहीं मात्र एक ढकना था, जिसने उस छकड़े पर रखे हुए पूज्य शिवधनुष को ढँक रक्खा था।

उस ढकने को लेकर सारे मल्ल जाकर एक ओर खड़े हो गए।

जनक ने आशा भरी दृष्टि से विश्वामित्र की ओर देखा।

विश्वामित्र ने राम को संकेत किया।

धनुष के संचालन की सम्पूर्ण विधि विस्तार पूर्वक उन्होंने रात्रि में ही राम को समझा दी थी। राम की किसी भी बात को आत्मसात करने की योग्यता पर संदेह करने का प्रश्न ही नहीं था।

राम उठ खड़े हुए। मंथर गति से चलते हुए वे धनुष के निकट पहुँचे। हाथ जोड़कर उन्होंने धनुष को प्रणाम किया। आँखें बंद कर प्रभु शिव से धनुष के संचालन हेतु अनुमति ली और अपने हाथ धीरे से धनुष के मध्य भाग पर रख दिए।

सभी के हृदय धड़क रहे थे।

सीता के वक्ष के उठने-गिरने की गति उनके नियंत्रण से बाहर हो चली थी, किंतु प्रत्येक व्यतीत होते क्षण के साथ उनके नेत्रों की दीप्ति तीव्रतर होती जा रही थी। वे देख रही थीं, अहा ! ये तो रत्ती-रत्ती उसी विधि का अनुपालन कर रहे हैं, जो पिताजी ने बताई थी। इसका तात्पर्य ये भी सम्पूर्ण रहस्य से भिन्न हैं ... तो क्या ... तो क्या ...? विचारों ने भी उनका नियंत्रण मानना स्पष्टतः अस्वीकार कर दिया। स्वयं को नियंत्रित

ढंग से खड़ा रखने के लिए उन्हें अपनी समस्त संकल्पशक्ति का प्रयोग करना पड़ रहा था।

तभी राम ने अपने बायें हाथ से थाम कर धनुष को उठा लिया। उन्होंने अपने बायें हाथ को ऊँचाई में पूरा तान दिया। दायें-बायें अर्द्धवृत्ताकर घूमे फिर गुरुदेव की ओर मुख करके स्थिर खड़े हो गए। उनकी पीठ के स्नायु तने हुए थे, उनकी कटि के, उनकी भुजाओं के स्नायु तने हुए थे।

सभाकक्ष पूर्णतः शान्त था। उपस्थित प्रत्येक व्यक्ति की साँस जैसे रुकी हुई थी। एक-एक दृष्टि राम के हाथ में थमे हुए धनुष पर टिकी हुई थी। ... और सीता मंत्रबिद्ध सी खड़ी हुई थीं।

राम ने दाहिने हाथ से धनुष की लटक रही प्रत्यंचा को थाम लिया और मुट्ठी को खींचते हुए प्रत्यंचा के छोर तक ले आए। फिर बायें हाथ को चक्राकार नीचे की ओर घुमाना आरंभ किया। जब उन्हें प्रतीत हुआ कि अब धनुष का दूसरा सिरा उनकी दाहिनी मुट्ठी की पहुँच में आ गया है, उन्होंने प्रत्यंचा को खींचना आरंभ कर दिया। उनके स्नायु और तन गए। उनकी मुट्ठी धनुष के दूसरे सिरे तक पहुँच गयी। उन्होंने प्रत्यंचा चढ़ाने के उद्देश्य से थोड़ा सा बल और लगाया, प्रत्यंचा निर्धारित स्थान तक पहुँच गयी। तभी

‘चटाक’

भयानक तीव्र ध्वनि से दसों दिशाएँ गूँज उठीं।

प्रत्यंचा चढ़ने के साथ ही धनुष बीचोबीच से दो टुकड़े हो गया था।

उस ध्वनि से सभा एकबार काँप गयी किंतु अगले ही क्षण तालियों की गूँज और हर्ष का कोलाहल एक साथ उभर उठा। कक्ष में उपस्थित एक-एक व्यक्ति की इतनी देर से अटकी हुई साँस जैसे वापस आ गयी।

अचानक सीता को अपने ललाट पर शीतलता का आभास हुआ। उन्होंने हथेली फिराई, हथेली गीली हो उठी। तभी उन्हें आभास हुआ जैसे उनका पूरा शरीर स्वेद से नहाया हुआ हो। ... क्या वे इतनी उत्तेजित हो गयी थीं कि सम्पूर्णतः स्वेद-स्नात हो गयीं? यह आभास होते ही उनके कपोल आरक्त हो उठे।

राम ने टूटा हुआ धनुष पुनः यथास्थान रख दिया था और हाथ जोड़कर उसे प्रणाम किया, कुछ बुदबुदाये ... संभवतः प्रभु शिव से धनुष-भंग हो जाने के अपराध के लिए क्षमा-प्रार्थना की।

करतल-निनाद अभी भी गूँज रहा था।

पृष्ठभाग में खड़ीं अन्तःपुर की महिलाओं ने पुष्पवर्षा आरंभ कर दी। तभी किसी ने मंगल-गीत छेड़ दिया। फिर तो सहस्र कंठों ने उस कंठ के साथ अपना स्वर मिला

दिया।

राजगुरु अष्टावक्र ने सीता को संकेत किया। जयमाल का थाल लिए खड़ी दासी ने थाल उनके सम्मुख कर दिया। सीता ने जयमाल उठाई, एक बार पिता की ओर देखा, फिर माता की ओर देखा ... हर्षातिरेक से गीली आँखों ने मंत्रबिद्ध, लजायी आँखों को संकेत दिया, सीता ने राम की ओर प्रथम डग बढ़ाया। अचानक उनकी स्मित भी समस्त वर्जनाओं की अवहेलना कर उनके अधरों पर नृत्य कर उठी। स्मित की इस धृष्टता से पलकें संकोच के भार से झुक गयीं, कपोलों की लालिमा और गाढ़ी हो गयी। प्रत्येक पग के साथ उनके हृदय की कुछ शांत हुई धड़कन पुनः तीव्र होने लगी। करतल निनाद बढ़ता ही जा रहा था। मंगलगीत ने ऊपर उठकर सम्पूर्ण मिथिला के आकाश को अपनी बाहों में समेट लिया था।

और फिर दूरी मिट गयी। सीता ने राम के कंठ में वरमाला डाल दी। जयमाल का थाल लिए दासी अब राम की बगल में खड़ी थी। सीता ने जैसे ही वरमाला राम के कंठ में पिरोयी, उसने थाल राम के सम्मुख बढ़ा दिया।

राम ने भी सीता के कंठ में जयमाल डाल दी।

सीता राम की हो चुकी थीं। राम सीता के हो चुके थे। युग-युगान्तर तक के लिए।

* * *

आगे के कार्यक्रम के लिए महाराज दशरथ की उपस्थिति अनिवार्य थी। महाराज सीरध्वज ने ब्रह्मर्षि विश्वामित्र से परामर्श किया। उनकी सहमति से उसी दिन तीव्रगामी अश्वों पर सवार संदेशवाहक संदेश और आमंत्रण के साथ अयोध्या भेज दिए गए।

फिर एक संदेशवाहक सांकाश्या, सीरध्वज के छोटे भाई कुशध्वज के पास भी भेज दिया गया। विवाहोत्सव में उनकी **उपस्थिति** भी तो अनिवार्य थी।

14- अयोध्या में

युवावस्था वाले महाराज दशरथ और आज के महाराज दशरथ में कोई साम्य नहीं था। यद्यपि यह एक ही दिशा में हुआ क्रमिक परिवर्तन नहीं था। युवावस्था से इस वृद्धावस्था तक आते-आते उनके चरित्र के कई भिन्न-भिन्न रंग अयोध्या ने देखे थे। किंतु कुल मिलाकर अंततः यह गुणात्मक परिवर्तन ही था। अब वे पूर्व की भांति राजकाज से पूर्ण लापरवाह, उद्धत युवा मात्र नहीं थे। अब वे युद्ध-पिपासु, दंभी और कामासक्त सम्राट् भी नहीं थे। अब वे वृद्धावस्था की ओर अग्रसर प्रौढ़ावस्था के-पुत्रहीन, उत्साहहीन, टूटे-बिखरे और जीवन से पराजित पुरुष भी नहीं थे ... अब वे उमंग और उत्साह से भरे हुए चार-चार सर्वगुण-सम्पन्न युवावस्था की ओर पदार्पण करते पुत्रों के पिता थे। कुमारों के गुरुकुल जाने के बाद से (कुमारों के बालपन में तो उनका सारा समय उनके साथ खेलने में ही व्यतीत हो जाता था) उन्होंने जीवन में पहली बार राज-काज पर गंभीरतापूर्वक ध्यान देना आरंभ किया था। वो जो युवावस्था के व्यसन थे, अवस्था ने उन्हें अपने आप दुत्कार दिया था और जो प्रौढ़ावस्था की हताशा थी उसे वृद्धावस्था में प्राप्त पितृत्व के धोबी-पछाड़ ने चित कर दिया था।

इस वृद्धावस्था में जाकर उनके भीतर छुपा हुआ श्रेष्ठ नृप उभर कर सामने आ सका था। परंतु इन दिनों उनके उत्साह को ग्रहण लगा हुआ था। उनकी आँखों का तारा, राम और उसके साथ लक्ष्मण भी ब्रह्मर्षि विश्वामित्र के साथ संकटों से खेलने गया हुआ था। उनके हृदय को चैन नहीं था।

मातायें अपेक्षाकृत कम चिन्तित थीं। इसका कारण यह नहीं था कि उन्हें राम से कम लगाव था। कारण तो यह था कि उन्हें नारद के माध्यम से पूर्व से ही ज्ञात था कि राम का जन्म ही आर्य-संस्कृति के उद्धार और इसी क्रम में रावण के विनाश के लिए हुआ है। उन्हें विश्वास था कि जिसे हाथी को परास्त करना है, उसे भला कूकुर-बिलाव से क्या भय हो सकता है। फिर भी नारद के प्रति उनके मन में आक्रोश था- इस अभियान के विषय में कम से कम उन्हें विश्वास में तो लेना चाहिए था। यह क्या हुआ कि अकस्मात् विश्वामित्र प्रकट हुए और राम-लक्ष्मण को अपने साथ लेकर चले गए।

कैकेयी के कक्ष में महाराज समेत तीनों रानियाँ बैठी हुयी थीं। इसी विषय पर विचार-मंथन चल रहा था। पुत्रों के जन्म के बाद से महाराज का उप-पत्नियों के आवास की ओर जाने का अभ्यास पूर्णतः छूट गया था। वहाँ तो अब वे किसी उत्सव इत्यादि में ही दर्शन देने जाते थे। सायंकाल राजकाज से निवृत्त होते ही वे कैकेयी के

प्रासाद में आ जाते थे। शेष दोनों रानियाँ भी यहीं एकत्र हो जाती थीं। रानियों का परस्पर बहनापा अब भी उतना ही सुदृढ़ था बल्कि समय के साथ और सुदृढ़ होता चला जा रहा था।

‘पता नहीं किस हाल में होगा मेरा राम?’ महाराज के मुख से आजकल यह वाक्य प्रत्येक वार्तालाप में संपुट की भाँति प्रस्फुटित होता रहता था।

‘सानंद ही होगा महाराज। ब्रह्मर्षि की असीमित सामर्थ्य से क्या आप परिचित नहीं हैं।’ अपनी चिंता को दबाते हुए कैकेयी ने महाराज को दिलासा दी।

‘किंतु महारानी ...’

दशरथ आगे कुछ कहते उससे पूर्व ही द्वार पर बुरी तरह हाँफती, लड़खड़ाती मंथरा प्रकट हुई। मंथरा भी अब वृद्ध हो रही थी। उसे दिखाई भी कम देता था और सुनाई भी। किंतु इससे न तो उसके हृदय की चपलता में कोई कमी आई थी और न ही रक्षों के प्रति उसके आक्रोश में।

‘महारानी ! महारानी !!! महारानी!!!’ हाँफने के कारण वह इससे अधिक कुछ बोल ही नहीं पा रही थी। उसकी हालत देख कर महाराज हँस पड़े। कौशल्या और सुमित्रा भी मुस्कुराने लगीं।

‘तुमसे कितने बार कहा है कि अपनी वृद्धावस्था को ध्यान में रखकर उछल-कूद किया करो, किंतु तुम हो कि समझती ही नहीं। एक बार पैर तुड़वा ही चुकी हो।’

‘महारानी’ मंथरा ने जैसे कैकेयी की बात सुनी ही नहीं। सुनी तो उस पर ध्यान देने का उसे अवकाश ही न हो।

‘ओह मेरी धाय माँ!’ हताशा और तिक्तता से कैकेयी बोली- ‘तुम्हें महाराज की उपस्थिति भी नहीं दिखाई पड़ रही क्या?’

‘ओह, अतिशय प्रसन्नता में मुझे कुछ भी समझ नहीं आ रहा। क्षमा करें महाराज!’ अपनी साँसों पर नियंत्रण करने का प्रयास करती हुई मंथरा ने झुककर धरती पर अपना सिर टेक दिया।

महाराज और अन्य रानियाँ उसी भाँति हँस रहे थे। मंथरा की हालत ने थोड़ी देर के लिए ही सही उनके विषाद को नेपथ्य में ढकेल दिया था। दूसरी ओर कैकेयी को मंथरा द्वारा किए जा रहे इस प्रहसन पर क्रोध आ रहा था। मंथरा उसकी धाय माँ और दासी दोनों ही जो थी। उसे प्रतीत हो रहा था कि मंथरा के कृत्य से उसका स्वयं का भी उपहास हो रहा है। वह बोली-

‘अच्छा अब यह अभिनय बंद करो और सभ्यता से, भीतर आकर सुनाओ कि वस्तुतः हुआ क्या है!’

मंथरा भीतर आ गयी। कुछ पल लंबी-लंबी साँसे लेकर अपनी अवस्था पर नियंत्रण पाने का प्रयास किया, फिर बोली-

‘महाराज अत्यंत शुभ समाचार है। ऐसे ही छूँछे नहीं सुनाऊँगी।’

पहले से ही हँस रहे सब की हँसी पुनः ठहाकों के रूप में फूट पड़ी।

‘समाचार तो सुना पहले। यदि सत्य ही शुभ हुआ तो तेरा मुँह रत्नों से भर दूँगा।’
दशरथ ने हँसते हुए कहा।

‘महाराज ! कुमारों ने सुन्दरवन में राक्षसों का मूलोच्छेद कर दिया है ...’

‘सच !!!’ सभी के मुँह से एक साथ निकला।

‘अभी शेष समाचार तो सुनिये ...’

‘तो अभिनय छोड़कर सुना न सीधे से!’ कैकेयी ने उठते हुए कहा।

‘ब्रह्मर्षि ने हमारे राम को विष्णु का अवतार घोषित किया है। उस क्षेत्र की सम्पूर्ण जनता उनकी जय-जयकार ही नहीं पूजा कर रही है।’

अब तक कैकेयी उसके पास तक पहुँच गयी थी। उसने अपने गले से भारी मुक्ताहार उतारते हुए कहा- ‘मुँह खोलो अपना।’

‘क ..क .. क्या?’ मंथरा अचकचा गयी।

‘अरे मुँह खोलो।’ कैकेयी ने हँसी से दुहरा सा होते हुए कहा।

‘गले में ही डाल दीजिए न महारानी।’

‘महाराज ने मुँह भर देने का वचन दिया था। रघुवंशी का वचन असत्य कैसे किया जा सकता है।’

‘महाराज ने दिया था वचन तो मुँह भी वे ही भरेंगे। आप यदि मुँह भर देंगी तो उनका वचन झूठा हो जाएगा।’

‘बहुत चतुर है।’ कहते हुए कैकेयी ने मुक्ताहार मंथरा के गले में डाल दिया।
कौशल्या और सुमित्रा ने भी अपने-अपने गले से भारी-भारी हार उतार कर उसके गले में डाल दिए। उन हारों के भार से मंथरा की झुकी कमर और भी झुक गयी।

अब दशरथ ने उसे अपने पास आने का संकेत किया। उन्होंने भी अपने गले से भारी सा मुक्ताहार उतार लिया था। वह कैकेयी को देते हुए वे बोले-

‘लीजिए महारानी इसका मुख भी भर दीजिए।’

* * *

यह प्रहसन चल ही रहा था कि एक अन्य दासी द्वार पर प्रकट हुई और हाथ जोड़कर बोली-

‘महाराज! मिथिला से संदेशवाहक आए हैं और अविलम्ब आपसे भेंट करना चाहते हैं।’ कहकर वह आदेश की प्रतीक्षा में हाथ जोड़े खड़ी रही।

‘मिथिला से? ... जाओ, यहीं बुला लाओ।’

‘सीरध्वज तो सदैव यज्ञादि में ही व्यस्त रहते हैं, उनके पास राजनीति के लिए समय कहाँ होता है। उनका संदेश किस हेतु आया हो सकता है?’ दशरथ ने कुछ सोचते हुए जैसे स्वगत-भाषण किया।

‘आने दीजिए न संदेशवाहक को, अभी स्पष्ट हो जाएगा।’ कौशल्या ने समाधान करने का प्रयास किया।

संदेशवाहक को आने में अधिक समय नहीं लगा। दासी उसे कक्ष के द्वार तक छोड़कर पीछे अदृश्य हो गयी।

‘प्रणाम महाराज! प्रणाम महारानियों!’ संदेशवाहक ने औपचारिकता का निर्वाह किया।

‘आसन ग्रहण करो दूत।’ दशरथ ने एक आसन्दी (कुर्सी जैसी पीठिका) की ओर संकेत करते हुए कहा। किंतु संदेशवाहक ने बैठने से पूर्व हाथ में पकड़ा हुआ, कपड़े पर लिखा और एक काष्ठ-दण्डिका पर लिपटा संदेश महाराज के हाथ में थमा दिया।

महाराज ने संदेश कैकेयी की ओर बढ़ा दिया।

कैकेयी ने उसे खोल कर पढ़ना आरम्भ किया। प्रत्येक शब्द के साथ उसके चेहरे पर प्रसन्नता की चमक बढ़ती जा रही थी।

‘ऐसा क्या संदेश है कैकेयी जो तुम्हारा आनन इस भांति दमकने लगा है?’ कौशल्या ने उत्सुकता से पूछा। कैकेयी ने उत्तर देने के स्थान पर संदेश ही उनकी ओर बढ़ा दिया और स्वयं ताली बजाकर दासी को आने का संकेत दिया।

अविलम्ब दासी उपस्थित हुई।

‘जा, पाकशाला से सर्वश्रेष्ठ मिष्ठान्न का थाल लेकर आ।’

‘जी महारानी जी!’ कहकर दासी मुड़ने लगी तो कैकेयी प्रसन्नता से विहँसते हुए बोली-

‘अरी पूरी बात तो सुनती जा! वहाँ प्रमुख से कह देना कि आज रात्रि भोजन में मैं उसकी सम्पूर्ण कला के दर्शन करना चाहती हूँ।’

‘जी!’

‘और यह भी कि कल सम्पूर्ण नगरवासियों के लिए महाराज की ओर से भोज का आवाहन हुआ है। बिना क्षण गँवाये व्यवस्थाओं में लग जाए।’

‘जी महारानी जी!’ दासी हाथ जोड़े खड़ी रही।

‘अब जाती क्यों नहीं, जा शीघ्रता से।’

दशरथ अचम्भे से मुँह बाये कभी कैकेयी को तो कभी संदेश पढ़ रही कौशल्या को देख रहे थे।

संदेश पढ़कर कौशल्या ने भी कुछ कहने के स्थान पर उसे महाराज की ओर बढ़ा दिया और स्वयं हाथ फैलाकर अपनी दोनों बहनों- कैकेयी और सुमित्रा, को आलिंगन में समेट लिया।

‘राम ने वीर्यशुल्का सीता का वरण किया है।’ कौशल्या ने सुमित्रा के कान में फुसफुसाते हुए कहा- ‘उसने महान शिवधनुष, जिसे आज तक कोई हिला भी नहीं पाया था, पर प्रत्यंचा ही नहीं चढ़ाई धनुष ही भंग कर दिया।’

अब तक दशरथ ने भी पत्र पढ़ लिया था। पत्र में सुन्दरवन के सम्पूर्ण वृत्तांत के साथ-साथ, राम के विष्णु के अवतार के रूप में ख्यात होने और धनुषभंग तक का विवरण देते हुए, तत्काल मिथिला आगमन का निमंत्रण दिया गया था। राम और सीता का विवाह भला उनके आशीर्वाद के बिना कैसे सम्पन्न हो सकता था। प्रसन्नता के अतिरेक में दशरथ उठे और अपने गले से सारे आभूषण निकाल कर संदेशवाहक के गले में डाल दिये।

‘महाराज, उत्तर भी दिलवा दीजिए ताकि हम लोग प्रस्थान करें।’

‘मिल जाएगा। अभी तो अयोध्या का आतिथ्य स्वीकार करो। इस उपलक्ष्य में महारानी ने भोज का आयोजन किया है, उसमें सम्मिलित हो। उसके उपरांत ही प्रस्थान की अनुमति प्राप्त होगी।’

‘किंतु महाराज’

‘यह दशरथ की ...’ उसकी बात काटते हुए दशरथ खुलकर हँसते हुए बोले- ‘वर के पिता की आज्ञा है। कन्या-पक्ष को स्वीकार करनी ही पड़ेगी।’

इसके आगे कोई उपाय ही नहीं था। संदेशवाहक प्रणाम कर आज्ञा लेकर बाहर निकल गया। बाहर एक सैनिक तत्पर था, उसके साथ ही संदेशवाहक के शेष साथी भी खड़े प्रतीक्षा कर रहे थे। सैनिक ने उन्हें सम्मान से अतिथिशाला में पहुँचा दिया जहाँ वे सब प्रसन्नतापूर्वक, प्राप्त आभूषणों के बँटवारे में व्यस्त हो गए।

संदेशवाहक के कक्ष **सू** जाते ही दशरथ ने पुनः ताली बजायी।

एक दासी उपस्थित हुई।

‘किसी सैनिक को भेजो।’ महाराज ने आदेश दिया।

‘कुछ ही पलों में सैनिक उपस्थित हुआ।’

‘देखो, किसी को गुरुदेव के आश्रम भेज दो संदेश देकर कि हम उनके दर्शन प्राप्त करने के अभिलाषी हैं।’

‘जी!’

‘और सभी आमात्यों के पास भी संदेश भिजवा दो कि सभी एक मुहूर्त के भीतर-भीतर गुरुदेव के आश्रम पर उपस्थित हों।’

‘जी!’

‘सभी के लिए पृथक-पृथक व्यक्तियों को भेजना अन्यथा एक मुहूर्त तो सूचना देने में ही निकल जाएगा।’

‘जैसी आज्ञा महाराज!’

‘जाओ अब।’

सैनिक अभिवादन कर मुड़कर जाने लगा। तभी महाराज ने पीछे से पुनः आदेश दिया- ‘और सभी पुरोहितों को भी सूचना करवा देना।’

‘जी महाराज।’

‘अरे हाँ प्रसन्नता के अतिरेक में भूला ही जा रहा था। सम्पूर्ण नगर में घोषणा करवा दो कि कल कुमार राम के विवाह के उपलक्ष्य में समस्त नागरिकों के लिए भोज का आयोजन है। ... जाओ अब।’

‘हाँ जाओ, सब याद रहेगा न?’ कौशल्या ने विनोद पूर्वक प्रश्न किया।

‘जी महारानी जी, भला याद क्यों नहीं रहेगा।’

सैनिक के जाते ही महाराज भी उठ खड़े हुए-

‘आइये, गुरुदेव के आश्रम चलते हैं।’

किसी को किसी प्रसाधन की सुधि नहीं थी। जैसे बैठे थे वैसे ही निकल पड़े। आश्रम में पहुँचे तो गुरुदेव जैसे इनके स्वागत में द्वार पर ही खड़े थे। अभिवादन-आशीर्वाद के उपरांत जैसे ही दशरथ ने अपना हृदय खोलना आरंभ किया, गुरुदेव बोले-

‘मेरी रात्रि में ही ब्रह्मर्षि विश्वामित्र से वार्ता हो गयी है। हमारे कुमारों ने रघुवंश की ख्याति को नये आयाम दिये हैं।’

बस दशरथ की प्रसन्नता अजस्र वाग्धारा बनकर फूट पड़ी। किसी को यह भी ध्यान नहीं रहा कि वे अभी तक द्वार पर ही खड़े हैं।

कुछ ही देर में एक-एक कर समस्त आमत्य और पुरोहित गण भी उपस्थित हो गये। तब गुरुदेव ने निवेदन किया-

‘महाराज अब भीतर प्रवेश किया जाए?’

‘हाँ! हाँ चलिए न गुरुदेव! मैं तो प्रसन्नता के अतिरेक में आज’ उन्होंने वाक्य अधूरा ही छोड़ दिया और सारी औपचारिकताओं, राजकीय-मर्यादाओं को त्यागकर महामात्य के कंधे पर हाथ रख कर बोल पड़े-

‘महामात्य जी, वरयात्रा हेतु समस्त विशिष्टजनों को निमंत्रित करने समेत अन्य सारी व्यवस्थाओं का दायित्व आपका। देखिए कोई चूक न हो।’

‘नहीं होगी महाराज!’ कहते हुए जाबालि हँस पड़े।

15- वरयात्रा

तीन दिवस उपरांत बारात चल पड़ी। दशरथ का वश चलता तो सूचना मिलते ही निकल पड़ते, किंतु अपने प्रिय कुमार की बारात लेकर जाना था, अनेक व्यवस्थाएँ करनी थीं। फिर भी उनका मन तो डोर छुटी पतंग सा, लहराते हुए कब का मिथिला के आँगन में उतर चुका था।

बारात क्या थी, ऐसा प्रतीत होता था मानो रथों और अश्वों पर सवार पूरा नगर ही चला जा रहा हो। अयोध्या की आधी सेना बारात के संग थी। जो सैनिक छूट गए थे उन्हें रोष था किंतु नगर की सुरक्षा के प्रति सचेत रहना भी आवश्यक था। बेचारे मन-मसोस कर स्वयं को समझाए हुए थे।

बारात में आगे-आगे विशाल अश्वारोही सैन्य था। उसके पीछे विशाल रथ पर महाराज और गुरुदेव थे। उनके पीछे भरत और शत्रुघ्न का रथ था, उनके पीछे आमत्य और पुरोहितों के रथ थे। उनके पीछे फिर अश्वारोहियों की लम्बी कतारें थीं। इन कतारों के पीछे कन्याधन से भरे प्रभूत आभूषणों, रत्नों और स्वर्णमुद्राओं से भरे कई दर्जन रथ थे। उनके पीछे पुनः अश्वारोही सैनिकों की कतारें थीं। फिर तीव्रगामी बैलों से जुती अनेक बैलगाड़ियाँ थीं जिनमें खाद्य सामग्री समेत अन्य दैनिक उपयोग की सामग्री लदी हुई थी। सामग्री इतनी प्रचुर थी कि कई माह तक इस सम्पूर्ण सचल नगर की सम्पूर्ण आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए पर्याप्त थी। उसके पीछे मार्ग में विश्राम की व्यवस्था की सामग्री लादे बैलगाड़ियाँ थीं।

इनके पीछे नगर के विशिष्ट-जनों के अनगिनत रथ थे। अनेक सामान्य नागरिक भी परस्पर सहयोग से रथों की व्यवस्था कर बारात में सम्मिलित थे। इनके पीछे अश्वारोही नागरिकों की सुदीर्घ श्रंखला थी और अंत में पुनः अश्वारोही सशस्त्र सैनिकों का विशाल समुद्र था।

महाराज हाथियों को भी लाना चाहते थे। किंतु उस अवस्था में समय का बहुत अपव्यय होता, इस कारण हाथियों का विचार त्याग दिया गया था। मातायें बारात में नहीं थीं, स्त्रियों के बारात जाने की प्रथा नहीं थी। वे अयोध्या में वधू के स्वागत की तैयारियों में अति व्यस्त थीं।

बारात की गति से एक प्रहर में ही महाराज तिक्त होने लगे। उनका बस चलता तो वे उड़कर मिथिला पहुँच जाते। किसी भाँति एक दिवस व्यतीत हुआ। रात्रि में महाराज ने सेनापति को बुलाकर निर्देश दिया कि उनके रथ के आगे जाने की व्यवस्था की जाए। ऐसी मंथर गति से चलते हुए वे तो पागल हो जाएँगे। सेनापति ने,

साथ ही अन्य आमात्यों ने भी बहुत समझाना चाहा किंतु जब कोई समझना चाहता है तभी तो समझता है। अंततः महाराज की आज्ञा का अनुपालन सुनिश्चित हो ही गया।

ऊषा की लालिमा फूटते ही महाराज का रथ (गुरुदेव तो उनके साथ थे ही) आगे बढ़ लिया। इस रथ के पीछे-पीछे भरत-शत्रुघ्न का रथ, महामात्य का रथ, सेनापति का रथ और दो रथ आवश्यक सामग्रियों से भरे हुए, जिनमें दस सेवक भी सवार थे, भी बढ़ चले। एक सहस्र सशस्त्र अश्वारोही सैनिक भी उनका अनुसरण करने लगे। तीसरे दिन सूरज डूबते-डूबते ये सब मिथिला जा पहुँचे।

मिथिला की सीमा आरंभ होने के एक प्रहर पूर्व ही एक अश्वारोही को आगे दौड़ा दिया गया- महाराज के आगमन की पूर्व-सूचना मिथिला तक पहुँचाने के प्रयोजन से। जब ये लोग पहुँचे, महाराज सीरध्वज अपने समस्त आमात्यों के साथ नगर की सीमा पर ही स्वागत हेतु तत्पर थे। विश्वामित्र और उनके साथ राम और लक्ष्मण तो थे ही।

* * *

पीछे आ रही बारात को अभी लगभग एक सप्ताह का समय और लगना था। मिथिला में यज्ञों का आयोजन और दिग्गज विद्वानों का सत्संग एक सतत प्रक्रिया थी, उसके लिए किसी आयोजन अथवा उत्सव की आवश्यकता नहीं होती थी। गुरुदेव, महाराज और आमात्यों के लिए तो उनमें अपनी उपस्थिति देना आवश्यक भी था और समय व्यतीत करने का उपयुक्त साधन भी। परन्तु कुमारों के सम्मुख समस्या थी। राम तो सभी प्रकार की व्यवस्थाओं में सहजता से खप जाते थे। इन सबके आगमन के पूर्व गुरुदेव विश्वामित्र के साथ वे सहज भाव से इन आयोजनों का हिस्सा बन ही रहे थे। लक्ष्मण विवशता में उपस्थित रहते थे, और कुछ था ही नहीं करने को। बाहर निकलते थे तो प्रभु श्रीविष्णु के दर्शनार्थी घर लेते थे। पैर पड़ने लगते थे, आशीर्वाद माँगने लगते थे। पहले तो लक्ष्मण इसका आनंद लेते रहे किंतु शीघ्र ही वे उकता गए थे। भरत और शत्रुघ्न के आ जाने से उन्हें बहुत बड़ी राहत मिली थी।

‘भ्राता चलो घूमने चलते हैं।’ शत्रुघ्न के मन में मिथिला देखने की तीव्र उत्कंठा थी।

‘अरे नहीं, अब भ्राता के साथ निर्द्वन्द्व घूमना संभव नहीं है।’ लक्ष्मण ने कटाक्षपूर्ण उत्तर दिया।

‘क्यों भला?’

‘तुम्हें ज्ञात नहीं?’ लक्ष्मण ने अचरज का प्रदर्शन किया- ‘भ्राता अब हमारे भ्राता नहीं रहे। वे तो अब श्रीविष्णु के अवतार हो गए हैं। साथ ही अब वे मिथिलेशकुमारी के होने वाले पति भी हैं।’

‘तो?’ शत्रुघ्न बात नहीं समझे थे।

लक्ष्मण की उच्छृंखलता को बरजने हेतु राम ने उनकी ओर आँखें तरेरीं। किंतु भ्राता की चितवन के भय से यदि लक्ष्मण समर्पण कर दें तो वह भला लक्ष्मण ही कहाँ रह जाँ। भरत के पीछे छिपते हुए बोले -

‘इनके साथ जाओगे तो मार्ग में आगे बढ़ ही नहीं पाओगे। सारा मिथिला इनके पैरों में लेटा होगा और हम प्रतीक्षा कर रहे होंगे कि कब ये अपने भक्तों से अवकाश पायें तो हम मिथिला का, मिथिला की सुकुमारी कुमारियों का दर्शन करें।’

‘ऐसा ???’ शत्रुघ्न ने भी आनंद लेते हुए कहा। फिर आगे बोले- ‘तब क्या हमें भी उन गूढ़ प्रवचनों में ही सिर खपाना पड़ेगा?’

‘नहीं, चलो राजकीय उद्यान में चलते हैं। वहाँ आम-जन अधिक नहीं आते। वहाँ स्वागत-सम्मान तो होगा किंतु हमें अजूबा नहीं समझा जाएगा। ... और उद्यान है भी अतीव सुन्दर।’ यह लक्ष्मण ने गम्भीरता से कहा था।

‘सम्भव है वहाँ भाभी के भी दर्शन हो जाँ।’ शत्रुघ्न ने उत्साह से कहा।

इस पर राम को छोड़ कर शेष तीनों की सहमति थी। बहुमत तब भी प्रभावी होता था अतः बिना किसी प्रतिरोध के कार्यक्रम सु-निश्चित हो गया। चारों भाई अतिथिशाला से निकल कर राजकीय उद्यान की ओर बढ़ चले।

मार्ग में जो भी मिला उसने श्रद्धा से प्रणाम किया। राम ने सिर हिला कर स्वीकार किया, शेष भाइयों ने राम की ओर तिरछी मुस्कान का प्रक्षेपण करते हुए स्वीकार किया। आज भरत भी अपने सामान्य स्वभाव के विपरीत कुछ-कुछ लक्ष्मण और शत्रुघ्न के रंग में रँगे हुए थे। संभव है राम से सुदीर्घ बिछोह का सदुपयोग करते हुए शत्रुघ्न ने उन पर वशीकरण मंत्र का सफल प्रयोग किया हो।

‘देख रहे हो शत्रुघ्न, भ्राता का सम्मान कितना बढ़ गया है! इनके साथ-साथ मैं भी सम्मानित हो गया हूँ। मैं भी अब शेषनाग का अवतार हो गया हूँ।’ कहकर लक्ष्मण खुलकर हँस पड़े- ‘तुम लोग भी हमारे साथ आए होते तो तुम भी किसी न किसी का तो अवतार सिद्ध हो ही गए होते।’

‘हटो, बड़े आये अवतार!’ शत्रुघ्न भला लक्ष्मण की बात बिना किसी प्रतिरोध के कैसे स्वीकार करते- ‘हम श्रीविष्णु के लघु-भ्राता हैं और आप क्या हैं ... मात्र एक बिछावन, जिस पर श्रीविष्णु शयन करते हैं। आप हमारी प्रतिष्ठा की बराबरी भला कहाँ कर सकते हैं!’

लक्ष्मण शत्रुघ्न की ओर झपटे किंतु भरत ने हँसते हुए उन्हें थाम लिया।

‘भ्राता छोड़ दीजिए, आज मैं इसकी चटनी बनाकर ही छोड़ूँगा।’

आजकल गली-मोहल्लों के युद्धों में योद्धागण एक ‘ट्रिक’ का बड़ी सफलता से प्रयोग करते हैं। दोनों ओर के योद्धा घनघोर गर्जन करते हुए झपटते हैं और उनके

शुभचिंतक उन्हें थाम लेते हैं, कुछ इस अंदाज़ में कि यदि छोड़ दिया तो सगर-पुत्रों के समान सारी धरती खोद डालेंगे। पकड़े गए योद्धा, छूटने का प्रयास किए बिना अपने शुभचिंतकों की पकड़ में उछलते-कूदते रहते हैं। इस प्रकार धरती खुदने से बच जाती है और दोनों पक्षों के योद्धा भी 'वन पीस' साबुत बने रहते हैं।

इस अद्भुत 'ट्रिक' का आविष्कार इसी समय लक्ष्मण ने किया था। भरत लक्ष्मण को थामे थे। शत्रुघ्न थोड़ी दूर पर कमर पर हथेलियाँ टिकाए हँस रहे थे ... उन्होंने अपनी अंतर्दृष्टि से देख लिया था कि लक्ष्मण नवीन युद्ध-शैली का आविष्कार कर रहे हैं किंतु भरत बेचारे नादान थे ... भोले थे, वे इस तथ्य को नहीं समझ पाए। वे लक्ष्मण को पकड़े हुए मात्र हँस रहे थे। अकस्मात् उन्होंने न जाने क्या सोचा और लक्ष्मण को छोड़ दिया।

अब चौकने की बारी शत्रुघ्न की थी। वे चौंके भी, किंतु इससे उनकी सतर्कता में कोई कमी नहीं आई। इधर लक्ष्मण की कलाई भरत के हाथ से छूटी उधर शत्रुघ्न उड़ लिए। आगे-आगे शत्रुघ्न, पीछे-पीछे लक्ष्मण। दोनों हँसते जा रहे थे, चिल्लाते जा रहे थे और दौड़ते जा रहे थे जैसे उन्हें इस उद्यान को नापने का कार्य सौंपा गया हो। दौड़ते-दौड़ते वे बड़े भाइयों की दृष्टि से ओझल हो गए। दौड़ते-दौड़ते वे यह भी भूल गए कि वे एक दूसरे की चटनी बनाने के लिए दौड़ रहे हैं। उन्हें अपने बचपन का एक-दूसरे को पकड़ने के लिए दौड़ने का खेल स्मरण हो आया। यह बचपन भी एक ऐसी अद्भुत चीज है, जो किसी को भी, किसी समय भी याद आ सकती है। मौका-बेमौका नहीं देखती।

इस बचपन की याद के कारण उद्यान, उद्यान के पुष्प-वृक्ष-लतायें, उनपर कलरव करते पक्षी, गुंजार करते भ्रमर, नृत्य करती तितलियाँ सब के सब दोनों कुमारों का अद्भुत युद्ध-कौशल देखने से वंचित रह गए।

दोनों भागते जा रहे थे और बेतहाशा हँसते जा रहे थे, मानो बचपन की याद ने उन्हें भाँग छनवा दी हो। हँसी ने शत्रुघ्न के पेट में जैसे मथानी चलानी आरंभ कर दी, उन्होंने भागते-भागते ही पेट पकड़ लिया। थोड़ी ही देर में यह मथानी इतनी तीव्र गति से परिभ्रमण करने लगी कि शत्रुघ्न के लिए दौड़ पाना संभव न रहा। वे पेट पकड़कर हँसते हुए भूमि पर लोट गए। लक्ष्मण उनके ऊपर लोट गए। कुछ देर दोनों एक-दूसरे से लिपटे कलाबाजियाँ खाते रहे। जब मन भर गया तो बैठ कर अपनी साँसों को नियंत्रित करने का प्रयास करने लगे।

हमारे देश में एक वैदिक-कालीन परम्परा चली आ रही है। भाई की ससुराल गये हुए नवयुवकों के हृदयों को पुष्पशर चाँदमारी (सेना के जवान जहाँ निशानेबाजी का अभ्यास करते हैं) का मैदान बना लेता है। इस क्रम में आम युवकों को तो वह बौरा

देता है पर जो हमारे लक्ष्मण-शत्रुघ्न जैसे वशिष्ठ के गुरुकुल के साँचे में पके होते हैं, अपने सारे कौशल का प्रयोग करने पर भी पुष्पशर उनके मन में मात्र फुरफुरी ही पैदा कर पाता है। अपने ज्येष्ठ भ्राताओं से बिछड़े इन दोनों कुमारों के मन में भी पुष्पशर फुरफुरी ही पैदा कर पाया। पर हाथी की लीद भी पल्ला भर होती है। लक्ष्मण और शत्रुघ्न के हृदयों की यह फुरफुरी भी पर्याप्त थी।

‘लक्ष्मण!’ अपने हँसी के दौर पर नियन्त्रण पाते ही शत्रुघ्न ने प्रश्न उछाला- ‘मिथिला नरेश की कितनी कन्यायें हैं?’

‘दो ... क्यों?’ लक्ष्मण ने शत्रुघ्न की आँखों में झाँकते हुए प्रति-प्रश्न किया।

‘कुछ नहीं, यँही ... पर हम तो चार हैं।’ शत्रुघ्न ने एक घास के तिनके से खेलते हुए अनमने ढंग से कहा।

‘सो तो है।’

‘अच्छा, भाभी तो बहुत सुन्दर होंगी?’

‘कल्पना से भी अधिक।’ लक्ष्मण ने सम्मोहित सी वाणी में उत्तर दिया।

‘तब तो उनकी भगिनी भी अतीव सुन्दर होगी।’

‘निश्चित ही है, किंतु भाभी जितनी नहीं।’

‘तो वह मेरे लिए उपयुक्त हो सकती है।’

‘तुम्हारे लिए क्यों, मेरे लिए क्यों नहीं?’

‘क्योंकि विचार पहले मेरे मन में आया है।’

‘उससे क्या होता है, देखा तो पहले मैंने है।’

‘छोटे भाई की अनुनय पर ध्यान नहीं दोगे?’

‘कैसा छोटा भाई है, बड़े भाई से पहले अपने ब्याह की सोच रहा है?’

‘तो बड़ा भाई अपनी सोचे न! किसने रोका है? आपके विवाह के सम्बन्ध में यदि किसी विराट् रोमांचकारी अभियान का आयोजन करना पड़ा तो आपका यह कनिष्ठ भ्राता, शत्रुघ्न, उस अभियान का नेतृत्व करने में स्वयं को गौरवान्वित अनुभव करेगा।’ शत्रुघ्न ने नाटकीय ढंग से उत्तर दिया।

‘नाट्य छोड़। वह स्थिति ही उत्पन्न नहीं होगी। लक्ष्मण के अग्रज, भ्राता भरत तो संन्यासी हैं। उनके विवाह से पूर्व लक्ष्मण कैसे सोचे?’

‘यह समस्या तो है।’ शत्रुघ्न संसार की सारी गम्भीरता अपने ऊपर ओढ़ते हुए जैसे अपने से ही बोले।

लक्ष्मण सोच में डूबे बैठे थे जैसे भरत उनके साथ बहुत बड़ा अन्याय कर रहे हों, और उनके पास प्रतिकार का कोई मार्ग न हो।

‘वैसे भाई!’ शत्रुघ्न पुनः बोले- ‘बड़े भ्राता हमसे कुछ दिन ही तो बड़े हैं।’

‘हाँ!’ लक्ष्मण ने वैसे ही खोये-खोये स्वर में गंभीरता से कहा।

‘तब यदि उनका विवाह हो रहा है तो हमारा भी होना ही चाहिए।’

‘निस्संदेह होना ही चाहिए।’

‘एक ही मंडप में हो जाए तो रंग ही अलग होगा।’

‘कैसे होगा, भाभी की तो एक ही बहन है और हम तीन हैं?’

‘हूँ SSSS ...’

‘हूँ SSSS ...’

‘एक मार्ग है!’ शत्रुघ्न ने तन कर बैठते हुए कहा।

‘क्या ???’ लक्ष्मण भी तन कर बैठ गए और आशा भरी दृष्टि से शत्रुघ्न की ओर देखने लगे।

‘हम बलात किसी राजकुमारी का अपहरण कर लें, जैसे पिताजी ने बड़ी माँ का किया था।’

‘हम बलात किसी राजकुमारी का अपहरण कर लें, जैसे पिताजी ने बड़ी माँ का किया था।’ लक्ष्मण ने शत्रुघ्न की नकल उतारते हुए कहा- ‘जानते भी हो किसी राजकुमारी को?’

‘नहीं,’ शत्रुघ्न का उत्साह फिर पिचक गया- ‘गुरुकुल के अतिरिक्त हम अभी जानते ही क्या हैं!’

‘फिर क्या अपने बड़े भ्राता को नहीं जानते? सारे संस्कारों - सारी मर्यादाओं के उद्धार का सम्पूर्ण दायित्व जैसे विधाता ने उन्हें ही सौंप रखा है।’

‘सच है। पिताजी की बात होती तो कोई समस्या नहीं थी किंतु राम भ्राता के होते तो ऐसा सोचा भी नहीं जा सकता।’

‘हाँ, फिर वे इतने प्यारे हैं कि उन्हें दुःख भी नहीं दे सकते।’

‘तो कुछ और सोचो।’

कुछ काल के लिए गुरु-गम्भीर मौन व्याप्त हो गया। दोनों भाई जीवन में अनचाहे ही उपस्थित हो गए इस गुरु-गंभीर प्रश्न का उत्तर खोजने में व्यस्त थे।

सम्पूर्ण सृष्टि उनकी सफलता की कामना कर रही थी। उनके निष्कर्ष की प्रतीक्षा कर रही थी ... वह भी मौन थी।

इस मौन को तोड़ा एक कोकिलकंठी स्वर ने।

‘ऐ! कौन हैं आप लोग? क्या किसी प्रहरी ने आपके संज्ञान में नहीं लाया कि यह उद्यान राज-परिवार के लिए आरक्षित है?’

दो अत्यंत सुंदरी, समस्त शुभ लक्षणों से सम्पन्न कन्यायें वातावरण को अपनी उपस्थिति से सुवासित करती हुई, उनसे कुछ ही दूरी पर खड़ी थीं। उन्हीं में से किसी

ने प्रश्न किया था।

‘इनमें से भाभी कौन सी हैं?’ शत्रुघ्न ने लक्ष्मण की पसलियों में कुहनी से टहोका लगाते हुए प्रश्न किया।

‘कोई भी नहीं।’

‘तात्पर्य?’

‘तात्पर्य क्या, कोई भी नहीं। इनमें न भाभी हैं और न ही उनकी भगिनी।’

‘तब फिर कौन हैं? ये तो कह रही हैं कि यह उद्यान राजपरिवार के लिए आरक्षित है? तब भी यदि ये यहाँ उपस्थित हैं तो इन्हें भी राजपरिवार का ही होना चाहिए?’

‘मैं क्या जानूँ, इन्हीं से पूछो।’

‘प्रश्न सुनाई नहीं दिया क्या? उत्तर क्यों नहीं देते?’ प्रश्न पुनः हुआ।

‘प्रथम आप अपना परिचय दीजिए। आप किस राज परिवार से हैं? महाराज सीरध्वज की कन्यायें तो आप हैं नहीं।’ शत्रुघ्न ने लक्ष्मण की सलाह का अनुपालन किया। लक्ष्मण से प्राप्त सूचना के आधार पर वे सुनिश्चित थे कि ये महाराज सीरध्वज की कन्यायें नहीं हैं।

‘कितना धृष्ट है यह दीदी!’ उसी कन्या ने उत्तेजित होते हुए कहा।

‘हूँ, तो ... क्या करेंगी आप?’ शत्रुघ्न ने भी ढीठता से उत्तर दिया।

वह भी पलट कर कुछ और कहने जा ही रही थी कि दूसरी कन्या ने उसे रोकते हुए कहा-

‘नहीं श्रुति उत्तेजित होने की आवश्यकता नहीं है।’

‘आप भी न दीदी! इन जैसे दुष्ट सौहार्द्रपूर्ण व्यवहार के पात्र नहीं होते। इनके साथ सज्जनता का व्यवहार करो तो ये उसे आपकी दुर्बलता समझते हैं और तब और भी ढीठता पर उतर आते हैं। इन्हें तो’

शत्रुघ्न ने श्रुति के उत्तेजनावश ऊँचे उठते स्वर को बीच में ही काटते हुए पुनः चोट की-

‘दुर्बल तो आप हैं ही। किंतु बिना माँगे परामर्श दे रहा हूँ - आपका यह कोकिल-कंठ इस भाँति चीखने के लिए नहीं बना। इससे मधुर-मधुर स्वर-लहरियाँ बिखेरने का ही कार्य लिया कीजिए।’ इतना कहकर फिर खिझाने के उद्देश्य से आगे जोड़ा- ‘श्रुति जी!’

लक्ष्मण मंद-मंद मुस्कराते हुए शत्रुघ्न का वाक्-**कौशल** देख रहे थे। इस वाक्य पर अचानक उनकी मुस्कराहट हँसी बन कर छलक पड़ी।

लक्ष्मण के हँसने से श्रुति और उत्तेजित हो गयी और चीख पड़ी-

‘प्रहरी ! प्रहरी !!’

दोनों भाई निर्लिप्त भाव से उसकी पुकारें सुनते रहे, मानो उनका इन पुकारों से कोई संबंध ही न हो।

तभी पीछे, प्रासाद की ओर से एक तीसरी सुमुखी कन्या की आकृति दिखाई पड़ी। दूर से ही उसने हड़बड़ाते हुए प्रश्न किया-

‘क्या हुआ श्रुति?’

‘कुछ नहीं उर्मिला! न जाने कैसे दो प्रमादी व्यक्ति उद्यान में प्रवेश पा गए हैं। ये प्रहरी आलसी हो गए प्रतीत होते हैं।’

अब तक आकृति स्पष्ट हो गयी थी। लक्ष्मण ने उसे पहचाना और पहचान कर शत्रुघ्न की पसलियों में टहोका-

‘ये है भाभी की भगिनी।’

‘अरे! अर्थात् किसी न किसी भांति ये दोनों भी राज-परिवार से संबंधित हो सकती हैं।’

उर्मिला वहाँ तक आ पाती उससे पूर्व ही चार प्रहरी भी भागते हुए आ उपस्थित हुए। चारों ही हड़बड़ाए हुए थे-

‘जी कुमारी! क्या त्रुटि हुई?’ एक ने सहमते हुए जानना चाहा।

‘इन प्रमादियों को प्रवेश कैसे प्राप्त हुआ उद्यान में? इन्हें अविलम्ब यहाँ से बाहर करो।’

प्रहरी दोनों कुमारों को पहचान रहे थे। वे और अधिक हड़बड़ा गए।

‘जी? ... जी? ...’ उन्हें समझ नहीं आ रहा था क्या करें। प्रभु राम के भाइयों के साथ वे किस प्रकार अभद्रता कर सकते थे। तभी उर्मिला भी वहाँ पहुँच गयी और उसने उन्हें उनकी किंकर्तव्यविमूढ़ता की स्थिति से उबार लिया-

‘क्या हुआ श्रुति? इस प्रकार क्यों चीख रही थीं?’

तभी उसकी दृष्टि लक्ष्मण पर पड़ी। वह भी चौंक गयी-

‘आप ... आप ... तो कुमार लक्ष्मण हैं न?’

‘जी!’ उत्तर शत्रुघ्न ने दिया। फिर आगे जोड़ा - ‘और मैं शत्रुघ्न हूँ।’

लक्ष्मण निर्निमेष दृष्टि से उर्मिला को ताके जा रहे थे। धनुषभंग के समय भी उर्मिला उपस्थित थी किंतु उस समय लक्ष्मण का पूरा ध्यान भ्राता राम के कौशल पर था अथवा अपनी होने वाली भाभी पर था। तब उन्होंने ध्यान से उर्मिला का निरीक्षण नहीं किया था।

इस दृष्टि से उर्मिला ने कुछ असहज अनुभव किया किंतु परिस्थिति को ध्यान में रखते हुए उसने क्षणांश में स्वयं को नियंत्रित किया और प्रहरियों को जाने का संकेत करती हुई श्रुति से बोली-

‘तुम्हें समझने में कुछ भूल हुई है श्रुति।’ फिर लक्ष्मण और शत्रुघ्न की ओर मुड़ते हुए हाथ जोड़ते हुए बोली-

‘अपनी भगिनी की ओर से मैं क्षमाप्रार्थी हूँ आप दोनों से। ... आइये मैं परिचय करवा दूँ- यह श्रुतिकीर्ति है, मेरे काका, सांकाश्या नरेश महाराज कुशध्वज की छोटी पुत्री, और यह है काका की बड़ी पुत्री माण्डवी। ये दोनों अभी कुछ काल पूर्व ही आई हैं, संभवतः तभी आपको पहचान नहीं पाई और श्रुति ये श्रीराम के कनिष्ठ भ्रातागण हैं।’

परिचय सुनते ही श्रुति के कपोल कानों तक आरक्त हो गए। किसी भांति उसके मुख से इतना ही निकला-

‘क्षमा करें ... किंतु आपने परिचय क्यों नहीं दिया? मैं तो समझी’

‘कि कोई हिंस्र पशु वन से भटक कर उद्यान में आ गया है।’ शत्रुघ्न ने उसका वाक्य पूरा किया और हँस पड़े।

श्रुतिकीर्ति और भी लजा गयी। उसके कपोल और भी आरक्त हो उठे। अधरों पर स्मित नृत्य कर उठी। नयन झुक गये। फिर सकुचाते हुए उठे .. फिर झुक गये।

‘एक बात कहूँ?’ शत्रुघ्न ने मुस्कुराते हुए प्रश्न किया।

हठात् नयन फिर उठे। अधरों पर कंपन हुआ - ‘जी!’ और नयन फिर झुक गए।

‘सच में ! आप क्रोध में अत्यंत सुंदर लगती हैं।’

श्रुतिकीर्ति अचानक घूमी और भाग ली। कुछ डग बाद एक बार पीछे मुड़कर देखा और फिर भागती ही चली गयी।

‘अच्छा कुमार! हमें आज्ञा दें। मैं तो इन दोनों को बुलाने ही आई थी, माता बुला रही हैं।’ उर्मिला ने हाथ जोड़कर तनिक सा सिर झुकाते हुए आज्ञा माँगी।

‘जी!’ लक्ष्मण के मुख से इतना ही निकला।

‘चल माण्डवी।’

* * *

‘लक्ष्मण !’

‘हूँ !’ लक्ष्मण अभी भी कहीं खोये हुए थे।

‘ये तो चार हैं हम भी चार हैं।’

लक्ष्मण के सम्मुख जैसे कोई विराट् सत्य उद्घाटित हुआ हो। एकदम से चौंक पड़े। हठात् उनके मुख से निकला-

‘देख, मैं भ्राता राम का विशेष प्रिय हूँ ... उनकी सगी वाली साली मेरे हिस्से में है।’

‘बड़े भ्राता को प्रिय तो मैं भी उतना ही हूँ जितने तुम। किंतु तुम्हारा मन है तो यही सही। मुझे तो वैसे भी वह तीखी मिर्च भा रही है।’

लक्ष्मण ने संतोष से सिर हिलाया।

‘और भ्राता भरत के लिए वह सीधी-सादी माण्डवी ही उचित भी है।’

‘हूँ S S S !’

‘किंतु ... ?’

‘क्या किंतु?’

‘किंतु यह बात आगे कैसे बढ़ाई जाए?’

‘क्या विधाता! समस्त जटिल प्रश्न आज ही उपस्थित करने थे हमारे सम्मुख?’
लक्ष्मण ने दोनों हाथ उठाकर जैसे विधाता के न्यायालय में अपना परिवाद प्रस्तुत किया। फिर अचानक भान हुआ कि दोनों ज्येष्ठ भ्राता अभी तक नहीं आए-

‘अरे! किंतु दोनों ज्येष्ठ भ्राता कहाँ विलीन हो गए?’

‘उन्हें छोड़ो। यह जो प्रश्न उपस्थित हुआ है, यह अधिक गम्भीर है।’

‘हाँ ... इसमें उनसे परामर्श लिया भी नहीं जा सकता।’

* * *

विधाता की अहेतुकी कृपा किस पर, कब और किस भांति बरस जाए कोई नहीं जानता।

अब पता नहीं इन दोनों कुमारों पर विधाता की अहेतुकी कृपा बरसी थी अथवा ब्रह्मर्षि विश्वामित्र की अन्तर्दृष्टि ने यहाँ घटित हो रहा सम्पूर्ण प्रकरण देख लिया था। कुछ भी हो जिस क्षण ये दोनों कुमार इस भीषण-जटिल प्रश्न से जूझ रहे थी, ठीक उसी क्षण -

‘गुरुदेव !’ विश्वामित्र वशिष्ठ से सम्बोधित हुए- ‘एक प्रस्ताव है।’

‘ब्रह्मर्षि गुरुदेव कहकर मुझे लज्जित न करें।’ वशिष्ठ ने सहज हास्य से कहा- ‘जहाँ तक आपके प्रस्ताव का प्रश्न है ... तो आदेश दीजिए।’

सभागृह में एक आसन पर विश्वामित्र बैठे थे, उनके ठीक सामने गुरु वशिष्ठ विराज रहे थे। विश्वामित्र की दाहिनी ओर महाराज दशरथ बैठे हुए थे। उनके पीछे अयोध्या के अन्य आमात्यगण थे।

‘महाराज दशरथ के चार सर्वगुण सम्पन्न प्रतापी पुत्र हैं।’ विश्वामित्र वाग्विलास में उलझे बिना आगे बोले- ‘इधर महाराज सीरध्वज की दो, और महाराज कुशध्वज की दो, अर्थात् कुल चार सुंदरी, सुसंस्कृत, गुणवती ... कुमारों के सब भांति योग्य कन्यायें हैं।’

‘अत्युत्तम! अत्युत्तम विचार ब्रह्मर्षि!’ वशिष्ठ ने प्रस्ताव रखे जाने की प्रतीक्षा भी नहीं की, मंद हास्य के साथ अपनी स्वीकृति प्रदान कर दी- ‘दोनों ही कुल भूमण्डल पर सर्वत्र सुपूजित हैं। इन दोनों कुलों में परस्पर इतना सुदृढ़ सम्बन्ध सर्वथा उपयुक्त और श्रेयस्कर है।’ कहने के साथ ही वशिष्ठ प्रश्नवाचक दृष्टि से दशरथ की ओर देखने लगे।

‘जिस प्रस्ताव को दोनों ब्रह्मर्षियों का अनुमोदन प्राप्त हो ... वह तो स्वयमेव आदेश हो गया। दशरथ को आपका आदेश सहर्ष स्वीकार है।’ दशरथ ने हाथ जोड़कर सिर झुकाकर हँसते हुए दोनों ब्रह्मर्षियों को प्रणाम किया और सामने बैठे सीरध्वज और कुशध्वज की ओर देखने लगे। उनके हाथ भी पहले ही जुड़ चुके थे।

‘आपका आभार किस भांति व्यक्त करें ब्रह्मर्षि! यौवन में प्रवेश करती कन्याओं के पिता के लिए सबसे गंभीर प्रश्न उनके लिए सुयोग्य वर का चयन ही होता है। आपने तो हमें क्षणमात्र में त्रिलोक की सम्पूर्ण सम्पदा प्रदान कर दी।’ कुशध्वज ने भी अनुमोदन कर दिया।

‘तो फिर राम और सीता का विवाह तो सुनिश्चित हो ही चुका है। उसी मंडप में, उसी मुहूर्त में लक्ष्मण-उर्मिला, भरत-माण्डवी और शत्रुघ्न-श्रुतिकीर्ति का भी विवाह सम्पन्न हो जाए।’

विचार करने को था ही क्या, हर्षध्वनि-मंगल ध्वनि के मध्य कुछ ही दिन में आने वाले, विवाहादि कृत्यों हेतु अत्युत्तम माने जाने वाले उत्तरा फाल्गुनी नक्षत्र में, वैदिक विधि-विधान से उपरोक्त क्रमानुसार चारों कुमारों और चारों कुमारियों का विवाह-संबंध स्थापित होना सुनिश्चित हो गया।

16 - विचार

उसी दिन सायंकाल, चारों कुमारों के विवाह के प्रस्ताव के अनुमोदन के दो मुहूर्त बाद महाराज दशरथ, गुरु वशिष्ठ और जाबालि सहित अन्य आमात्यगण मंत्रणा हेतु बैठे ... अपितु उचित होगा यदि कहा जाए कि अप्रत्याशित रूप से चौगुनी हो गयी प्रसन्नता में डूबे उसी सम्बन्धी आयोजन के विषय में विचार-विमर्श कर रहे थे। संयोग से दशरथ का मुख द्वार की ओर ही था। एकाएक उनकी दृष्टि उठी। देखा कि उत्फुल्ल हृदय राम और भरत... और उनके पीछे विचारों में डूबे लक्ष्मण और शत्रुघ्न चले आ रहे हैं। क्षणांश के लिए उनके मस्तिष्क में विचार कौंधा कि कुमारों का यह विपरीत स्वभाव क्यों दृष्टिगोचर हो रहा है? किंतु इस आनंद के अवसर पर यह महत्वहीन विचार टिका न रह सका। आनन्द के अतिरेक में उन्हें कुछ ठिठोली सूझी, आँखों के संकेत से ही सबको समझा दिया कि अभी कुमारों के सम्मुख इस नवीन समाचार का उद्घाटन न किया जाए। उनके मुख पर गहन तन्मयता थी। इस तन्मयता के पीछे एक चंचल सी मुस्कुराहट छिपी हुई थी।

‘आओ पुत्रों! कहाँ-कहाँ भ्रमण किया? अत्यंत मनोरम है न मिथिला नगर?’

‘बस उद्यान देखा आज तो पिता जी।’ भरत ने उत्तर दिया।

‘अरे, सम्पूर्ण दिवस में मात्र उद्यान!’ दशरथ ने आश्चर्य का प्रदर्शन करते हुए कहा- ‘मिथिला में तो अनेक रमणीक स्थल हैं।’

उत्तर में भरत ने मुस्कुराते हुए उन्हें लक्ष्मण द्वारा प्रस्तुत किया गया कारण बताया। सुनकर कक्ष सबके सम्मिलित अट्टहास से गूँज गया।

‘कैसा लगा उद्यान?’

‘कुछ देख ही कहाँ पाए!’

‘क्यों भला!’

‘हमारे साथ ये दोनों जो थे।’

‘तात्पर्य?’ दशरथ सहित कोई भी सच में ही समझ नहीं पाया था- ‘कोई नवीन प्रहसन तो नहीं रच डाला इन्होंने वहाँ?’

‘नहीं पिताजी, ऐसा नहीं ... किंतु परस्पर झगड़ते हुए ये उद्यान में ऐसे विलुप्त हुए कि सम्पूर्ण प्रहर तो इन्हें खोजने में ही व्यतीत हो गया।’

‘क्यों लक्ष्मण! क्यों शत्रुघ्न! ... अपनी इन उच्छृंखलताओं को अयोध्या के लिए ही बचा रखो। कम से कम यहाँ तो अयोध्या की गरिमा का ध्यान रखो ... हम यहाँ

अतिथि हैं, अतिथि की मर्यादा का ध्यान रखो।' दशरथ ने मंद-मंद मुस्कुराते हुए, हृदय से आनन्दित होते परंतु ऊपर से क्रोध का अभिनय करते हुए डाँट लगाई।

‘नहीं पिताजी ...’ कहते हुए लक्ष्मण शिकायती निगाहों से भरत को देख रहे थे मानो कह रहे हों- हमें आपसे ऐसी शत्रुता की अपेक्षा नहीं थी। शत्रुघ्न के मुख पर भी ठीक ऐसे ही भाव थे। वे दोनों तो इस उधेड़बुन में थे कि अपना प्रस्ताव किस प्रकार गुरुजनों के सम्मुख प्रस्तुत किया जाए किंतु भरत ने तो सारा माहौल ही विरोधी कर दिया था। अब ऐसे में प्रस्ताव कैसे रखा जाए भला?

संयोग से अधिक प्रताड़ना का सामना नहीं करना पड़ा। दशरथ और कुछ कहते उससे पूर्व ही एक प्रहरी उपस्थित हुआ-

‘महाराज! केकय नरेश, आर्य युधाजित दर्शन की अनुमति चाहते हैं।’

‘अरे!’ दशरथ कुछ आश्चर्य तो उससे भी अधिक प्रसन्नता से चहक पड़े- ‘उन्हें अनुमति की क्या आवश्यकता है। शीघ्र ही लिवा कर लाओ।’

युधाजित कैकेयी के सबसे बड़े भाई और भरत के मातुल थे। चारों कुमार द्वार के समीप ही खड़े थे, युधाजित के प्रवेश करते ही चारों ने चरणधूलि लेकर मातुल को सम्मान दिया। युधाजित ने चारों के सिर पर हाथ फेर कर उन्हें आशीष दिया। फिर राम को अपने आलिंगन में समेट लिया।

युधाजित के कक्ष में प्रवेश करते ही गुरुदेव वशिष्ठ के अतिरिक्त अन्य सभी ने खड़े होकर सम्मान प्रदर्शित किया। युधाजित वयस में भले ही महाराज से छोटे थे किंतु वे उनकी पत्नी के बड़े भाई थे, इस नाते उनके भी गुरुजन थे।

परस्पर अभिवादन का आदान प्रदान हुआ।

‘अपने भागिनेय के विवाह की बधाई स्वीकार करें अग्रज!’ दशरथ ने युधाजित से गले भेंटते हुए कहा।

‘प्रथम आप स्वीकार करें, कुमार राम के पिता बधाई के प्रथम अधिकारी हैं।’

‘स्वीकार की!’ दशरथ ने हँसते हुए कहा। फिर युधाजित की अचानक उपस्थिति को लेकर उनका अचरज मुखर हो उठा-

‘किंतु अग्रज आपको इतनी शीघ्र सूचना किस भाँति प्राप्त हुई? सब कुछ इतना अकस्मात हुआ कि हम तो कहीं सूचना भेज ही नहीं पाए।’

‘भेज ही नहीं पाए अथवा आनन्दातिरेक में स्मरण ही नहीं रहा?’

‘अब जो भी कहिए।’ दशरथ किंचित संकुचित हुए किंतु अगले ही क्षण स्वयं पर नियंत्रण प्राप्त कर सफाई प्रस्तुत की-

‘सत्य कहा जाए तो आपका कथन ही सत्य है, स्मरण ही नहीं रहा। आपको, महाराज रोमपाद को, शांता को, महाराज भानुमान को, काशिराज को किसी को भी

सूचना-संदेश नहीं भेज पाए। फिर यह भी विचार आया कि अब अयोध्या लौटकर ही विशाल आयोजन कर सबके साथ अपनी प्रसन्नता साँझी की जाएगी ! किन्तु मेरा प्रश्न तो आप’

‘कोई सूचना नहीं मिली मुझे। मैं तो मात्र पिताजी के आदेश से कुमार भरत को लिवाने आया था। बहुत दिनों से देखा नहीं था न उन्होंने अपने दौहित्र को, तो हुड़क रहे थे। अयोध्या पहुँचा तो इस उत्साहजनक समाचार का ज्ञान हुआ। यह भी पता चला कि बस एक प्रहर पूर्व ही आपने मिथिला के लिए प्रस्थान किया है ... तो बस मैं तीनों बहनों से औपचारिक भेंट कर भागा-भागा सीधा यहीं चला आया।’ फिर थोड़ी सी चुहल कर डाली- ‘व्यवधान तो नहीं दिया न मैंने?’

‘व्यवधान!’ दशरथ खुलकर हँसे- ‘भागिनेय का विवाह मातुल की उपस्थिति के बिना भी कहीं सम्पन्न होता है? आपके आगमन से तो आयोजन को पूर्णता प्राप्त हुई है अग्रज!’

कुछ देर और इसी भांति चुहल होती रही।

इस सब में महाराज दशरथ को विस्मृत ही हो गया कि उन्होंने नवीन घटनाक्रम अभी कुमारों से छुपाने का निश्चय किया था। उनके मुख पर खेल रही चंचल स्मित और भी सघन हो उठी, वे युधाजित से पुनः सम्बोधित हुए-

‘अग्रज एक समाचार अभी भी आपको ज्ञात नहीं होगा!’

‘भला वह क्या?’

‘अभी कुमारों की माताओं को भी ज्ञात नहीं है।’ दशरथ ने रहस्यपूर्ण स्मित के साथ पतंग को ढील दी।

‘किंतु है क्या वह समाचार?’ युधाजित की उत्सुकता बढ़ती जा रही थी। कुमार भी विस्मित थे, शेष सभी के अधरों पर बिखरी स्मित और भी विस्तृत होती जा रही थी।

‘मात्र राम ही नहीं,’ दशरथ ने रहस्य खोलते हुए कहा- ‘चारों ही कुमार परिणय बंधन में आबद्ध होने जा रहे हैं। एक ही साथ, एक ही मंडप में। ... तो अब एक नहीं, चार बधाइयाँ स्वीकार करें।’ कहते हुए उन्होंने पुनः अपनी बाहें फैला दीं। दोनों पुनः प्रगाढ़ आलिंगन में आबद्ध हो गए। मंद हास्य का जलतरंग पुनः अपनी लहरियाँ बिखेरने लगा।

पिता की बात सुनकर आश्चर्य तो द्वार पर खड़े भरत और राम को भी हुआ किंतु लक्ष्मण और शत्रुघ्न के तो जैसे आश्चर्य से मुँह खुले के खुले ही रह गए। शत्रुघ्न ने लक्ष्मण का हाथ थामा और - ‘पिताजी! हम बस अभी आते हैं।’ कहते हुए उसे बाहर खींच ले गए।

बाहर आकर दोनों आपस में लिपट गए।

अचानक शत्रुघ्न के मस्तिष्क में कुछ कौंधा। आलिंगन से बाहर आते हुए उन्होंने लक्ष्मण से प्रश्न किया-

‘किंतु यदि संबंध उलट-पुलट हो गए हुए तो?’

‘तात्पर्य?’

‘तात्पर्य यह कि यदि मेरी वाली का संबंध तुम्हारे साथ और तुम्हारी वाली का मेरे अथवा भ्राता भरत के साथ निश्चित हो गया हुआ तो ...’

‘तो ... तो ... तो क्या, उसी में संतोष करना पड़ेगा। किंतु मुझे विश्वास है, ऐसा हुआ नहीं होगा। दैव ने यदि हमारी प्रार्थना सुन ही ली है तो पूरी-पूरी सुनी होगी न!’

‘ऐसा ही हो ...।’

‘और यदि उलट भी गए तो क्या ... जो मिलेगी उसीसे संतोष कर लेंगे। इस **कुँवारेपन** से तो छुटकारा मिलेगा।’

‘हूँ’

भीतर दशरथ अब युधाजित को आलिंगन से मुक्त कर महाराज अश्वपति का कुशलक्षेम पूछ रहे थे-

‘महाराज कुशल से तो हैं?’

‘पूर्ण कुशल से हैं।’

‘सुना है अब तो उन्होंने समस्त राज्यभार आपको ही सौंप दिया है।’

‘सही सुना है आपने! वे तो सब कुछ त्यागकर वानप्रस्थ ग्रहण करने हेतु तत्पर थे। हम लोग बड़ी कठिनाई से उन्हें कुछ दिन और राज्य को अपना आशीर्वाद प्रदान करते रहने हेतु मना पाए।’ कहकर युधाजित हँसने लगे।

सहज बात थी किंतु दैव की लीला, दशरथ के लिए सहज नहीं रही। अचानक उनके मन में कौंधा- यदि अश्वपति साम्राज्य का भार पुत्रों को सौंपकर वैराग्य में प्रवृत्त हो सकते हैं तो वे क्यों नहीं? अभी तक तो वे कुमारों को बालक ही मानते आए थे, किंतु अब तो उनका विवाह होने जा रहा है अब उन्हें बालक कैसे माना जा सकता है। फिर राम और लक्ष्मण ने तो स्वयं को उनसे ... अपने पिता से भी अधिक पराक्रमी सिद्ध कर दिया है। भरत और शत्रुघ्न भी किसी से कम नहीं हैं। यही उचित होगा कि अब वे भी साम्राज्य के दायित्व कुमारों को सौंपकर निश्चित हो जायें। राम का विधिपूर्वक राज्याभिषेक कर दें और शेष कुमारों को भी उनके योग्य उचित दायित्व सौंप दें और स्वयं भारहीन होकर आनंद से पौत्रों के साथ विहार करें। विचार आने भर की देर थी, वे दायित्वमुक्त होकर पौत्रों के साथ खेलने को छटपटाने लगे। किन्तु वे अश्वपति की भांति वानप्रस्थ ग्रहण करने का नहीं सोचेंगे, वे तो जीवन का आनन्द लेंगे।

‘कहाँ खो गए महाराज?’ युधाजित ने उन्हें विचारों की वीथिका से बाहर खींच लिया।

‘कहीं नहीं, बस मन ही मन कुमारों के विवाह का आनन्द ले रहा था।’ दशरथ ने बात बना दी।

सब हँस पड़े।

किसी को भी यह भान नहीं हो पाया कि युधाजित का एक वाक्य महाराज के मन में कैसी उथल-पुथल मचा गया है।

दशरथ जो सोच रहे थे उसमें प्रत्यक्षतः कोई बाधा नहीं थी किंतु फिर भी एक बहुत बड़ी बाधा थी। यही बाधा उन्हें मथने लगी थी। कैकेयी के साथ उनके विवाह के समय एक अनुबन्ध हुआ था कि उनके बाद राज्य का उत्तराधिकारी कैकेयी का पुत्र ही बनेगा। ... और दशरथ राम के अतिरिक्त किसी अन्य को उत्तराधिकारी बनाने को तत्पर नहीं थे।

नहीं, यह कार्य अब शीघ्रातिशीघ्र करना होगा। अठहत्तर वर्ष की इस आयु में अब जीवन का क्या भरोसा! यदि दैवयोग से मेरे साथ कुछ अघटित घट गया तो मेरे उपरांत कोई भी राम को सिंहासनारूढ़ नहीं होने देगा! युधाजित, कैकेयी दोनों भरत के साथ होंगे। जीवन में प्रथम बार उन्हें कैकेयी की निष्ठा पर संदेह होने लगा था। कैकेयी से भी अधिक उन्हें राम पर संदेह होने लगा था। वह तो निरा मूर्ख है, सदैव त्याग की सोचता है। अनुबंध के विषय में ज्ञात होते ही वह स्वतः ही भरत को राज्य सौंप देगा। कोई इस अनीति का विरोध करने वाला भी नहीं होगा। नहीं, इस कार्य में विलम्ब उचित नहीं, वे राम के साथ अन्याय नहीं होने देंगे।

‘आज महाराज कल्पनालोक में ही विचरण करते प्रतीत हो रहे हैं। प्रतीत होता है कि विवाह का मुहूर्त आने से पूर्व ही महाराज अपनी कल्पना में विवाह का ही नहीं, पौत्रों के साथ खेलने का आनन्द भी प्राप्त कर लेंगे।’ महामात्य जाबालि के इस स्नेहपगे कटाक्ष ने उन्हें वापस वास्तविक जगत में खींच लिया। राम के राज्याभिषेक का मार्ग खोजने की योजना पर चिंतन उन्होंने अयोध्या वापसी तक स्थगित कर दिया। गुरुदेव और महामात्य से परामर्श कर ही कोई मार्ग खोजना होगा।

17- परशुराम

विवाह के समस्त आयोजन पूरे वैभव के साथ सम्पन्न हुए। सर्वत्र आनन्द ही आनन्द व्याप्त था। दशरथ भी अपनी उद्विग्नता को हृदय के भीतर ही दबाये आयोजनों का आनन्द ले रहे थे।

प्रस्थान का समय आया तब तक इन्हें अयोध्या से निकले हुए एक माह व्यतीत हो चुका था।

युधाजित उत्सव समाप्त होते ही निकल गए थे। बहुत समय व्यतीत हो गया था। तीन-चार दिनों की यात्रा के लिए ही निकले थे। इस समय भरत को अपने साथ ले जाने के प्रस्ताव का कोई अर्थ ही नहीं था।

विदा जैसे सदैव सम्पन्न होती आई है वैसे ही अश्रुपूरित माहौल में सम्पन्न हुई।

अयोध्या की यह बारात अंततः चार वधुयें लेकर प्रस्थान के लिए अग्रसर हुई। आधी सेना आगे, उसके बाद एक रथ पर गुरुदेव वशिष्ठ के साथ विश्वामित्र। उनके बाद महाराज दशरथ का रथ, फिर आमात्यों और अन्य विशिष्टजनों के रथ। फिर एक रथ पर चारों कुमार, फिर दहेज से भरे दर्जनों रथ और जो कन्याधन महाराज दशरथ अयोध्या से लेकर आए थे उससे भरे रथ, तत्पश्चात् एक रथ पर चारों वधुयें, उनके पीछे कुछ रथ वधुओं की सखियों और दासियों के, तत्पश्चात् कुछ रथ दैनन्दिन उपयोगी सामग्री और रात्रि-विश्राम की सामग्रियों से भरे हुए और उसके पीछे शेष सेना।

जाते समय सामग्रियों से लदी जो अनेक बैलगाड़ियाँ थीं उनकी कुछ सामग्री उपयोग में आ चुकी थी, कुछ आवश्यक सामग्री रथों और अश्वों पर लाद ली गयी थी और उन बैलगाड़ियों को पीछे आते रहने के लिए छोड़ दिया गया था। उनमें ऐसी कोई सामग्री नहीं थी जिसकी लूट का डर होता और फिर अयोध्या के राजकीय दल की बैलगाड़ियों को लूटने का साहस भी किसे था! कुल मिलाकर व्यवस्था यह थी कि तीन से चार दिनों की यात्रा में ही सब लोग अयोध्या वापस पहुँच जायें।

वापस लौटती हुयी इस बारात ने मिथिला की नगरीय सीमा पार कर ली और पश्चिम की ओर घूमकर मुख्य-मार्ग पर अग्रसर हुई। आगे के सैनिक निकल गए। वशिष्ठ और विश्वामित्र का रथ घूम गया, महाराज दशरथ का रथ घूमने को ही था कि पूर्व की ओर से एक प्रचंड स्वर ने रोक दिया-

‘रुको!’

रथ ठिठक गया। महाराज का रथ रुकते ही पीछे सभी रुकते चले गए। दूर पीछे जो लोग थे वे नहीं समझ पाए परंतु कुमारों के रथ तक वह प्रचंड घोष स्पष्ट सुनाई दिया था। सभी की उत्सुक दृष्टि उसी ओर उठ गयी।

यह एक लम्बा, स्वस्थ युवा संन्यासी था। तेजस्वी नेत्र, सुदीर्घ दाढ़ी, लम्बी जटायें, गैरिक अधोवस्त्र, कंधे पर पड़ा गैरिक उत्तरीय और मोटा सा यज्ञोपवीत, कंधे पर एक अत्यंत विशाल धनुष, पीठ पर तूणीर और सबसे विशिष्ट हाथ में थमा विशालकाय अद्भुत परशु जो बरबस अच्छे-अच्छे योद्धाओं को भयाक्रांत करने की सामर्थ्य रखता था।

उस आकृति को पहचानते ही दशरथ सहम से गए। यह तो महर्षि परशुराम थे, जिन्होंने सहस्रबाहु के विशाल साम्राज्य को धूलि-धूसरित कर दिया था।

पीछे लक्ष्मण ने जिज्ञासा की-

‘कौन है यह विभूति भ्राता?’

राम और भरत मौन रहे।

‘वेशभूषा जो बता रही है, उसके अनुसार तो इन्हें भी राम होना चाहिए। जामदग्रेय राम।’

‘अरे वाह! दो-दो राम, दो-दो विष्णु! जामदग्रेय भी तो षष्ठ विष्णु की उपाधि से विभूषित हैं।’

‘तुम लोग यहीं रुकना, मैं देखता हूँ। पिताजी संभवतः न सँभाल पायें इन्हें!’ राम ने कहा और रथ से उतर लिए।

‘रुकिए भ्राता, रथ ही आगे बढ़वाए लेते हैं।’ भरत ने उन्हें वापस रथ में खींच लिया।

आगे आमात्यों और विशिष्टजनों के रथ थे। ये सभी लोग उतर कर दशरथ और परशुराम के पास जमा हो गए थे। रथ भी झुंड के रूप में एकत्र हो गए थे किंतु कुमारों का सारथी कुशलता से रथ उस झुंड से आगे निकाल ले गया और दशरथ के रथ के पीछे रोक दिया। राम रथ से उतर गए, भरत ने भी उतरना चाहा किंतु राम ने रोक दिया। संभवतः वे लक्ष्मण और शत्रुघ्न के स्वभाव से आशंकित थे। जामदग्रेय की स्वयं की ही ख्याति क्रोधी स्वभाव की थी। लक्ष्मण और शत्रुघ्न अपने प्रखर स्वभाव से विवश उन्हें और उत्तेजित कर सकते थे। इस समय उनका उत्तेजित होना कदापि उचित नहीं होता।

‘भ्राता! भ्राता राम के विषय में चिन्तित होना व्यर्थ है। आप नहीं जानते किंतु मैं जानता हूँ, ब्रह्मर्षि विश्वामित्र की कृपा से वे आज सम्पूर्ण आर्यावर्त में सर्वश्रेष्ठ हैं। स्वयं

जामदग्रेय भी उनके तेज को मलिन करने में समर्थ नहीं हैं, आप निशंक रहें।' भरत को राम के अकेले उतर जाने से चिंतित देख कर लक्ष्मण ने टिप्पणी की।

‘तुम जामदग्रेय का समुचित आकलन नहीं कर रहे हो लक्ष्मण। उन्होंने अकेले ही ...’

‘आप स्नेहवश भ्राता का समुचित आकलन नहीं कर पा रहे।' लक्ष्मण भरत की बात बीच में ही काट कर मुस्कुराते हुए बोल उठे- ‘जामदग्रेय बीता हुआ कल हैं। वे षष्ठ विष्णु हैं, उनका कार्य सम्पादित हो चुका है। अब अपने भ्राता का कार्य आरंभ हुआ है, वे सप्तम विष्णु हैं।’

‘फिर भी लक्ष्मण!’

‘आप बैठिए तो भ्राता। उस छोटे से कालखंड में भ्राता राम की उपलब्धियों से अभी आप परिचित ही कहाँ है। वे ... ’ लक्ष्मण विष्णु से भेंट के विषय में बोलने ही जा रहे थे कि सचेत हो गए। तत्परता से उन्होंने बात को सँभाल लिया- ‘ऋषियों ने उन्हें विष्णु की उपाधि से यों ही मंडित नहीं कर दिया। ... और फिर हम यहीं तो हैं। यदि आवश्यकता हुई तो पलक झपकते हम उनके पास होंगे।’

भरत ने विवशता से कंधे उचका दिये।

* * *

राम जब वहाँ पहुँचे तो देखा कि पिता परशुराम की अनुनय कर रहे हैं किंतु वे सुन ही नहीं रहे। बस एक ही रट लगाए हैं- ‘राम को बुलाओ। मुझे आपसे कोई वार्ता नहीं करनी।’

‘राम उपस्थित है जामदग्रेय!’ राम ने हस्तक्षेप करते हुए कहा- ‘प्रथम तो उसका प्रणाम स्वीकार करें ब्राह्मण श्रेष्ठ!’

परशुराम ने नख से शिख तक राम का निरीक्षण किया।

राम मंद-मंद मुस्कुराते हुए खड़े रहे।

‘ऐसे उद्दंड प्रतीत तो नहीं होते हो?’

‘राम उद्दंड है भी नहीं ऋषिवर!’

‘उद्दंडता और किसे कहते हैं? प्रभु शिव का धनुष भंग कर दिया ... क्या तुम उस धनुष के वैशिष्ट्य से अपरिचित थे?’

‘भलीभांति परिचित था, ऋषिवर!’

‘तब भी तुमने ऐसा साहस किया, और कहते हो कि तुम उद्दंड नहीं हो?’

‘वह मात्र एक दुर्घटना थी। राम ने तो शर-संधान हेतु मात्र धनुष पर प्रत्यंचा चढ़ाने का प्रयास किया था।’

‘और धनुष भंग हो गया। शिव का इतना सुदृढ़ धनुष, इतना महत्वपूर्ण धनुष ... प्रत्यंचा चढ़ाने के प्रयास मात्र से ध्वस्त हो गया।’ परशुराम ने उपहास पूर्वक हँसते हुए कहा।

‘यही वास्तविकता है ऋषिवर!’

‘जामदग्न्य के साथ उपहास का प्रयास?’ परशुराम का स्वर एकाएक तीव्र हो उठा- ‘तेरे इस कृत्य से प्रभु शिव का कितना अपमान हुआ है तू नहीं समझ पाएगा। कामरूप-कामाख्या तक तेरे इस अपकृत्य की ध्वनि पहुँच गई है। वहीं मुझे ज्ञात हुआ कि शिव के धनुष को भंग करने का दुस्साहस किसी मेरे समान नामधारी ने कर डाला है। मैं तुझे दंड देने मात्र के लिए वहाँ से भागा चला आ रहा हूँ।’

परशुराम का क्रोध में आना दशरथ को विचलित कर गया। उन्होंने पुनः हस्तक्षेप किया-

‘ऋषिवर! यह बालक है, नादान है। इसकी भूल के लिए मैं आपसे क्षमा माँगता हूँ। कृपया क्रोध त्याग दें।’

किन्तु परशुराम ने जैसे उनकी अनुनय सुनी ही न हो, उन्होंने अपना परशु अपनी कमर पर अधोवस्त्र में खोंस लिया और धनुष हाथ में ले लिया। राम अब भी मंद-मंद मुस्कुरा रहे थे। उनके मुख पर अधीरता का लेशमात्र भी चिह्न नहीं था। परशुराम ने अपना धनुष वाला हाथ आगे कर दशरथ को आगे बढ़ने से रोक दिया। दूसरा हाथ उठाकर शर का आवाहन किया। उद्विग्न भरत लक्ष्मण के रोकते-रोकते भी अपने रथ से कूद पड़े। वे कूदे तो लक्ष्मण और शत्रुघ्न भी कूद पड़े। और किसी का साहस नहीं था हस्तक्षेप करने का, सभी आँखें बन्द किए, हाथ जोड़े ईश्वर से प्रार्थना कर रहे थे कि किसी प्रकार यह विपदा टल जाए।

‘भार्गव निःशस्त्र पर वार नहीं करता, तू भी शस्त्र ग्रहण कर।’ परशुराम का स्वर अब रौद्र रूप धारण कर रहा था। दशरथ किसी अनर्थ की आशंका से भयभीत थे। उनके कण्ठ से स्वर नहीं निकल रहा था।

‘आप ब्राह्मण हैं। विधान मुझे अनुमति नहीं प्रदान करता ब्राह्मण के विरुद्ध शस्त्र ग्रहण करने हेतु।’

‘इस प्रकार बहानों की ओट लेकर तू बच नहीं सकता। इस समय मैं ब्राह्मण नहीं, एक योद्धा हूँ। तू योद्धा है तो मेरा सामना कर अन्यथा शस्त्र त्याग कर पलायन कर जा, भविष्य में कभी शस्त्र न धारण करने की शपथ ले, भार्गव तुझे अभय प्रदान करेगा।’

‘राम पलायन नहीं कर सकता। इससे राम की नहीं, प्रतापी इक्ष्वाकु वंश की मर्यादा की हानि होगी।’

‘तो योद्धा के समान सामना कर।’

‘आप विवश कर रहे हैं राम को।’

‘हाँ, मैं विवश कर रहा हूँ।’

अब तक भरत, लक्ष्मण और शत्रुघ्न भी वहाँ पहुँच चुके थे। तीनों ने अपने धनुष हाथों में ग्रहण कर लिये थे।

‘भार्गव!’ लक्ष्मण चीख पड़े- ‘राम का कनिष्ठ भ्राता प्रस्तुत है आपका सामना करने के लिए। वह योद्धा के रूप में आपका रण-आमंत्रण स्वीकार करता है। प्रहार करें।’

वे भूल गए कि कुछ पल पहले तक वे भरत को शांत और निशंक रहने का परामर्श दे रहे थे।

हाँ, निशंक तो वे थे, राम की सामर्थ्य पर उन्हें अगाध विश्वास भी था किंतु यह उनकी मर्यादा नहीं थी कि उनके उपस्थित रहते कोई उनके बड़े भाई से अपशब्द कहे और वे देखते रहें, उनके विरुद्ध शस्त्र उठाये और वे देखते रहें। राम की प्रतिष्ठा को जरा सी भी आँच उन्हें सह्य नहीं थी।

परशुराम हँस रहे थे-

‘ये बालक भार्गव का रण-आमंत्रण स्वीकार कर रहा है, आश्चर्य है!’

वे आगे कुछ और कहते किंतु तभी राम का स्वर गूँज उठा-

‘भरत! लक्ष्मण! शत्रुघ्न! तुम्हें मैंने वर्जित किया था न!’

‘किंतु भ्राता ...’

‘नहीं!!!’ राम ने कहा और अपना धनुष उतार लिया- ‘आपका आदेश है तो राम आपका आमंत्रण स्वीकार करता है।’

उन्होंने भी अपना हाथ उठाकर ब्रह्मास्त्र का आवाहन किया। ब्राह्मण योद्धा के विरुद्ध और किसी दिव्यास्त्र का आवाहन उचित नहीं होता।

परशुराम ने भी चकित दृष्टि से राम के हाथ में ब्रह्मास्त्र को प्रकट होते देखा।

राम ब्रह्मास्त्र को अपने धनुष तक ले जा पाते उससे पूर्व ही विश्वामित्र का तीव्र स्वर वातावरण को परिव्याप्त कर गया-

‘राSSSSम! नहींSSS!’

राम ठहर गए। परशुराम ने भी स्वर की ओर दृष्टि उठाई।

* * *

कुछ आगे जाकर दोनों ब्रह्मर्षियों ने जब देखा कि पीछे कोई नहीं आ रहा, महाराज दशरथ का रथ भी जो उनके ठीक पीछे था, वह भी नहीं दिख रहा, तो उनका माथा ठनका। उन्होंने अपना रथ वापस घुमवा लिया और लौट पड़े थे। यहाँ आकर देखा तो

प्रलय का आवाहन हो रहा था। ब्रह्मास्त्रों के टकराने से प्रलय निश्चित थी। अधीरता से विश्वामित्र चीख उठे थे।

* * *

‘मैं दोनों राम से सम्बोधित हूँ। मैं दोनों को शस्त्र रखने का आदेश देता हूँ।’

‘किंतु ...’ परशुराम ने कुछ कहना चाहा।

‘जामदग्रेय इतना संस्कारहीन कबसे हो गया जो अपने गुरुजनों को पलट कर उत्तर देने लगा?’ विश्वामित्र ने उन्हें फटकार दिया।

अब तक विश्वामित्र का रथ आकर ठीक इन लोगों के सामने रुक गया था। रथ से कूदते हुए विश्वामित्र पूरी दृढ़ता से बोले-

‘राम!’ वे परशुराम से सम्बोधित थे- ‘इस सम्पूर्ण प्रकरण के लिए कौशिक विश्वामित्र उत्तरदायी है। यह दाशरथि राम स्वतः यहाँ नहीं आया था, इसे मैं लेकर आया था। मैंने ही इसे शिवधनुष पर शर-संधान करने की आज्ञा दी थी। इसने जो भी किया मेरी आज्ञा के अनुपालन में किया। तुम्हें यदि उत्तर की आकांक्षा है तो मुझसे कहो, यदि रण की आकांक्षा है तो भी मुझसे कहो। आज मैं तुम्हारी प्रत्येक आकांक्षा पूर्ण करूँगा।’

अब परशुराम के हड़बड़ाने की बारी थी। उन्होंने झुककर ब्रह्मर्षि को प्रणाम किया और बोले-

‘यह आप क्या कह रहे हैं ब्रह्मर्षि? मैं आपको रण-आमंत्रण देने की सोच भी कैसे सकता हूँ? आप मेरे गुरुजन हैं, आप मेरे गुरु भी हैं।’

‘मैं वही कह रहा हूँ जो कथनीय है। यदि मुझे गुरुजन स्वीकार करते हो तो सर्वप्रथम अपने क्रोध को तिलांजलि दो। इसे चाहे मेरा परामर्श समझो अथवा आदेश।’

‘दी गुरुदेव, दी!’ इस बार परशुराम ने शांत स्वर में कहा- ‘आप मेरे गुरुजन हैं। मेरी पितामही के अनुज हैं। आप मेरे गुरु हैं, आपने मुझे दीक्षा दी है। यह तो अकाट्य सत्य है। मेरी स्वीकृति-अस्वीकृति से सत्य तो परिवर्तित नहीं हो जाएगा। आपका आदेश मेरे लिए प्रत्येक स्थिति में सम्मान्य है, आप आदेश करें।’

‘तब अपने संकल्प का स्मरण करो जो तुमने विजित भूमि महर्षि कश्यप को दान करते समय लिया था कि तुम भविष्य में कभी शस्त्र ग्रहण नहीं करोगे, कभी क्रोध नहीं करोगे। ... स्मरण हुआ।’

‘हुआ। किंतु दाशरथि के गुरुतर अपराध का क्या ...?’

‘कुछ नहीं, जो कुछ भी हुआ स्वयं शिव की अनुमति से हुआ।’

‘यदि ऐसा है ...’ परशुराम ने दीर्घ निःश्वास ली- ‘तब फिर कहने को शेष ही क्या रह गया। आप आदेश करें, मेरा क्या कर्तव्य है?’

‘आओ मेरे साथ।’ कहने के साथ ही विश्वामित्र ने परशुराम का हाथ पकड़ लिया और सबसे थोड़ी दूर, एक ओर बढ़ गए।

विश्वामित्र ने एकान्त में परशुराम को भविष्य की सम्पूर्ण योजना से परिचित कराया। तत्पश्चात् उन्हें सुदूर दक्षिण में महेंद्र पर्वत (आधुनिक उड़ीसा से केरल तक विस्तृत) पर निवास करते हुए वहाँ के निवासियों को सैन्य-कला में प्रशिक्षित करने और उन्हें आने वाले आर्य-रक्ष युद्ध में राम का सहयोगी बनाने का निर्देश दिया।

‘तो मैं प्रस्थान करूँ?’ आज्ञा शिरोधार्य करते हुए भार्गव ने अनुमति माँगी।

‘शुभास्ते पन्थानः सन्तु।’ विश्वामित्र ने आशीर्वाद के साथ अनुमति प्रदान की।

18- विमाताओं से भेंट

विवाह के उपरांत दशरथ ने चारों कुमारों को अपनी माताओं के प्रासादों से पृथक नवीन प्रासाद उपलब्ध करवा दिए थे। उचित भी था। वह काल ऐसा था जब राजा की इच्छा के सामने असंभव जैसा कोई शब्द शब्दकोश में नहीं हुआ करता था। दशरथ ने अपनी आकांक्षा व्यक्त की और एक पखवाड़े में चारों कुमारों के लिए अगल-बगल भव्य प्रासादों का निर्माण हो गया।

भीतर से चारों प्रासाद भले ही पृथक-पृथक थे किंतु मुख्य प्रवेश द्वार एक ही था। चारों एक विशाल परिहा में स्थित थे। चारों प्रासादों के अपने छोटे-छोटे उद्यान अवश्य थे किंतु साथ ही एक सम्मिलित विशाल उद्यान भी था। ऐसा कुमारों की इच्छा के अनुरूप ही किया गया था। चारों किसी भी स्थिति में एक-दूसरे से अलग रहना नहीं चाहते थे। उनकी पत्नियाँ भी आपस में बहनें ही थीं, वे भी भला क्यों अलग रहना चाहतीं!

प्रासादों का निर्माण होने के एक सप्ताह के भीतर ही शुभ मुहूर्त में कुमारों का उन नवीन प्रासादों में गृह-प्रवेश भी सम्पन्न हो गया।

अब स्थिति यह थी कि दिन भर तो चारों कुमार एक साथ जहाँ इच्छा होती नगर में भ्रमण करते, उन्हें शासन में अभी तक दशरथ ने कोई दायित्व सौंपा नहीं था। वे चाहते थे कि अभी ये चारों नवविवाहित युगल अपने वैवाहिक जीवन का स्वच्छंद आनंद लें। दिन की इस अवधि में पुत्रवधुयें अपनी-अपनी सास के प्रासाद में रहतीं, रात्रि में चारों कुमार अपनी पत्नियों के साथ अपने-अपने प्रासाद में आ जाते। यह नित्य का क्रम था।

अयोध्या का राजप्रासाद एक अष्टभुज के आकार में बना विशाल परिसर था, जिसकी प्रत्येक भुजा की लम्बाई तीन कोस की थी। सम्पूर्ण परिसर बहुत ऊँची सुदृढ़ परिहा से घिरा हुआ था। परिसर में प्रवेश के लिए एक ही अत्यंत विशाल द्वार था, जिसपर सदैव ही भारी सुरक्षा व्यवस्था रहती थी। मुख्य द्वार से प्रवेश करते ही सामने विशाल उपवन था। प्रवेश द्वार के अतिरिक्त सम्पूर्ण परिहा के साथ-साथ चौथाई कोस की चौड़ाई में फैला हुआ विशाल उद्यान था। प्रवेश द्वार के सम्मुख एक विशाल मैदान था। उसके बाद परिसर की चौड़ाई के ठीक बीचोंबीच विशाल सभाभवन था। सभाभवन से प्रवेश द्वार तक की दूरी आधे कोस (1.6 किमी) के लगभग थी।

सभाभवन के दाहिनी ओर तीनों महारानियों के प्रासाद थे। बायीं ओर अब कुमारों के प्रासाद बन गए थे।

परिसर के पीछे के भाग में राज-परिवार के अन्य सदस्यों के निवास थे। और सबसे अंत में उपपत्नियों का आवासीय परिसर था।

भोजन कुमार सपत्नीक अपनी माताओं के यहाँ ही प्राप्त करते थे। उनका चूल्हा अलग नहीं हुआ था। वे अपने प्रासादों में मात्र प्रातःकाल का स्वल्पाहार ही ग्रहण करते थे।

दिन आनन्दपूर्वक व्यतीत हो रहे थे। कोई दायित्व नहीं, कोई चिंता नहीं केवल स्वच्छंद विहार। किंतु इस स्वच्छंद विहार से राम जैसा व्यक्ति शीघ्र ही विरक्ति अनुभव करने लगा।

एक दिन सायंकाल जब चारों भाई पिता के साथ उपवन में विहार कर रहे थे राम ने अवसर देखकर पिता से आग्रह किया-

‘पिताजी! यदि अनुमति हो तो कुछ निवेदन करना चाहता हूँ!’

‘तुम्हें भला अनुमति माँगने की क्या आवश्यकता है? कहो जो कुछ कहना है।’ दशरथ ने स्नेहिल स्वर में उत्तर दिया।

‘पिता जी, हम चारों भाई मात्र आनंद-विहार में अपना समय नष्ट कर रहे हैं। इस प्रकार हमारी विद्या भी निरर्थक जा रही है। हमें भी राज्य-प्रशासन में कुछ दायित्व सौंपिये ताकि हम कुछ सार्थक कर सकें।’

‘राज्य का प्रशासन तो आमात्यगण भलीभाँति सँभाल ही रहे हैं ...’ दशरथ ने हँसते हुए उत्तर दिया- ‘तुम्हारे अभी खेलने-खाने के दिन हैं, इनका अपनी पत्नियों के साथ पूरा रस लो। बाद में तो तुम्हें ही यह सब सँभालना है। तब आनन्द-विहास के लिए तुम्हें अवसर ही कहाँ मिलेगा।’

‘नहीं पिताजी, दिवस का सम्पूर्ण समय हमारे पास होता है। हम उसे व्यर्थ गँवा रहे हैं।’

‘व्यर्थ नहीं गँवा रहे हो, ये भी जीवन के अनुभव हैं जो भविष्य में तुम्हारे काम आयेंगे।’ कुछ पल रुककर दशरथ ने आगे कहा-

‘देखो, अभी तुम्हारी पत्नियाँ अयोध्या के लिए नई हैं। अभी वे विशेष रूप से तुम पर ही आश्रित हैं। उनका भलीभाँति ध्यान रखना तुम्हारा दायित्व है। अभी तुम लोग अपनी पत्नियों का मनरंजन ही अपना दायित्व समझो। तुम्हें यदि कोई अन्य दायित्व सौंप दिया जाएगा तो तुम उसमें व्यस्त हो जाओगे और वे स्वयं को उपेक्षित अनुभव करेंगी।’

राम पिता की इस बात को आदेशवत् ग्रहण कर चुप हो गए। वे कभी गुरुजनों से बहस नहीं करते थे। किंतु शत्रुघ्न ने जब देखा कि राम चुप हो गए हैं तो उन्होंने मोर्चा सँभाल लिया। उन्होंने तर्क किया-

‘पिताजी, दिवस के समय तो हमारी पत्नियाँ हमारी माताओं के सान्निध्य में होती हैं और उन सबका परस्पर बहुत अच्छा सामंजस्य भी बैठ गया है। दिवस के समय तो हम उनकी सेवा से मुक्त ही होते हैं ... तब हम कुछ सार्थक, सोद्देश्य कार्य कर सकते हैं।’

शत्रुघ्न के मोर्चा सँभाल लेने पर दशरथ को लगा कि यह बहस लम्बी खिंच सकती है। उन्होंने इसे समाप्त करने का निर्णय कर लिया और बोले-

‘तो ऐसा करते हैं, तुम लोग अपनी-अपनी पत्नियों को अति शीघ्र एक-एक ऐसा खिलौना सौंप दो जो सारा दिन उन्हें **व्यस्त** रख सके। तब मैं तुम्हें उनकी सेवा से मुक्त कर राज्य की सेवा में कोई दायित्व सौंप दूँगा।’

दशरथ के ऐसे खुले उत्तर से एकबारगी शत्रुघ्न और लक्ष्मण भी झेंप गए। पिता के साथ इस प्रकार के वार्तालाप के विषय में वे सोच भी नहीं सकते थे। राम तो कट कर ही रह गए।

पिता के इस प्रकार के उत्तर के बाद कुमारों के लिए उनसे आँख मिला कर बात कर पाना संभव नहीं था। पिता के साथ इस प्रकार के विषय पर बात करना उनके संस्कार में नहीं था। चारों धीरे से दूसरी ओर निकल गए।

बात वहीं समाप्त हो गयी।

लक्ष्मण और शत्रुघ्न ने तो शीघ्र ही स्वयं को इस आघात से उबार लिया। भरत का तो आत्म-नियंत्रण वैसे ही अनुपमेय था किंतु राम स्वयं को सहज नहीं कर पाए। रात्रि में सीता के साथ जब वे शयन के लिए प्रवृत्त हुए तब भी वे सहज नहीं हो पाए थे। सीता ने इसे सहज ही लक्ष्य किया।

इन थोड़े से दिनों में ही सीता और राम का सम्बन्ध अत्यंत प्रगाढ़ हो गया था। उनका संबंध शारीरिक की अपेक्षा मानसिक और आत्मिक स्तर पर सुदृढ़ हो रहा था। राम बिलकुल वैसे थे जैसा सीता चाहती थीं और सीता बिलकुल वैसी थीं जैसा राम चाहते थे। इन थोड़े से दिनों में ही दोनों दो शरीर एक आत्मा के समान बन गए थे। सीता बिना कहे ही राम के मन की हर बात समझ जाती थीं और राम सीता के मन की।

‘आप कुछ अन्यमनस्क प्रतीत हो रहे हैं आर्य!’ सीता ने अपनी दोनों कोहनियाँ राम के विशाल वक्ष के इधर-उधर टिकाते हुए, स्नेह से उनकी आँखों में झाँकते हुए प्रश्न किया।’

‘नहीं, कोई विशेष बात नहीं है।’ राम ने अपनी दोनों बाहें उनकी पीठ पर पिरोते हुए उन्हें अपने आलिंगन में समेट लेने का प्रयत्न किया ताकि यह विषय आगे न बढ़े,

किन्तु सीता ने अपनी कोहनियों को डिगने नहीं दिया और राम का मुख अपनी दोनों हथेलियों में समेटते हुए, पूर्ववत् उनकी आँखों में झाँकते हुए कहा-

‘क्या आपको यह भ्रम हो गया है कि आप अपनी पत्नी से अपना मन छिपा सकते हैं?’ कह कर वे बरबस मुस्कुरा पड़ीं- ‘बताइये न, क्या उलझन है? क्या पता मैं ही कुछ सुझाव दे सकूँ! सुझाव न भी दे सकी तो भी मन का बोझ किसी से कह देने से, मन हल्का तो हो ही जाता है।’

और राम ने सारा प्रकरण सीता से कह दिया।

सीता भी सुनकर लजा गयीं और एकबारगी राम के वक्ष में अपना मुख छिपा लिया।

थोड़ी देर बाद उन्होंने फिर अपना मुख उठाया, फिर कोहनियों पर अपना शरीर साधते हुए आगे को झुकीं और अपनी नाक राम की नाक से रगड़ते हुए लजाई मुस्कान के साथ बोलीं-

‘आप भी बहुत भोले हैं!’

‘वह तो हूँ किंतु यह संदर्भ कहाँ से आ गया।’

‘क्या प्रजा अथवा राज्य के हित में अपना कर्तव्य निर्वहन हेतु कोई औपचारिक पद-दायित्व होना आवश्यक है?’

‘क्या तात्पर्य है आपका?’ राम सीता की बात कुछ-कुछ समझ रहे थे किंतु फिर भी उन्होंने प्रश्न किया।

‘आप चारों ही भाई अपना समय मात्र आमोद-प्रमोद और भोग-विलास अथवा आखेट आदि में व्यय नहीं करते, आप लोग प्रजाजनों से भी सहज सम्पर्क में रहते हैं।’

‘हाँ, यह हमें अच्छा लगता है।’

‘तो यह क्या कोई कार्य नहीं है? राजा जब प्रजा के सम्पर्क में रहता है तभी तो उसके सुख-दुःख समझ पाता है और उनके निवारण हेतु प्रयत्न कर पाता है। प्रजा भी ऐसे राजा के सामने अपना हृदय खोल कर रख देती है।’

‘आपका कथन सत्य है! किंतु प्रजा के दुःखों के निवारण हेतु हमारे पास कोई अधिकार तो नहीं है।’

‘क्या अधिकार सम्पन्न व्यक्ति ही किसी का हित कर सकता है? आपके पास सामर्थ्य है ... अपने मन की भी, अपनी बुद्धि की भी और अपनी बाहुओं की भी; आप चारों भाई तो कुछ भी कर सकते हैं। फिर किसने कहा कि आपके पास अधिकार नहीं है? जहाँ कहीं भी आप कोई विसंगति देखें मात्र सम्बन्धित अधिकारी से उसका

उल्लेख भर कर दें। आप युवराज हैं, किस अधिकारी में इतना साहस है कि आपके उल्लेख को आदेश की भाँति न ले।' कहकर सीता मंद स्वर में खिलखिला उठीं।

‘बिना राज्य द्वारा प्राधिकृत किए, किसी अधिकारी को किसी भी विषय में आदेशित करना क्या अनधिकार चेष्टा नहीं होगी? अधिकारी को यह नहीं प्रतीत होगा कि राम अपने राजकुमार होने का अनुचित लाभ लेने की चेष्टा कर रहा है?’

‘प्राधिकृत तो आपको स्वयं विधाता ने कर रखा है ...’ सीता हँसते हुए बोलीं- ‘राज्य की प्रजा का हित करने का दायित्व सौंपा है उसने, आपको युवराज के रूप में जन्म देकर। राज्य द्वारा अधिकृत न होने का बहाना लेकर आप उसके निर्णय की अवहेलना नहीं कर सकते। क्या आपको अपने दायित्वों का बोध नहीं है?’

‘निश्चित ही है, किंतु उन दायित्वों के निर्वहन हेतु पिताजी की अनुमति प्राप्त होना अभी शेष है। अभी की स्थिति में मैं किसी विषय में पिताजी द्वारा पूछे जाने पर अपनी अनुशंसा दे सकता हूँ किंतु स्वतः किसी अधिकारी को आदेशित नहीं कर सकता। स्वयं कोई निर्णय नहीं ले सकता।’

सीता उन्हें बीच में ही टोकने को हुई किंतु फिर रुक गयीं। उनके बात समाप्त करते ही बोलीं-

‘पिताजी कभी आपसे अनुशंसा माँगेंगे नहीं और उनके माँगे बिना आप देंगे नहीं। यह आपका स्वभाव ही नहीं है। तब आप आपनी आँखों के सम्मुख प्रजा पर अन्याय होता देखते रहेंगे और पिताजी से उस विषय में कुछ कहने का साहस नहीं कर पायेंगे। यह क्या विधि ने आपको जो दायित्व सौंपा है उसकी अवहेलना नहीं होगा? और आप यह क्यों विस्मृत कर देते हैं कि विधि ने आपको सप्तम विष्णु के रूप में अकारण ही प्रतिष्ठित नहीं किया होगा! विधि ने यदि आपको इतना महनीय सम्मान प्रदान किया है तो उसके पीछे गुरुतर दायित्व भी छुपा है। आप राज्य द्वारा अधिकृत हों अथवा न हों, प्रकृति द्वारा आप अधिकृत हैं। सप्तम विष्णु के रूप में आपको प्रत्येक अन्याय के प्रतिकार हेतु प्रतिपल संकल्पबद्ध और सन्नद्ध रहना ही होगा।’

राम मन ही मन सीता के कथन की व्याख्या करने लगे।

कुछ रुक कर सीता पुनः बोलीं-

‘किसी अन्य के द्वारा सौंपा गया दायित्व मन के प्रतिकूल भी हो सकता है। मन के प्रतिकूल होने पर वह बोझ भी प्रतीत हो सकता है। वह शरीर और मन को थका भी सकता है। किंतु अपने मन की प्रेरणा से किया गया कार्य सदैव संतोष देता है। वह मन को थकाता नहीं, ऊर्जा देता है ... और अधिक कार्य करने की प्रेरणा देता है।’ वे फिर वैसे ही हल्के से खिलखिलायीं और राम की नाक हिलाते हुए बोलीं- ‘समझ आया अथवा नहीं?’

‘समझ आ गया ... गुरुदेवी!’ राम भी हँस पड़े। उनके मन की उलझन बहुत कुछ सुलझ गयी थी।

थोड़ी देर सीता का मुख राम के वक्ष पर विश्राम करता रहा और राम की हथेलियाँ उनकी सुदीर्घ वेणी से खेलती रहीं।

थोड़ी देर बात सीता एक बार फिर उसी भाँति कोहनियों के बल उठीं-

‘एक प्रश्न मेरे मन में भी है।’

‘आदेश कीजिए!’

‘आदेश नहीं, बस मन का एक भाव है।’

‘कहिए तो!’

‘हम लोगों ने विवाह के उपरांत तीनों माताओं का आशीर्वाद प्राप्त किया।’

‘हाँ ... किन्तु इस प्रश्न का क्या प्रयोजन है भला? ... वह तो हमें करना ही था।’

‘मुझे दासी बता रही थी कि पिताश्री की कुछ उप-पत्नियाँ भी हैं। वे भी तो हमारे लिए मातावत् ही हैं।’

‘हैं तो!’ राम चकित थे कि उन्होंने स्वयं कभी इस तथ्य पर विचार क्यों नहीं किया? उन्हें लगा कि एक स्त्री ही दूसरी स्त्री के मन के भाव सही से समझ सकती है।

‘तो हमें उनका आशीर्वाद भी तो प्राप्त करना चाहिए।’

‘आपके मन के भाव सर्वथा उचित हैं, अनुकरणीय हैं ... हमें निस्संदेह उनका भी आशीर्वाद प्राप्त करना चाहिए।’

‘तो फिर ...?’

‘तो फिर क्या, कल ही सभी भाइयों से वार्ता करता हूँ। फिर माँ से अनुमति लेकर सभी चलेंगे।’

‘क्या हम मँझली माँ अथवा छोटी माँ से मिलने जाने के लिए भी माँ से अनुमति माँगते हैं?’

‘नहीं, किन्तु अन्तर है उनमें और इन स्त्रियों में!’

‘क्या अन्तर है ... हमारे लिए तो वे भी मातावत् ही हैं। फिर भी यदि आप माँ से अनुमति लेना ही चाहते हैं तो ले लीजिए। मुझे विश्वास है वे प्रसन्नता से इसकी अनुमति प्रदान करेंगी।’

कौशल्या, कैकेयी, सुमित्रा तीनों ही राम और सीता के इस निर्णय से प्रसन्न हो गईं। उन्हें तीनों माताओं से अनुमति और आशीर्वाद दोनों प्राप्त हुए। साथ ही यह आत्मीय उलाहना भी मिला कि ‘अब तुम लोग बड़े हो गए हो, ऐसी छोटी-छोटी बातों के लिए कब तक माँ की उँगली पकड़े रहोगे!’

उस दिन से चारों कुमारों और उनकी पत्नियों का नियम बन गया कि वे माह में कम से कम एक बार अपनी इन उपेक्षिता माताओं से मिलने अवश्य जाने लगे। राम और सीता तो व्यक्तिगत रूप से कभी-कभी माह में दो बार भी घूम आते थे।

इन उपेक्षिताओं के लिए तो यह उनकी अपेक्षा से बहुत दूर की बात थी। उन्होंने तो कभी ऐसे सौभाग्य की कल्पना ही नहीं की थी। उनमें से कई तो अभी तक अक्षत-यौवना थीं। महाराज की कृपादृष्टि उन पर पड़ी ही नहीं थी कभी। वे सभी कुमारों के जन्म के पूर्व से ही यहाँ थीं। कुमारों के जन्म के उपरांत उप-पत्नियों की कोई नई खेप नहीं आई थी। महाराज ही युद्धों से विरत हो गए थे। कुमारों के जन्म के उपरांत से महाराज का यहाँ आना भी नहीं होता था। मात्र उस परिसर में आयोजित किसी उत्सव-आयोजन में कभी चले गए तो चले गए। ये स्त्रियाँ भी महाराज के दर्शन मात्र उत्सवों में ही कर पाती थीं, जब वे भी उस उत्सव में किसी अलंकरण की भाँति उपस्थित होती थीं।

वे स्त्रियाँ कैसी भी उपेक्षिता क्यों न हों, महाराज से उन्हें कितनी भी शिकायतें कों न हों ... किंतु वात्सल्य तो प्रत्येक स्त्री को प्रकृति प्रदान करती ही करती है। इन माताओं का अभी तक कुमारों के प्रति निरपेक्ष भाव था। राम की उपलब्धियों और उनके अवतार होने की चर्चाएँ उन्होंने भी सुनी थीं किंतु इससे उन्हें क्या लेना-देना था! उन्हें तो सामान्य प्रजा की भाँति भी इस अवतारी व्यक्तित्व से भेंट करने की अनुमति नहीं थी। वस्तुतः उन्हें तो उस परिसर से बाहर निकलने की ही अनुमति नहीं थी। उस परिसर में ही उनकी आवश्यकता अथवा भोग-विलास की प्रत्येक वस्तु की आपूर्ति हो जाती थी। कुमारों के उस परिसर में आने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता था। वे सारी की सारी अब किसी न किसी रूप में अपनी नियति को स्वीकार कर चुकी थीं।

उनके स्वयं के तो कोई संतान थी नहीं। कुछ दुस्साहसी उप-पत्नियों को अपने अवैध सम्बन्धों से गर्भधारण का सौभाग्य प्राप्त भी हुआ था किंतु वे महाराज की संतान के अतिरिक्त और किसी की संतान को जन्म देने का साहस नहीं कर सकती थीं। ऐसे गर्भ का वही हाल हुआ था, जो हो सकता था। ऐसे में जब कुमारों ने वहाँ पुत्र रूप में जाना आरंभ किया तो आरंभ में उन्हें कुछ शंका और कुछ हिचकिचाहट तो हुई किंतु फिर उन्होंने ... उन सबने, अपना अब तक का समस्त संचित वात्सल्य उन पर लुटा दिया। विशेषकर राम और सीता पर। अब कुमार उनके अपने पुत्र थे और उनकी पत्नियाँ उनकी अपनी पुत्रवधुयें। वे आतुरता से उनके आगमन की प्रतीक्षा किया करती थीं।

उनकी प्रसन्नता इन सबसे भी छिपी नहीं थी। अक्सर राम की आँखें उनके वात्सल्य को अनुभव कर भीग जाती थीं।

19- दशरथ का संशय

महाराज अश्वपति द्वारा राज्य का संपूर्ण प्रभार युधाजित को सौंप दिये जाने का समाचार महाराज दशरथ के मन में हलचल मचाए था। वे भी अब शीघ्रातिशीघ्र सब कुछ राम को सौंप सारे जंजाल से मुक्ति पाना चाहते थे और पौत्रों के साथ क्रीड़ा-विलास करते हुए उन्मुक्त जीवन व्यतीत करना चाहते थे।

राम का राज्याभिषेक किस भाँति सम्पन्न हो कि कैकेयी से विवाह के समय हुई संविदा का उल्लेख भी न हो, इस विषय पर उनका चिन्तन निरंतर चल रहा था। यह एक ऐसा विषय था जिसपर वे किसी से परामर्श भी नहीं ले सकते थे। युधाजित से तो वे सशंकित थे ही किंतु सर्वाधिक सशंकित स्वयं राम से थे। अतः जब तक कोई समाधान नहीं मिल जाता उन्हें धीरज रखना ही था।

इसके विपरीत पौत्रों के आगमन के प्रति अपनी उत्कंठा को महारानियों के सम्मुख रखने में कोई बाधा नहीं थी। उन्हें विश्वास था कि महारानियाँ स्वयं भी तो उत्कंठित होंगी? अभी विवाह के तीन माह भी व्यतीत नहीं हुए थे, वधुयें विवाह के उपरांत पहली बार मातृगृह गयी थीं, तभी एक दिन जब तीनों महारानियाँ कैकेयी के कक्ष में एकत्र थीं, दशरथ स्वयं को नहीं रोक पाये-

‘महारानी! वधुओं की ओर से कोई शुभ-समाचार नहीं है अभी तक?’

दशरथ का मंतव्य तीनों ही रानियाँ समझ गयी थीं। तीनों ही बरबस मुस्कुरा उठीं। किंतु कैकेयी अनजान बनती हुई बोली-

‘कैसा शुभ-समाचार महाराज?’

दशरथ एक पल को तो हिचके किंतु फिर खुलकर बोल ही दिया-

‘पौत्रों के संबंध में!’

‘अत्यंत व्यग्र हैं महाराज अपने पौत्रों के संग खेलने के लिए!’ कैकेयी खिलखिलाकर हँसती हुई बोली। अन्य रानियाँ भी हठात् हँस पड़ीं।

‘निस्संदेह!’ दशरथ भी हँसते हुए बोले- ‘दशरथ के जीवन का स्वर्णकाल वही था जब वह अपने शिशु-पुत्रों के साथ उन्मुक्त किलोल करता था। ... मन में वे दिन एक बार पुनः जीने की उत्कट लालसा है। आपको नहीं है क्या?’

इस प्रश्न पर कैकेयी की हँसी एकाएक थम गयी। बोली-

‘है तो हमें भी, किंतु हममें धीरज भी है। अभी दिन ही कितने हुए हैं उनके विवाह के! अभी दो-एक वर्ष तो वधुओं का आवागमन ही चलता रहेगा। प्रतीक्षा कीजिए, कोई भी कार्य समय से पूर्व नहीं होता।’

‘कैसे प्रतीक्षा करूँ? आप तो जानती ही हैं कि दशरथ के पास धैर्य का सदा से ही सर्वथा अभाव रहा है।’

‘रखना तो पड़ेगा ही महाराज। पुत्रों के लिए भी तो हमें कितनी प्रतीक्षा करनी पड़ी थी!’

‘शुभ-शुभ बोलिए महारानी, उतनी प्रतीक्षा दशरथ कैसे कर पाएगा? अब तो उतनी साँसें भी शेष नहीं हैं।’

दशरथ के मुँह से अनायास निकले शब्दों ने तीनों रानियों को व्यथित कर दिया। कौशल्या हठात् बोल पड़ीं-

‘आप भी बिना विचारे कैसी अशुभ बातें बोलने लगते हैं!’

* * *

यह प्रतीक्षाकाल सुदीर्घ होता जा रहा था। दशरथ प्रत्येक माह-दो माह में महारानियों से इस विषय में प्रश्न करते थे और उनकी ओर से हर बार नकारात्मक उत्तर ही प्राप्त होता था। पुत्रों के विवाह को दो वर्ष व्यतीत हो गए। अब वधुओं का बार-बार मायके जाना भी बंद हो गया था। दशरथ की व्यग्रता बढ़ती ही जा रही थी। ‘प्रभु क्या पुनः ...?’ इससे आगे वे नहीं सोच पाते थे।

उनकी यह छटपटाहट महामात्य ने भी लक्ष्य की। एक दिन राजसभा का कार्यक्रम सम्पन्न होने के उपरांत उन्होंने महाराज से प्रश्न कर ही लिया-

‘महाराज! यदि अनुमति दें तो एक प्रश्न कुलबुला रहा है मन में?’

‘पूछिए!’

‘मिथिला से आगमन के उपरांत से ही आप कुछ उद्विग्न से प्रतीत होते हैं। कुछ अस्वस्थता है क्या अथवा कोई मानसिक क्लेश है?’

‘नहीं-नहीं! ऐसा कुछ नहीं है। मैं पूर्ण स्वस्थ हूँ।’

‘मैं देह की नहीं, मन की बात कर रहा हूँ, कुछ तो है जो निरंतर आपके मन को मथ रहा है। कह डालिए, क्या पता जाबालि ही कुछ परामर्श दे सके!’

दशरथ कुछ देर जाबालि को घूरते रहे, फिर बरबस मुस्कुरा पड़े।

‘बड़ी तीखी दृष्टि पाई है आपने भी।’

उत्तर में जाबालि भी मुस्कुराये और दशरथ के आगे बोलने की प्रतीक्षा करने लगे। दशरथ कुछ काल तक सोचते रहे ... कहें अथवा टाल दें ... अंततः उन्होंने कह डालने का ही निश्चय किया।

‘महामात्य अब यह राजकाज जी का जंजाल सा प्रतीत होने लगा है। मैं चाहता हूँ कि यह सब राम को सौंप दूँ और पौत्रों के साथ स्वच्छंद जीवन का आनंद लूँ।’

‘तो उसमें बाधा क्या है महाराज?’

‘पौत्र भी तो पुत्रों के समान ही प्रतीक्षा करवा रहे हैं।

‘यदि अन्यथा न लें तो कुछ परामर्श दूँ महाराज!’

‘अब ये औपचारिकतायें छोड़कर सीधे-सीधे बोल ही दीजिए।’

‘राम का पुत्र राम के उपरांत सम्पूर्ण साम्राज्य का उत्तराधिकारी होगा।’

‘इसमें भी कोई संशय है क्या?’

‘रत्तीभर भी नहीं, तभी तो कह रहा हूँ।’ जाबालि मुस्कुराते हुए बोले, कुछ देर वे अपने आगे के शब्दों को तौलते रहे तदुपरांत बोले-

‘महाराज! युवराज अथवा सम्राट् अपनी पत्नी के साथ काम-केलि में अपनी वासना को शांत करने के लिए नहीं, राज्य का सुयोग्य उत्तराधिकारी प्राप्त करने हेतु प्रवृत्त होते हैं। इस हेतु शुभ मुहूर्त का शोधन किया जाता है ... यह समस्त महान राजवंशों में सामान्य प्रथा रही है। राज्य को सुयोग्य उत्तराधिकारी देना राजा अथवा युवराज का कर्तव्य होता है। इस परंपरा के चलते ही महान राजवंश सुदीर्घ काल तक समर्थ साशकों की श्रंखला दे पाने में सक्षम हुए हैं।’

‘सत्य कह रहे हैं आप। हमें भी तो यज्ञ के उपरांत ऋषिवर ने संसर्ग के लिए मुहूर्त निर्देशित किए थे!’

‘तो महाराज! गुरुदेव से सम्पर्क कीजिए किसी दिन!’

‘नहीं, इस विषय में गुरुदेव से वार्ता नहीं कर पायेंगे हम!’

‘तो राज-ज्योतिषी से परामर्श लीजिए। उनकी योग्यता में भी कोई संशय नहीं है।

किंतु राज ज्योतिषी ने भी दशरथ को निराश ही किया। उन्होंने बताया-

‘अभी कुछ काल तक तो ऐसा कोई शुभ-मुहूर्त नहीं है।

‘तात्पर्य? ऐसा भला कैसे हो सकता है?’

‘ऐसा ही है महाराज!’

‘अभी निकट भविष्य में नहीं है मुहूर्त, किंतु आगे तो होगा?’

‘आगे मुहूर्त हैं, किन्तु ...’ अचानक राज-ज्योतिषी चुप हो गए।

‘किन्तु क्या? स्पष्ट कहिए ...’ राज-ज्योतिषी का सहम कर चुप हो जाना स्पष्ट रूप से कुछ अनहोनी की संभावना को बल दे रहा था। आशंका से दशरथ की व्यग्रता और बढ़ गयी।

‘महाराज! मैं क्षमाप्रार्थी हूँ!’

‘स्पष्ट कहिए!’ दशरथ खीजकर बोले।

‘मुहूर्त हैं, किन्तु तब दीर्घकाल तक किसी भी कुमार को सन्तान-प्राप्ति का योग ही नहीं है। न ही कुमारों के जन्मांगों में और न ही उनकी पत्नियों के।’

‘किसी के भी?’ दशरथ अविश्वास से बोले।

‘जी महाराज!’

‘कब तक?’

‘महाराज, आगामी पन्द्रह वर्ष तक तो प्रत्यक्षतः कोई संभावना नहीं दृष्टिगोचर होती ... शेष प्रभु की लीला अपरम्पार है ... वे जो चाहें संभव कर सकते हैं।’

‘ओह !!!’ दशरथ ने एक दीर्घ निःश्वास ली। कुछ देर तक कुछ विचार करते रहे तदुपरान्त पुनः प्रश्न किया-

‘कोई उपाय नहीं है?’

‘हैं तो महाराज, अनेक उपाय हैं। किंतु जब योग ही नहीं है तब उपाय भी क्या करेंगे। योग होने पर ही उपाय भी फलदायी होते हैं।’

‘तो भी ...!’

‘प्रभु से आराधना के अतिरिक्त हम और क्या सुझा सकते हैं, महाराज! प्रभु का ही अवलम्ब ग्रहण कीजिए।’

‘तो क्या हमारे भाग्य में पौत्रों के साथ खेलना लिखा ही नहीं है?’

‘अपराध क्षमा हो महाराज, किंतु ग्रहयोग तो यही बता रहे हैं।’

इस उद्घाटन ने दशरथ को हताश कर दिया। उन्हें अपनी स्वयं की पुत्र-प्राप्ति के लिए व्यथा स्मरण हो आयी। परंतु क्या करते, विधि के विधान के सम्मुख सभी को नतमस्तक होना पड़ता है।

* * *

इस रहस्योद्घाटन के उपरांत कोई कारण नहीं था पौत्रों के आगमन की प्रतीक्षा करने का। दशरथ ने निश्चय कर लिया कि अब राम के अभिषेक पर ही अपना ध्यान केन्द्रित करना है।

‘किन्तु युधाजित ...? वे आपत्ति नहीं करेंगे? मन के चोर ने प्रश्न किया।

‘अवश्य करेंगे!’ बुद्धि ने उत्तर दिया।

‘यदि उन्हें ज्ञात ही न हो पाए तो ...!’ मन ने मार्ग सुझाया।

‘ज्ञात कैसे नहीं हो पाएगा? कैकेयी सर्वप्रथम अपने भाई को ही सूचना प्रेषित करेगी।’ बुद्धि ने शंका प्रकट की।

‘यदि उसे अवसर ही न प्राप्त हो, भाई तक सूचना प्रेषित करने का?’ मन ने फिर पाँसे फेंके।

‘यदि ऐसा हो सके तब तो ... किंतु कैसे होगा?’ बुद्धि ने संभावना पर प्रश्नचिह्न अंकित किया।

‘प्रयास करो, चिन्तन करो ... कोई न कोई मार्ग अवश्य मिलेगा।’ मन ने फिर भी हार नहीं मानी।

इस बार बुद्धि ने भी मन का प्रस्ताव स्वीकार कर लिया। दशरथ मार्ग खोजने में जुट गए।

सर्वप्रथम उन्होंने राज्य के महत्वपूर्ण व्यक्तियों को टटोलने का निर्णय लिया। निश्चित ही इस सूची में प्रथम नाम गुरुदेव वशिष्ठ का ही होना था।

* * *

‘आइए महामात्य, गुरुदेव से मिलने चलते हैं।’ एक दिन साँझ को राजसभा की कार्यवाहियों से निवृत्त होने के उपरांत महाराज ने जाबालि के सम्मुख प्रस्ताव रखा।

‘कोई विशेष विषय महाराज?’

‘नहीं, बस गुरुदेव को प्रणाम करने का मन हुआ।’

महाराज की अभिलाषा की अवहेलना करने का प्रश्न ही नहीं था।

सूर्य अस्ताचल की ओर बढ़ चला था। गुरुदेव अपनी कुटिया के बाहर बैठे हरिण-शावकों की किलोल देख रहे थे। महाराज और आमात्य को देखकर एक विद्यार्थी दोनों के लिए आसन ले आया किंतु गुरुदेव ने उसे रोक दिया।

औपचारिकताओं के उपरांत गुरुदेव ने प्रस्ताव किया-

‘आइये महाराज कुटिया में ही चलते हैं।’

महाराज तो यह चाहते ही थे।

‘गुरुदेव! स्वास्थ्य कैसा है?’ कुटिया में आसन ग्रहण करते ही दशरथ ने औपचारिक प्रश्न किया।

‘स्वास्थ्य अब इस अवस्था में जैसा हो सकता है वैसा ही है। यूँ प्रत्यक्ष कोई समस्या नहीं है किंतु वार्धक्य स्वयं ही सबसे बड़ी समस्या है।’ कहते-कहते गुरुदेव हँस पड़े।

गुरुदेव की आयु एक सौ चालीस साल से अधिक हो चुकी थी। स्वयं दशरथ भी तो अस्सी वर्ष के हो गये थे और जाबालि भी नब्बे पार कर चुके थे।

‘सत्य कहते हैं, गुरुदेव!’

कुछ काल तक तीनों वृद्धों में उनकी वृद्धावस्था की ही चर्चा होती रही।

फिर दशरथ ने धीरे से अपना मंतव्य प्रकट किया-

‘गुरुदेव! मिथिला में युधाजित बता रहे थे कि महाराज अश्वपति ने राजकीय दायित्व उन्हें सौंपकर स्वयं अवकाश ले लिया है। जब से मैंने यह सुना है तभी से मुझे भी यही उचित प्रतीत हो रहा है कि मुझे भी उनका अनुसरण करना चाहिए। कुमार अब इस योग्य हो गए हैं कि राजकीय दायित्वों का निर्वहन कर सकें और फिर मेरी स्वयं की अवस्था भी महाराज अश्वपति से कम तो नहीं है।’

‘महाराज, यह तो राजकीय निर्णय है, इस विषय में आपको महामात्य से परामर्श लेना चाहिए। ये ...’

‘कैसी बात कह रहे हैं गुरुदेव! अयोध्या में आप से ऊपर कोई नहीं हो सकता। जब तक हमें आपका संरक्षण प्राप्त है, आप ही सर्वोपरि रहेंगे। ...और फिर यह तो इतना महत्वपूर्ण निर्णय है, जो आपके परामर्श के बिना लिया ही नहीं जा सकता। तभी तो महाराज आपके पास आए हैं, मुझसे तो इन्होंने अपनी ऐसी किसी इच्छा का संकेत मात्र तक नहीं किया।’ जाबालि ने गुरुदेव की पद-गरिमा को सम्मान देते हुए बीच में ही टोकते हुए कहा।

‘जी गुरुदेव ! महामात्य सत्य कह रहे हैं।’

‘आप लोग बिना पूरी बात सुने ही बीच में बोल पड़ते हैं, यह अनुचित आचरण है।’ गुरुदेव ने मुस्कुराते हुए कटाक्ष किया।

‘अच्छा कहिए...’ महामात्य हँसे- ‘अब ऐसा दुस्साहस नहीं होगा।’

‘मेरी ओर से तो सदैव ही त्याग का परामर्श दिया जाएगा। राजकीय आवश्यकतायें क्या कहती हैं यह तो महामात्य ही बता सकते हैं।’

‘महामात्य को गुरुदेव इतनी गरिमा प्रदान कर रहे हैं, यह आपकी उदारता है, अन्यथा राज्य में कुछ भी आपसे गोपन नहीं है।’

‘अच्छा महाराज, अपनी सम्पूर्ण योजना बताइये, तब इस पर विचार-मंथन किया जाए।’ गुरुदेव ने वाग्विलास का पटाक्षेप करते हुए कहा।

‘गुरुदेव! राम चारों भाइयों में ज्येष्ठ है। वह सबका प्रिय है, सभी गुणों से सम्पन्न है। निस्संदेह वह रघुकुल का गौरव है।’

‘इसमें कोई भी संशय नहीं है महाराज।’

‘ऐसी स्थिति में मुझे यही उचित प्रतीत होता है कि मैं राम का राज्याभिषेक कर स्वयं अवकाश ग्रहण करूँ।’

‘आपका विचार उत्तम है महाराज, किन्तु उसमें एक समस्या है।’

‘उसीके लिए तो विशेष रूप से आपका परामर्श चाहिए।’

‘समस्या गंभीर है ... नहीं भी है।’

‘आप तो पहेलियाँ बुझाने लगे।’ महामात्य हँसे।

‘नहीं...’ गुरुदेव भी हँसे- ‘पहेलियाँ नहीं बुझा रहा। धर्म कहता है कि अनुबंध का पालन होना ही चाहिए और अनुबंध के अनुसार राज्य भरत को ही मिलना चाहिए। किंतु दूसरी ओर राजा का प्रथम धर्म प्रजापालन है और उस दृष्टिकोण से राज्य का अधिकारी राम ही होता है। प्रजा ... मात्र अयोध्या की ही नहीं, सम्पूर्ण भरतखंड की, राम से प्रेम करती है, राम पर विश्वास करती है ... उसमें अगाध आस्था रखती है। शेष तीनों कुमार भी राम के प्रति एकनिष्ठ समर्पित हैं। वे राम के विरोध में सुन भी नहीं सकते। सम्पूर्ण प्रजा और सम्पूर्ण राजपरिवार राम को ही आपके उत्तराधिकारी के

रूप में देखता है। परंपरा भी ज्येष्ठ पुत्र के उत्तराधिकारी बनने की है। मात्र उसके अयोग्य होने की स्थिति में ही किसी अन्य के नाम पर विचार किया जा सकता है। ऐसे में सर्वविधि विचार के उपरांत, राम ही एकमात्र उत्तराधिकारी प्रतीत होता है। यही आपकी स्वयं की इच्छा भी है और निस्संदेह यही भरत और स्वयं महारानी की भी इच्छा होगी।’

‘सत्य कह रहे हैं गुरुदेव। वस्तुस्थिति यही है। राजा-प्रजा सभी राम को ही महाराज के उत्तराधिकारी के रूप में देखना चाहते हैं।’ जाबालि ने भी गुरुदेव का समर्थन किया।

‘अब आप ही मेरा मार्गदर्शन करें गुरुदेव। एक ओर कैकेयी के विवाह के समय मेरे द्वारा किया गया अनुबंध है तो दूसरी ओर सबकी इच्छा और सबका हित है। ऐसे में मेरा कर्तव्य क्या होना चाहिए। आप ही मेरी दुविधा का समाधान कर सकते हैं।’

‘मैं तो सदैव एक ही बात कहूँगा कि प्रजा का हित सर्वोपरि है। प्रजा है इसलिए राजा है, राजा है इसलिए प्रजा नहीं है। राज्य की सुरक्षा राजा अपने बाहुबल से करता है। राज्य का संचालन और प्रजा का पालन राजा अपनी योग्यता से करता है किंतु राज्य का अस्तित्व प्रजा के कारण ही होता है। प्रजा रहित राज्य का कोई अर्थ नहीं होता। प्रजारहित राज्य के राजा का भी कोई अर्थ नहीं होता। ऐसी स्थिति में राजा की अपनी कोई भी विवशता, राजा का अपना कोई भी वचन प्रजा के हित और प्रजा की आकांक्षा से अधिक महत्वपूर्ण नहीं हो सकता। प्रजा के हित के लिए यदि आपको रघुकुल की आन का त्याग भी करना पड़े, अपने वचन से फिरना भी पड़े, तो राजा होने के नाते यही आपका दायित्व है।’

‘अर्थात् आपकी अनुशंसा मेरे निर्णय के पक्ष में है?’

‘निस्संदेह!’

‘मेरी और समस्त राजसभा की भी महाराज!’ जाबालि ने पूछने से पूर्व ही अपना अनुशंसा घोषित कर दी।

‘अब भी कोई दुविधा है महाराज?’ गुरुदेव ने अपनी चिर-परिचित स्मित के साथ प्रश्न किया।

‘नहीं गुरुदेव!’

‘तब, इसकी घोषणा कब करने का विचार है। इस विषय में भी निर्णय कर लिया जाए।’ जाबालि ने सलाह दी।

‘नहीं, अभी नहीं। अभी कुछ और प्रतीक्षा करते हैं। एक बार महारानियों से भी परामर्श कर देखूँ।’

‘जैसा आप उचित समझें!’

गुरुदेव ने भी कोई आपत्ति नहीं की।

‘किंतु महामात्य, अभी इस विषय में अन्य किसी से भी आप कुछ नहीं कहेंगे। उचित समय पर मैं स्वयं ही घोषणा करूँगा।’ दशरथ ने निवेदन के रूप में महामात्य को आदेश दिया।

‘जैसी महाराज की आज्ञा।’ जाबालि ने हँसते हुए आदेश स्वीकार किया।

औपचारिक निर्णय हो गया था, बस घोषणा होनी थी, उस घोषणा का अनुपालन होना था।

* * *

निर्णय हो गया था, किंतु नियति के निर्णय के सम्मुख हमारे निर्णय कोई अर्थ नहीं रखते। नियति के निर्णय ने महाराज को ऐसा कृत्य करने को विवश कर दिया, जिसे यदि मूर्खतापूर्ण कहा जाए तो अनुचित नहीं होगा। उनके मन के चोर ने, रघुवंश की अपने वचन पर अटल रहने की कीर्ति के प्रति उनकी संवेदना ने, उन्हें निर्णय को गोपन रखने पर विवश कर दिया। यदि उस समय उनके मन में कैकेयी और भरत, प्रकारांतर से युधाजित के प्रति अकारण अविश्वास ने जन्म न लिया होता तो नारद की योजना सफल कैसे होती? दशरथ यदि एक बार अपनी आकांक्षा भरत और कैकेयी के समक्ष व्यक्त कर देते तब ... तब तो राम के राज्याभिषेक के लिए ये दोनों ही दशरथ के आगे-आगे चलते। किंतु ऐसा हो जाता तब तो राम के जन्म का उद्देश्य ही व्यर्थ हो जाता। यदि ऐसा हो जाता तो रक्ष संस्कृति का मूलोच्छेद कैसे होता?

गुरुदेव के पास से आकर दशरथ उद्यान में टहलने लगे। उनका विचार मंथन अभी भी चल रहा था। सूर्य क्षितिज के निकट पहुँचने ही वाला था किंतु दशरथ को संभवतः इसका भान ही नहीं था। वे बस विचार करते जा रहे थे, करते जा रहे थे, करते जा रहे थे।

अचानक उन्होंने चारों ओर दृष्टि दौड़ाई, आसपास कोई नहीं था। वे सोचते हुए ही द्वार की ओर बढ़े, थोड़ी ही दूर पर अंगरक्षक सतर्क खड़े थे।

‘एक व्यक्ति जाकर सेनापति प्रमोद को बुला लाओ।’ उन्होंने आज्ञा दी।

‘जैसी आज्ञा महाराज!’ अंगरक्षकों के प्रमुख ने आज्ञा को शिरोधार्य किया। फिर उसने एक सैनिक को संकेत किया, वह जाने के लिए मुड़ गया।

‘अथवा रुको ...’

वह सैनिक आदेश की प्रतीक्षा में रुककर महाराज की ओर देखने लगा।

‘.... उन्हें मात्र सूचित करो कि महाराज आ रहे हैं।’

सैनिक प्रणाम कर चला गया।

‘रथ प्रस्तुत किया जाए।’

एक दूसरा सैनिक रथ लेने चला गया।

20- प्रमोद

प्रमोद युवावस्था में दशरथ के सेनापति होने के साथ-साथ उनके मित्र भी हुआ करते थे। अब वे बहुत वृद्ध हो गए थे, उनके शतायु होने में कुछ ही वर्ष शेष थे, अतः उन्होंने सेनापति के पद से अवकाश ग्रहण कर लिया था। फिर भी सेना संबंधी विषयों में वे अब भी अनौपचारिक रूप से महाराज के विशेष सलाहकार की भूमिका का निर्वहन करते थे। सेनापति पद का दायित्व अब प्रमोद के पुत्र विद्याधर सँभालते थे।

महाराज के सैन्य सलाहकार के अतिरिक्त एक अन्य अत्यंत महत्वपूर्ण दायित्व का निर्वहन करते थे प्रमोद- वे महाराज की विशिष्ट और अतिगोपन गुप्तचर वाहिनी के प्रमुख अभी भी थे। इस वाहिनी का विशेष कार्य अन्य राज्यों में गुप्तचरी था। इधर विगत कई वर्षों से वे महाराज से निवेदन कर रहे थे कि अब उन्हें इस दायित्व से भी मुक्त कर दिया जाए किंतु महाराज हर बार टाल जाते थे। अभी तक कोई अन्य उपयुक्त व्यक्ति महाराज को नहीं मिला था।

प्रमोद अपने प्रासाद के द्वार पर ही महाराज की प्रतीक्षा कर रहे थे। उनके श्वेत केश मानो चन्द्रिका की अगवानी कर रहे थे। ऊँचा कद किंतु शरीर अब पूर्व की अपेक्षा दुबला हो गया था। कटि अब भी अवस्था के कारण नहीं, महाराज के स्वागत में झुकी हुई थी।

महाराज अकेले ही आए थे। अंगरक्षकों को उन्होंने उद्यान से ही विदा कर दिया था।

औपचारिकाताओं के उपरांत प्रमोद महाराज को विशेष गोपनीय कक्ष में ले गए। महाराज का इस काल में और वह भी एकाकी आना ही प्रकट कर रहा था कि कुछ गोपनीय विषय है।

दोनों के कक्ष में प्रवेश करते ही एक दासी जलपान की सामग्री रख गयी। उसके साथ ही प्रमोद की पत्नी भी थीं। उन्होंने महाराज को प्रणाम किया तो दशरथ बोले-

‘अरे प्रथम प्रणाम का सौभाग्य मुझे प्राप्त करने दें, आप ज्येष्ठ हैं।’

‘किंतु आप महाराज हैं। राजा सभी का ज्येष्ठ होता है।’

‘इस समय महाराज नहीं, दशरथ आया है अपने सखा का कुशलक्षेम प्राप्त करने।’

औपचारिकताओं का निर्वहन कर प्रमोद की पत्नी जाने लगीं तो प्रमोद ने कहा- ‘हमें एकांत चाहिए, आप ध्यान रखिएगा।’

‘जी!’ संक्षिप्त सा उत्तर देकर वे चली गयीं।

‘आदेश महाराज!’ पत्नी के जाते ही प्रमोद ने अपनी प्रश्रवाचक दृष्टि महाराज के चेहरे पर टिकाते हुए पूछा।

‘आपने तो अवकाश ले लिया अपने दायित्वों से। मेरा विचार है कि अब मुझे भी आपका अनुसरण करना चाहिए।’ दशरथ ने मंद हास्य के साथ कहा।

‘अभी से क्या आवश्यकता है महाराज! अभी तो आप पूर्ण स्वस्थ है।’

‘नहीं मित्र, आयु तो अपना प्रभाव दिखाती ही है। फिर अब कुमार इस योग्य हो गए हैं कि वे मुझे इन दायित्वों से मुक्ति प्रदान कर सकें।’

‘कुमारों की योग्यता में तो कोई संशय ही नहीं है। सर्वत्र उनकी प्रशंसा ही सुनाई पड़ती है। कुमार राम तो विलक्षण हैं। ... और अब तो वे सप्तम विष्णु के रूप में ख्यात हो रहे हैं। निश्चय ही उन्हें सम्राट् के रूप में प्राप्त कर अयोध्या धन्य हो जाएगी।’

‘हाँ, जब राम को अयोध्या का सम्राट् बनाना ही है तो इस शुभ कार्य में विलम्ब की क्या आवश्यकता?’

‘उचित है। किंतु मेरा परामर्श है महाराज कि कुमार राम का सम्राट् के रूप में अभिषेक करने पूर्व अभी उनका अभिषेक युवराज के रूप में करें !’

‘भला क्यों? अभी भी आप क्यों मुझे इस जंजाल में फँसाए रखना चाहते हैं? राम सर्वथा योग्य है।’

‘कुमार राम की योग्यता पर कोई प्रश्नचिह्न नहीं है महाराज! किंतु, जहाँ तक मैंने उन्हें समझा है, उनका स्वभाव अभी सम्राटों के अनुरूप नहीं है। वे तो स्वयं को प्रजा का ही एक व्यक्ति मानते हैं। वे प्रत्येक व्यक्ति को अपनी ही भाँति सरलमना मानते हैं।’

‘किंतु इसे अयोग्यता तो नहीं माना जा सकता?’

‘व्यक्ति के रूप में यह योग्यता है महाराज, किन्तु एक सम्राट् के रूप में यह अपरिपक्वता ही कही जाएगी।’

‘तो समय के साथ परिपक्व हो जाएगा।’

‘वही समय तो उन्हें देने के लिए मैं कह रहा हूँ महाराज!’ प्रमोद ने सस्मित कहा- ‘अभी उनका अभिषेक युवराज के रूप में करें, सम्राट् आप ही बने रहें, भले ही सारे दायित्व उन्हें सौंप दें किंतु उन दायित्वों के निर्वहन में उनका मार्गदर्शन करते रहें।’

‘वह तो वैसे भी करता रहूँगा। वह किरीटधारी सम्राट् बन जाने के बाद भी कदापि मेरी सम्मति की अवहेलना नहीं करेगा।’

‘सत्य है महाराज, किंतु सम्राट् को अपने किसी निर्णय को किसी भी कारण से यदि उलटना पड़ता है तो इसका उचित संदेश नहीं जाता। कुछ वर्ष युवराज के रूप में वे

जब इस जगत् में व्याप्त मिथ्याचार से परिचित हो जायेंगे तभी वे सम्राट् के रूप में परिपक्वता दिखा पायेंगे। तभी वे समझ पायेंगे कि संसार में प्रत्येक व्यक्ति उनके समान सरलचित्त अथवा सच्चा नहीं होता। तभी उनके भीतर सच और झूठ को पहचान पाने का विवेक विकसित होगा।’

‘कदाचित आप सत्य कह रहे हैं, किंतु राज्याभिषेक ही उचित रहेगा।

‘तो मुझे आदेश करें, मुझे किस प्रकार की भूमिका का निर्वहन करना है? प्रकटतः तो इसमें मेरी कोई भूमिका लक्षित होती नहीं, यह तो गुरुदेव और महामात्य का कार्य है।’

‘गुरुदेव और महामात्य की सम्मति है ... और जहाँ तक आपकी भूमिका का प्रश्न है, प्रतीत होता है कि आप कुछ भूल रहे हैं।’

‘क्या महाराज?’ प्रमोद ने विस्मय से पूछा।

‘कैकेयी से विवाह के समय हुआ अनुबन्ध।’

‘ओह!’ प्रमोद के मुँह से बस एक शब्द निकला।

‘वही एक बाधा है।’

प्रमोद कुछ क्षण सोचते रहे फिर सिर हिलाते हुए बोले-

‘प्रथम दृष्ट्या ऐसा प्रतीत तो होता है, किंतु महाराज यह बाधा है तो नहीं। वह अनुबंध अब किसे स्मरण है। महारानी कैकेयी का तो कुमार राम पर अगाध स्नेह है और कुमार भरत का तो कहना ही क्या, उनसा शील और पराक्रम का समन्वय तो विरले ही दृष्टिगोचर होता है।’

‘चिंता इधर से नहीं है, चिंता युधाजित की ओर से है।’

‘हाँ, संभव है कि वे कुछ आपत्ति करें। किंतु जब भरत को कोई आपत्ति नहीं होगी तब वे क्या करेंगे?’

‘मैं मानता हूँ कि भरत को राम पर अटूट श्रद्धा है। परंतु प्रभुता की आकांक्षा कब किसकी मति फिरा दे, क्या कहा जा सकता है!’

‘नहीं महाराज, विश्वास नहीं होता!’

‘दूसरी प्रकार से सोचो अच्छा! भरत अथवा कैकेयी प्रसन्नता से युधाजित को यह सूचना तो देंगे ही देंगे। तब युधाजित यदि उन्हें इस अनुबंध का स्मरण करा दें? वे यदि भरत को विवश करें कि नहीं नियमतः राज्य पर उनका अधिकार है ... तब? क्या तब भी भरत कुछ नहीं सोचेगा?’

प्रमोद कुछ नहीं बोले, बस सोचते रहे।

‘ऐसा नहीं है कि युधाजित हमें रोक लेंगे, किन्तु उत्सव के समय मैं किसी प्रकार के विवाद में नहीं उलझना चाहता। राज्याभिषेक निर्विघ्न सम्पन्न होने के उपरांत कोई

भय नहीं है। बाद में भरत भी इसे सहजता से स्वीकार कर लेगा।’

‘... और महाराज यदि कहीं कुमार राम ही अनुबंध के विषय में जानकर ?’ प्रमोद ने वाक्य पूरा नहीं किया। अशुभ का उच्चारण भी वे नहीं करना चाहते थे किंतु दशरथ उनका आशय समझ गए।

‘वस्तुतः यही तो सबसे बड़ी आशंका है। राम को यदि अनुबन्ध के विषय में ज्ञात हो गया तो वह कदापि अपने अभिषेक को स्वीकार नहीं करेगा। वह अन्याय का पक्षधर बनने के स्थान पर राज्य का त्याग करने को ही वरीयता देगा। वह ऐसा ही है।’

‘सत्य है महाराज! गुरुदेव की क्या सम्मति है इस विषय में?’

‘गुरुदेव का कहना है कि राजा के लिए प्रजाहित से अधिक महत्वपूर्ण कुछ नहीं होता। प्रजा के हित में राजा को यदि अपने वचन की अवमानना भी करनी पड़े तो कर देनी चाहिए।’

‘तात्पर्य?’

‘प्रजा का हित, अयोध्या का हित राम के साथ जुड़ा है। परम्परा ज्येष्ठ पुत्र के ही राज्याभिषेक की है, जब तक कि उसमें कोई अत्यंत गंभीर विकार न हो। प्रकारांतर से वे राम के ही राज्याभिषेक के पक्षधर हैं। महामात्य भी।’

‘तब क्या शंका है?’

‘अभी आप स्वयं ही शंका उपस्थित कर चुके हैं।’ दशरथ किंचित मुस्कुराये- ‘अनुबंध के विषय में ज्ञान होते ही राम स्वतः ही’

प्रमोद मौन सोचते रहे। कुछ क्षण उपरांत अनिश्चय से बोले-

‘तब ... तब क्या कुमार भरत का ही राज्याभिषेक करना होगा? यद्यपि सभी प्रकार से योग्य हैं वे भी किन्तु ...’

‘भरत का राज्याभिषेक हम करना भी चाहें तो क्या प्रजा इसे स्वीकार करेगी?’

‘कदापि नहीं करेगी महाराज!’ प्रमोद एक क्षण रुके फिर आगे बोले- ‘कुमार राम यदि मात्र आपके पुत्र होते तब परिस्थिति भिन्न होती किंतु प्रजा के मन में वे श्रीविष्णु के अवतार के रूप में प्रतिष्ठित हो रहे हैं।’

‘हाँ, प्रजा राजा को ईश्वर का प्रतिनिधि मानती है इस नाते उसका प्रत्येक आदेश स्वीकार करती है। कोई विरोध नहीं करती। किंतु यहाँ द्वन्द्व स्वयं ईश्वर और ईश्वर के प्रतिनिधि के मध्य होगा ... जिसमें निस्संदेह प्रजा ईश्वर के पक्ष में होगी। विष्णु जनसामान्य के लिए ब्रह्म का ही दूसरा नाम हैं और राम उन्हीं विष्णु का अवतार!’

‘तब आपने क्या सोचा है?’

‘सोच पाया होता तो आपके पास परामर्श माँगने क्यों उपस्थित हुआ होता? तब तो सीधे आपको यह शुभ-समाचार देता कि अमुक-अमुक तिथि को राम का

राज्याभिषेक होना है।' कहकर दशरथ मुस्कुराये।

प्रमोद भी मुस्कुराये।

कुछ पल मौन रहा, फिर दशरथ ने ही मौन तोड़ा-

‘मुझे तो एक ही मार्ग दृष्टिगोचर हो रहा है।’

‘क्या महाराज?’

‘राज्याभिषेक तो राम का ही होना है। बस इस भांति हो कि युधाजित को सूचना ही न मिल पाए।’

‘उसमें कौन सी बड़ी बात है?’

‘है बड़ी बात। राज्याभिषेक का निर्णय क्या हम भरत और कैकेयी से गोपन रख सकते हैं?’

‘नहीं!’

‘कैकेयी से तो एक बार रखा जा सकता है। अकस्मात् निर्णय लें और अभिषेक कर डालें। पूर्व में उसके विषय में कोई चर्चा ही न हो।’

प्रमोद ने सहमति में सिर हिलाया।

‘किंतु चारों कुमार तो अभिन्न हैं। चारों सदैव एकसाथ ही रहते हैं। राम को सूचना होते ही चारों को हो जाएगी। और तब भरत उत्साह से यह शुभ-सूचना अपने मातुल और मातामह को भी दे देगा।’

‘राम को रोक नहीं सकते भाइयों को सूचना देने से?’

‘क्या कहेंगे? बालकों के समान व्यवहार कर बैठते हैं कभी-कभी आप!’

प्रमोद बस मुस्कुरा दिए, बात ही उन्होंने बच्चों वाली कर दी थी।

‘रोकते ही राम कारण पूछेगा, क्या बताया जाएगा? बता दिया गया तो वह स्वयं ही भरत के राज्याभिषेक का प्रस्ताव कर बैठेगा।’

‘भरत को भी नहीं रोक सकते कि युधाजित को सूचना न करे...’ प्रमोद बोले-
‘इतने उत्साह का समाचार, मन अपने स्नेहीजनों को अविलम्ब देना ही चाहता है।’
कहकर वे सोचते हुए ऊपर-नीचे सिर हिलाने लगे।

‘कुमारों के विवाह के समय युधाजित भरत को लिवाने आए थे, यह तो ज्ञात होगा आपको?’ एकाएक दशरथ ने प्रश्न किया।

‘जी! ज्ञात है। यद्यपि मैं तो यहीं था किंतु सूचना मिली थी।’

‘उस समय तो यह संभव ही नहीं था अतः उन्होंने भी आग्रह नहीं किया था, किंतु अब प्रतीत होता है कि सबसे उचित अवसर वही होगा जब भरत युधाजित के साथ गए हुए हों।’

‘सही सोचा है आपने।’ प्रमोद के चिंतित चेहरे पर उत्साह झलक उठा।

‘भरत यदि यहाँ नहीं होंगे तभी वृत्तांत को उनके संज्ञान में आने से बचाया जा सकता है। राज्याभिषेक हो जाने के उपरांत न तो युधाजित साहस करेंगे ... यदि करेंगे भी तो अयोध्या दुर्बल नहीं है। ... और तब चाहकर भी राम प्रजा का आग्रह टाल नहीं पाएगा।’

‘सत्य है ... किंतु महारानी?’

‘महारानी तक सूचना कुछ काल तक टाली जा सकती है। राम को कुछ काल तक किसी भी कार्य में उलझाकर महारानी कैकेयी से उसकी भेंट टाली जा सकती है, किंतु भरत से नहीं। फिर महारानी के पास उतने संसाधन भी नहीं हैं जितने भरत के पास हैं। महारानी को समय लगेगा युधाजित से सम्पर्क स्थापित करने में किंतु भरत के लिए एक दिन ही पर्याप्त है। भरत यदि यहाँ नहीं होंगे तो राज्याभिषेक से पूर्व युधाजित को ज्ञात ही नहीं हो सकेगा।’

‘घोषणा अभिषेक से कितनी पूर्व करेंगे महाराज?’

‘दो, अधिकतम तीन दिवस पूर्व। संभव हुआ तो एक ही दिवस पूर्व।’

‘इतने कम समय में समस्त व्यवस्थाएँ पूर्ण हो जायेंगी?’

‘क्यों नहीं! कुछ व्यवस्थाएँ आपके निर्देशन में, किसी भी बहाने से, घोषणा के पूर्व से ही चलती रहेंगी।’

प्रमोद ने सहमति में सिर हिलाया। कुछ देर सोचा, दशरथ मौन उनकी ओर ताकते रहे।

‘अब मुझे आदेश कीजिए, मुझे क्या करना होगा इस सम्बन्ध में? मुझे तो अब भी अपनी कोई भूमिका समझ में नहीं आ रही।’

‘है आपकी भूमिका। आपके जितने भी गुप्त-सूत्र हैं केकय और उसके आसपास, उन्हें सतर्क कर दीजिएगा। यदि उन्हें वहाँ कोई हलचल दिखाई पड़े तो अविलम्ब गरुण संदेशवाहकों के माध्यम से अयोध्या संदेश भेज दें।’

‘अभी करता हूँ।’

‘अभी नहीं! अभी नहीं! ...’ दशरथ हँसे- ‘जब घोषणा का समय आएगा उससे कुछ पूर्व। अभी तो आपको दूसरा कार्य सम्पादित करना है।’

‘वह भी आदेश कीजिए।’

‘कुछ ऐसी व्यवस्था कीजिए जिससे युधाजित पुनः भरत को लिवाने आ जायें ... शीघ्र ही आ जायें ... और इसमें हमारी कोई संलिप्तता भी दिखाई न दे। ऐसा न प्रतीत हो कि हम स्वयं भरत को केकय भेजने के इच्छुक हैं।’ कहकर दशरथ पुनः एकबार हँसे।

इस बार प्रमोद ने भी उनका साथ दिया।

‘करता हूँ कुछ उपाय। वहाँ राजप्रासाद में भी कुछ गुप्त-सूत्र हैं। उन्हें सूचना भेजता हूँ कि वे शीघ्र ही कोई उचित अवसर देखकर महाराज अश्वपति को भरत की याद दिलवाने का प्रयास करें।’

‘किंतु सावधानी से, इसमें अयोध्या की संलिप्तता भासित न हो।’

‘वहाँ किसी को उनके अयोध्या से किसी प्रकार के संबंध का ज्ञान नहीं है। वे अयोध्या के राजकुमार का नहीं महाराज अश्वपति के दौहित्र का ही स्मरण करेंगे।’ कहते हुए प्रमोद हँस पड़े- ‘गुप्तचर का भेद जिस दिन प्रकट हो जाता है, उसकी मृत्यु उसी दिन निश्चित हो जाती है। शत्रु पक्ष रहस्य उगलवाने के लिए उसे तिल-तिल कर मृत्यु की ओर धकेलता है तो मित्र पक्ष उसे एक झटके में ही मृत्यु की गोद में सुला देने का प्रयास करता है।

‘यह सब आप ही समझें।’

21-शम्बूक

‘अरे दरिद्र शूद्र! तेरा साहस कैसे हुआ विप्रों की इस गली में प्रवेश करने का?’ लगभग पचास वर्ष के, वेशभूषा से ब्राह्मण प्रतीत होने वाले एक व्यक्ति ने शम्बूक का मार्ग रोकते हुए तिरस्कारपूर्ण स्वर में कहा।

‘इसमें साहस की क्या बात है विप्रवर! अयोध्या में कोई भी मार्ग किसी के लिए भी निषिद्ध नहीं है। मेरे गंतव्य हेतु यही मार्ग उपयुक्त था अतः मुझे इससे आना पड़ा।’ शम्बूक ने शान्ति से उत्तर दिया।

‘उदंड शूद्र! तुझे महामात्य ने वत्सता कुछ अधिक ही सिखा दी प्रतीत होती है। अपनी जिह्वा को नियंत्रण में रख अन्यथा दुष्परिणाम का उत्तरदायी तू स्वयं होगा।’

‘विप्रवर! मैंने तो कुछ भी अनुचित नहीं कहा है, न ही आपके सम्मान को ठेस पहुँचाने का कोई प्रयास किया है। फिर भी यदि आप अकारण मुझपर रुष्ट हैं तो मेरे पास कोई उपाय नहीं है आपका प्रिय करने का।’

‘तू मेरा अप्रिय करेगा? इतना साहस हो गया है तेरा?’

‘मैं आपका कुछ भी अप्रिय नहीं कर रहा हूँ, न ही करना चाहता हूँ। मैं तो मात्र अपनी राह जा रहा हूँ।’

‘नहीं तू मेरा अप्रिय कर। देखूँ तो कितनी सामर्थ्य है तुझमें!’

‘अकारण विवाद का कोई प्रयोजन नहीं है। मुझे मार्ग दे दीजिए और मुझे जाने दीजिए।’

‘नहीं अब ऐसे नहीं जाएगा तू। तू अपनी अभिलाषा पूर्ण कर, मेरा अप्रिय कर, क्या करना चाहता है?’

‘मैंने पहले ही कहा कि मैं आपका कुछ भी अप्रिय नहीं करना चाहता किंतु प्रिय करने का भी कोई उपाय मुझे दिखाई नहीं पड़ता।’

‘क्या विवाद है काका?’ आस-पास के चबूतरों पर कुछ युवकों के सिर दिखाई पड़ने लगे थे। सभी वेशभूषा से ब्राह्मण प्रतीत होते थे। उन्हीं में से एक युवक ने प्रश्न किया।

‘अरे कुछ नहीं विभूति! हमारी ही गली में आकर हमारा अप्रिय करने की धमकी दे रहा है।’

‘विप्रवर! क्यों वृथा विवाद बढ़ाने का प्रयास कर रहे हैं? मैंने ऐसा तो कुछ भी नहीं कहा।’

‘अच्छा! अब मुझ पर मिथ्या भाषण का आरोप भी लगा रहा है। तू ही तो एकमात्र महाराज हरिश्चन्द्र का उत्तराधिकारी उत्पन्न हुआ है पृथ्वी पर।’

‘मुझसे बात कर’ अब तक विभूति भी चबूतरे से कूद कर वहाँ आ गया था। उसने शम्बूक का कंधा पकड़ कर उसे अपनी ओर घुमाने का प्रयास करते हुए कहा। फिर उसने उस ब्राह्मण से कहा- ‘काका आप बैठिए।’

‘मुझे कुछ नहीं कहना, मुझे मार्ग दीजिए और अपनी राह जाने दीजिए।’

‘ऐसे कैसे जाने दें तुझे?’ एक दूसरे युवक ने उसे धक्का मारते हुए कहा- ‘कर अप्रिय काका का, हम भी तो देखें तेरी सामर्थ्य!’

शम्बूक कोई उत्तर देता उससे पूर्व ही मार्ग पर जहाँ ये लोग एकत्र थे उसके पूर्व की ओर बने भवन के वातायन से एक प्रौढ़ स्वर ने बाधा दी-

‘छोड़ो उसे सुमेघ, तुम भी अलग हटो विभूति, उसकी कोई त्रुटि नहीं है।’ फिर वही स्वर विवाद आरम्भ करने वाले व्यक्ति से सम्बोधित हुआ- ‘और जगन्नाथ यही तुम्हारा पाण्डित्य है? यही विद्यार्जन किया है तुमने जो अकारण इससे विवाद उत्पन्न करने का प्रयास कर रहे हो? मैं सम्पूर्ण प्रकरण यहाँ से स्वयं देख रहा था, उस बेचारे का कोई दोष नहीं है।’

‘बाबा! इसका और कुछ दोष हो अथवा न हो, किंतु शूद्र होकर एक ब्राह्मण का अपमान किया है, शूद्र होकर जगन्नाथ काका से समता करने का प्रयास किया है। इसका दण्ड तो इसे देना ही पड़ेगा। अन्यथा ...’

‘इसलिए तुम मेरी आज्ञा का उल्लंघन कर मेरा अपमान करोगे? ... और तुम न्यायाधीश कबसे बन गए? छोड़ो उसे।’ वह स्वर अब शम्बूक से सम्बोधित हुआ- ‘जाओ वत्स! तुम अपनी राह जाओ।’

‘पण्डित त्रिलोचन जी, आप क्यों बीच में पड़ रहे हैं। आप जैसे लोगों के कारण ही तो ब्राह्मणों को अपमान का दंश झेलना पड़ रहा है।’ जगन्नाथ पण्डित ने वातायन से झाँकते उस प्रौढ़ को पलट कर उत्तर दिया- ‘मेरे अपमान का दण्ड तो इसे भुगतना ही पड़ेगा।’ कहने के साथ ही उन्होंने शम्बूक पर हाथ छोड़ दिया। पण्डित त्रिलोचन के हस्तक्षेप और शम्बूक के प्रति उनकी पक्षधरता ने उनके क्रोध की अग्नि में घृत का कार्य किया था।

परन्तु उनका हाथ शम्बूक को स्पर्श नहीं कर सका, जैसे मार्ग में ही किसी अदृश्य शक्ति ने उसे जकड़ लिया हो। वे और तिलमिला उठे। उनका संदेह सीधा पण्डित त्रिलोचन पर ही गया। शम्बूक में भी कुछ आध्यात्मिक शक्तियाँ हो सकती हैं इसे उनके ब्राह्मणत्व का अहं स्वीकार करने की सोच भी नहीं सकता था। वे सिर उठा कर चीख पड़े-

‘त्रिलोचन जी! आपका यह कृत्य उचित नहीं है। आप एक शूद्र के सम्मुख मुझे अपमानित कर रहे हैं। मैं ब्राह्मण महासभा में परिवाद प्रस्तुत करूँगा, वहाँ आपको अपनी धृष्टता का समुचित उत्तर देना पड़ेगा।’ उनका हाथ अभी भी असहाय सा अधर में अटका हुआ था।

‘मुझ पर निराधार दोषारोपण क्यों कर रहे हैं मित्र! मैंने तो जो कुछ देखा वही कह दिया। इस पर भी यदि आप ब्राह्मण सभा में परिवाद प्रस्तुत करना चाहें तो आप स्वतंत्र हैं। मैं इसका उत्तर दे लूँगा वहाँ।’

‘और इसका क्या उत्तर देंगे?’ जगन्नाथ पंडित ने अपने अधर में अटके हाथ की ओर आँख से संकेत करते हुए कहा-‘यह जो आपने अकारण मेरा हाथ बाँधा हुआ है!’

‘यह मेरा कृत्य कदापि नहीं है। किन्तु एक बात अवश्य कहूँगा कि ब्राह्मणों का अपमान तो आप जैसे लोगों के कारण हो रहा है। जो आध्यात्मिक शक्ति आपके पास होनी चाहिए थी, वह शूद्र होते हुए भी इसके पास है। आपका प्रहार इसे स्पर्श तक नहीं कर पा रहा है। लज्जा आनी चाहिए आपको।’

‘प्रवचन बाद में दाखिलिएगा, पहले मेरा हाथ मुक्त कीजिए।’

‘उससे कहिए ...’ पंडित त्रिलोचन ने हँसते हुए कहा- ‘महामात्य निश्चय ही आप से बहुत अधिक योग्य हैं। पात्र-कुपात्र का निर्णय करने की उन्हें समझ भी है और अधिकार भी। यदि उन्होंने इसे सुपात्र माना है तो उनके निर्णय का सम्मान कीजिए और इसकी विद्या का भी। ब्राह्मण वही है जो विद्या का सम्मान करना जानता है। इसे अपमानित कर आप वस्तुतः इसका अपमान नहीं कर रहे, आप तो स्वयं महामात्य का अपमान कर रहे हैं, देवी सरस्वती का अपमान कर रहे हैं और सबसे प्रमुख अपने ब्राह्मणत्व का अपमान कर रहे हैं।’

पंडित जगन्नाथ ने अब अविश्वास से आँखें तरेर कर शम्बूक की ओर देखा। वह अब भी शांत खड़ा था। पंडित जी को अपनी ओर आकृष्ट देख कर वह पूर्ववत् विनम्रता से बोला-

‘मुझे मार्ग दे दीजिए, आपका हाथ स्वतः मुक्त हो जाएगा।’

विवशता थी, पंडित जगन्नाथ ने मार्ग छोड़ दिया। शम्बूक आगे बढ़ गया।

‘तुझे इस धृष्टता का दंड अवश्य मिलेगा मूर्ख! स्मरण रखना, यह पंडित जगन्नाथ की प्रतिज्ञा है। यह पंडित अब अपनी शिखा में ग्रंथि तभी लगाएगा जब तेरे विनाश की अपनी प्रतिज्ञा पूर्ण कर लेगा।’ पीछे से पंडित जगन्नाथ चीखते रहे।

शम्बूक ने उनके प्रलाप की ओर ध्यान नहीं दिया।

* * *

जाबालि अब पर्याप्त वृद्ध हो चुके थे, अपने महामात्य के उत्तरदायित्वों का भी भलीभाँति निर्वहन अब उन्हें कठिन प्रतीत होता था। आयु भी तो उनकी नब्बे वर्ष से अधिक हो रही थी। इधर शम्बूक की शिक्षा भी अब पूर्ण हो चुकी थी, गुरुकुल का दायित्व अधिकांशतः अब वही सँभालता था। आरम्भिक दिनों में जो अन्य छात्र इस गुरुकुल से जुड़े थे, वे इस व्यवस्था में उसका सहयोग करते थे। वस्तुतः उनके गुरुकुल में चर्मकार समुदाय के मात्र दो छात्र थे। इधर कुछ दिनों से दोनों ही अनुपस्थित थे। शम्बूक उन्हीं की खोज-खबर लेने जा रहा था कि मार्ग में यह व्यवधान उत्पन्न हो गया।

जाबालि का यह गुरुकुल अन्य गुरुकुलों से थोड़ा सा भिन्न था। अन्य परम्परागत गुरुकुलों में विद्यार्थी गुरुकुल में ही रहते थे, माह में मात्र दो बार उन्हें अपने घर जाने की अनुमति होती थी। उनके विपरीत यहाँ विद्यार्थी रात्रि में नहीं रुकते थे। वे नित्य प्रातः ब्रह्म मुहूर्त में आते थे और मध्याह्न में उनकी छुट्टी हो जाती थी। आरम्भ के कुछ वर्षों में यहाँ भी विद्यार्थियों के स्थाई रूप से गुरुकुल में ही रहने की व्यवस्था रखी गयी थी किंतु वह व्यवस्था चल नहीं पाई। शूद्र वर्ग के नागरिकों के लिए अपने बालकों का वेदाध्ययन उतना महत्वपूर्ण नहीं था जितना उनके अपने पैतृक कार्य में निपुणता प्राप्त करना था। उसीसे उनकी रोटी चलनी थी। ब्राह्मणों की भाँति वे भिक्षाटन से अध्यात्म की साधना नहीं कर सकते थे। उन्हें भला कौन भिक्षा देता? गुरुकुलवासियों और संन्यासियों के अतिरिक्त अन्य ब्राह्मण भिक्षाटन नहीं करते थे किंतु उन्हें सम्पन्न गृहस्थों से और राज्य की ओर से भी पर्याप्त दान मिलता रहता था, जिससे उनका सहजता से निर्वाह हो जाता था। किंतु दान प्राप्त करने का अधिकार तो मात्र ब्राह्मणों को ही था, इन शूद्रों को दान भी कौन देता! इन्हें तो अपनी पारंपरिक जीविका के द्वारा ही जीवन यापन की व्यवस्था करनी थी।

इस कारण जब कई वर्षों तक विद्यार्थियों की संख्या चार से आगे नहीं बढ़ी तो विवश होकर यह पद्धति अपनानी पड़ी थी। इससे अन्तर पड़ा था किंतु बहुत भारी अन्तर भी नहीं पड़ा था। अब इस गुरुकुल में चालीस विद्यार्थी थे। इनमें बीस से ऊपर तो शम्बूक के समुदाय के ही थे। शेष अन्य वर्गों के थे। द्विज वर्गों का कोई भी विद्यार्थी अब इस गुरुकुल में नहीं था। द्विजों में, मुख्यतया ब्राह्मणों में ऐसे बहुत से व्यक्ति थे जो जाबालि की इस पहल के समर्थक थे किंतु वे मुखर होकर उनका समर्थन नहीं कर सकते थे। मुखर समर्थक उँगलियों पर गिनने भर के ही थे। उनमें से कुछ ने आरंभ में अपने बच्चों को यहाँ भेजा भी था किंतु यह भी अधिक समय तक नहीं चल पाया। शीघ्र ही उन लोगों को अनुभव होने लगा कि महामात्य के सब विधि योग्य होते हुए भी उनके गुरुकुल में उन लोगों के बच्चों की शिक्षा उस स्तर की नहीं हो सकती

थी जिस स्तर की गुरु वशिष्ठ के गुरुकुल में अथवा अन्य गुरुकुलों में होती थी। कारण जाबालि के गुरुकुल की अक्षमता नहीं था, कारण था कि वहाँ शिक्षा उन शूद्र बालकों के स्तर के अनुसार दी जाती थी, जो वहाँ अधिकांशतः थे। स्वाभाविक तौर पर औपचारिक शिक्षा की दृष्टि से शूद्र बालकों का स्तर ब्राह्मण बालकों से काफी नीचे था। उन्हें जो कुछ भी शिक्षा प्राप्त होती थी गुरुकुल में ही प्राप्त होती थी जबकि ब्राह्मण बालकों को अनेक शैक्षिक संस्कार घर पर दैनन्दिन जीवन में ही प्राप्त हो जाते थे।

इन्हीं सारे विषयों पर विचार करता हुआ शम्बूक चला जा रहा था। उसका मन विद्यार्थियों की अनुपस्थिति से पहले ही खिन्न था, इस प्रकरण ने उसकी खिन्नता और बढ़ा दी। उसे यही आशंका हो रही थी कि कहीं उन दोनों विद्यार्थियों की अनुपस्थिति के पीछे भी ऐसा ही कोई सामाजिक दबाव तो नहीं था? उन्हें भी तो धमकाया नहीं गया था?

किन्तु उन विद्यार्थियों के घर पहुँचने पर पता चला कि उसकी आशंका निर्मूल थी। दोनों विद्यार्थी चचेरे भाई थे, एक ही घर में रहते थे। दोनों ही ज्वर से पीड़ित थे। घर के चबूतरे पर एक ही छप्पर के नीचे दोनों लेटे हुए थे। परिवार वाले भी वहीं एकत्र थे। पूछने पर शम्बूक को एक बुजुर्ग ने बताया कि प्रातःकाल तांत्रिक को बुलाया गया था और उसने बताया था कि बालकों पर किसी प्रेतात्मा का साया है।

शम्बूक को क्रोध आ गया। सामान्यतः आता नहीं था पर आ गया। फिर भी क्रोध पर नियंत्रण करते हुए उसने कहा-

‘हटो मुझे देखने दो।’

परिवारीजनों ने उसके लिए स्थान कर दिया।

शम्बूक ने बालक का नाड़ी परीक्षण किया। जीभ की स्थिति देखी। माथा देखा। घर वालों से कुछ प्रश्न किए ... कारण उसकी समझ में आ गया। यह एक संक्रमण था जो संक्रमित पशुओं के सम्पर्क में आने से फैलता था। इसमें रोगी को तीव्र ज्वर हो जाता था और वह प्रलाप करने लगता था। उचित चिकित्सकीय सुविधा न मिलने पर उसकी मृत्यु भी हो सकती थी। वयस्क व्यक्ति प्रायः बच जाते थे किंतु बच्चों के लिए यह जानलेवा सिद्ध होता था। चर्मकारों का इस व्याधि से संक्रमित होना सामान्य बात थी। उनका व्यवसाय ही मृत पशुओं की खाल उतारना था। उन्हें व्यक्ति सूचना देता था कि उसका पशु मर गया है और वे जाकर उसे उठा लाते थे। पशु संक्रमित है यह कौन देखता था ... देखना चाहता भी तो किस प्रकार देखता!

शम्बूक परिवार वालों को उनकी मूर्खता के लिए डाँटने ही जा रहा था, किंतु कुछ सोच कर चुप रह गया। यह भूत-प्रेतों में आस्था अयोध्या के शूद्रों में व्याप्त सबसे बड़ा

रोग था। यदि वह उन्हें डाँटता तो वे अपनी आस्था के चलते उसे ही मूर्ख सिद्ध कर देते और वही करते जो वह तांत्रिक उन्हें बताता।

‘तुम लोग गुरुकुल में सूचना नहीं कर सकते थे, महामात्य से बड़ा कौन तांत्रिक है अयोध्या में?’ शम्बूक ने उनसे उन्हीं की विधि में बात करने का निश्चय करते हुए कहा।

‘जी, हमारा साहस नहीं हुआ।’ एक व्यक्ति ने उत्तर दिया।

‘किसी मिट्टी के पात्र में लाकर गाय के गोबर के उपले सुलगा दो।’ शम्बूक ने निर्देश दिया।

एक स्त्री उपले लेने चली गयी।

‘आस-पास कोई पण्यशाला (दुकान) है?’ शम्बूक ने फिर प्रश्न किया।

‘हाँ, है एक छोटी सी।’ एक युवक ने उत्तर दिया।

‘तो चलो मेरे साथ।’

‘क्या उपचार किया है तांत्रिक ने?’ मार्ग में शम्बूक ने पूछा।

‘पता नहीं जाने क्या मंत्र पढ़ता रहा। एक-एक गंडा बाँध गया है दोनों की बाँह पर। कुछ भभूत दे गया है पानी में मिलाकर पिलाने को।’

‘ठीक है, दिखाना चलके मुझे भभूत।’

तब तक पण्यशाला आ गयी थी।

शम्बूक ने अगुरु, कर्पूर और कुछ अन्य जड़ी-बूटियाँ लीं उससे। मूल्य चुकाया। सामग्री की पोटली युवक ने उठा ली।

‘... और ले क्या गया तुम्हारा तांत्रिक?’ वापसी में शम्बूक ने पूछा।

‘तीन भांड मद्य ले गया है। कल पुनः आएगा। कल की पूजा में एक कुक्कुट की बलि दी जाएगी, उसकी व्यवस्था करने को कह गया है। कल तीन भांड मद्य और लेगा।’

‘कोई उपवन है पास में? अथवा कोई सरोवर या वापी (छोटा तालाब) जहाँ वन्य वनस्पतियाँ मिल जाएँ!’

‘वापी तो घर के पीछे ही है।’

युवक घर के बगल में रिक्त पड़े स्थान से होकर शम्बूक को घर के पिछवाड़े तक ले गया। वापी सत्य ही घर के पीछे ही थी। उसके बाद ढेर सारे वृक्ष, झाड़ियाँ और लता-गुल्म फैले हुए थे। वापी का घेरा काटकर दोनों दूसरी ओर पहुँचे। थोड़े से प्रयास से ही शम्बूक को वांक्षित वनस्पतियाँ मिल गयीं।

ये लोग वापस पहुँचे तो उपले सुलगते मिले।

दोनों बच्चे भूमि पर एक ही बिछौने पर लेटे हुए थे। शम्बूक ने दोनों के लिए पृथक बिछौनों की व्यवस्था करवाई। दोनों के मध्य दो हाथ का अन्तर रखाया और दोनों के बीच में सुलगते उपलों का पात्र रख दिया। फिर जो भी सामग्री उसने पण्यशाला से क्रय की थी वह एक स्त्री को दी और उसे कूट लाने को कहा। वह स्त्री जब सामग्री कूट लाई तो शम्बूक ने उसके छः भाग किए और एक भाग सुलगते उपलों पर डाल दिया।

‘दो दिन तक ये उपले निरंतर सुलगते रहने हैं। जैसे ही आग कम हो जाए उपले बढ़ाते रहना और प्रत्येक प्रहर में इस सामग्री का एक भाग अग्नि में डाल देना। इन बूटियों का धूम निरंतर श्वास के साथ इन दोनों के भीतर जाता रहना चाहिए। ... समझ गए?’

‘हाँ!’ एक युवक ने उत्तर दिया।

‘तुम नहीं, तुम से नहीं होगा।’ शम्बूक मुस्कुराया- ‘माता कौन है इसकी?’

एक स्त्री आगे आई।

‘तुम समझ गयीं?’

स्त्री चुप खड़ी रही। शम्बूक ने उसे फिर से समझाया।

फिर उसने साथ लायी हुयीं वनस्पतियाँ उठाईं।

‘ये देखो, इस जड़ को ... पत्थर पर घिस कर, मुहूर्त में एक बार दोनों के नथुनों पर, सीने पर और हाथों-पैरों के नखों पर लगाना है, ठीक?’

स्त्री ने सिर हिला दिया।

‘कितनी-कितनी देर में?’ शम्बूक ने पुनः प्रश्न किया।

‘मुहूर्त में एक बार।’ स्त्री समझ गयी थी।

‘आज और कल दो दिन तक ऐसे ही करना है। ... और ये बाकी सारी वनस्पतियाँ पीस कर रख लो। प्रत्येक दो मुहूर्त बाद इसमें से एक चुटकी भर लेकर थोड़े से गौमाता के दुग्ध में मिलाकर देते रहना है।’

स्त्री ने सिर हिला दिया पर पीछे से एक लड़की ने पूछा-

‘सो जायें ये तब भी देना है जगाकर?’

‘नहीं सो जायें तब नहीं देना है, पर लगाने वाली दवाई सोते पर भी जितनी बार तुम जाग सको, लगा देना ... और ये जड़ी-बूटी वाला धुआँ बन्द नहीं होना चाहिए ... समझ गए?’

‘जी!’ स्त्री ने उत्तर दिया।

‘और देखो, उस तांत्रिक को दुबारा नहीं आने देना है।’

‘किन्तु ...’ एक वृद्ध ने कुछ कहना चाहा।

‘किसी भी स्थिति में नहीं। महामात्य के शिष्य से अधिक योग्य नहीं होगा तुम्हारा तांत्रिक।’

इसके बाद शम्बूक कुछ समय तक होठों में कुछ मंत्र बुदबुदाता रहा। अथर्ववेद के वे मंत्र ईश्वर से बच्चों के स्वास्थ्य की कामना करते हुए थे। उनका प्रयोजन शारीरिक उपचार से अधिक अभिभावकों के मानसिक उपचार के लिए था। उन शूद्रों को तंत्र-मंत्र की शक्ति पर अगाध आस्था थी, यह मंत्रोच्चार उनकी उसी आस्था की संतुष्टि के लिए था।

तीसरे दिन जब शम्बूक वहाँ पुनः पहुँचा तो बच्चे पर्याप्त स्वस्थ हो चुके थे। सम्पूर्ण चर्मकार समुदाय में उसकी योग्यता की धाक बैठ गयी और कुछ ही दिनों में गुरुकुल में उनके बीस से अधिक बच्चों ने प्रवेश ले लिया।

22- आचार्य शुक्र

दुनिया का सबसे जोखिम भरा काम है किसी आक्रामक स्वभाव के अर्द्धविक्षिप्त को यह समझाने का प्रयास करना कि उसे पागलपन के दौरे पड़ते हैं और उसे उपचार की आवश्यकता है। ऐसी अर्द्धविक्षिप्त महिला यदि स्वयं साम्राज्ञी हो, साथ ही साथ सर्वशक्तिमान सम्राट् की दुलारी बहन हो तब ...?

यही स्थिति थी चन्द्रनखा के साथ। किसी का साहस नहीं था उसे यह सलाह देने का कि उसे उपचार की आवश्यकता है।

रावण कर सकता था किंतु वह विद्युज्जिह्व के वध के अपराधबोध के चलते और चन्द्रनखा के प्रति अपने स्नेह के चलते नहीं कर पा रहा था।

चन्द्रनखा की विक्षिप्तता के शिकार दण्डकारण्य के सामान्य व्यक्ति बनते थे। लंका में सामान्य व्यक्तियों से उसका सम्पर्क ही नहीं होता था। यहाँ वह सामान्यतया राजपरिवार के सदस्यों के ही सम्पर्क में रहती थी और उन्हें अब उसकी विक्षिप्तता का अभ्यास हो गया था। वे अब इसे गम्भीरता से नहीं लेते थे, सिवाय मन्दोदरी और रावण के। किन्तु दोनों ही विवश थे। जब भी चन्द्रनखा रावण के सामने कोई उपद्रव करती थी तो वह उसे सम्मोहित कर शांत कर देता था किंतु यह उपचार तो न था।

जैसी कि अपेक्षा थी, चन्द्रनखा रूठने, ना-ना करने के बाद भी उत्सव में लंका आई थी। लंका का यह उत्सव भी, भले ही छोटा सा था किंतु भव्य था। चन्द्रनखा ने इस उत्सव में भी छोटा-मोटा उपद्रव किया। कुछ पारिवारिक लोगों को अपमानित किया और रावण ने सदैव की भांति सम्मोहन से वशीभूत कर उसे शांत कर दिया। इस प्रकार उत्सव सोल्लास, निर्विघ्न निबट गया।

दूसरे दिन चन्द्रनखा दण्डकारण्य वापस लौट गयी।

आचार्य शुक्र भी उत्सव में सम्मिलित थे। किन्तु जब वे उत्सव से लौटे तब रावण चन्द्रनखा में व्यस्त होने के कारण उन्हें विधानपूर्वक विदा नहीं कर सका था अतः अगले दिन वह उनसे एक औपचारिक भेंट करने पहुँच गया।

बात चन्द्रनखा की ही छिड़ गयी।

‘सम्राट् अपनी भगिनी का उचित उपचार क्यों नहीं करते हैं?’ औपचारिकताओं के आदान-प्रदान के उपरान्त आचार्य ने बिना किसी लाग-लपेट के सीधा प्रश्न किया।

‘आचार्य! कोई उपचार दिखता ही नहीं।’

‘यह दशानन रावण कह रहे हैं जिनके पास प्रख्यात आयुर्वेदाचार्यों की पूरी सेना है ... जो स्वयं में विश्व के सर्वश्रेष्ठ आयुर्वेद पण्डितों में स्थान रखते हैं?’ आचार्य के स्वर में

आश्चर्य था।

‘आयुर्वेदाचार्य औषधि बता सकता है ... दे सकता है किन्तु सेवन तो रोगी को ही करना होता है।’

‘क्या सम्राट् यह कहना चाह रहे हैं कि दण्डकारण्य में परिचारिकाओं का अभाव है?’

‘नहीं आचार्य! आपके आशीर्वाद से अभाव शब्द का नामोल्लेख तक लंका में नहीं है। किंतु चन्द्रनखा को उसकी स्वयं की इच्छा के विरुद्ध औषधि देना क्या किसी के लिए संभव है?’

‘क्यों बालकों सी बातें कर रहे हैं सम्राट्?’ कहते हुए आचार्य मुस्कुराये- ‘वैद्य ऐसे रोगियों को अनेक उपायों से औषधि-का सेवन करवाते हैं।’

‘आचार्य प्रवर! चन्द्रनखा उन्मादिनी है, मूर्ख नहीं। उसे छल से औषधि दे पाना संभव नहीं है। वह रावण को अपना अपराधी मानती है ... अनुचित भी नहीं मानती। वह यह आक्षेप भी लगाती है कि उसे लंका से, परिवार से, सारे अपनों से पृथक् कर दिया गया है, किंतु लंका में टिकती भी नहीं है। यहाँ टिके तो कोई मार्ग निकाला भी जाए, वहाँ दण्डकारण्य में इतनी सामर्थ्य किसकी है जो ऐसा प्रयास भी कर सके!’

‘मानी आपकी बात किंतु जिस सम्मोहन-वशीकरण से सम्राट् उसकी विक्षिप्तता को नियंत्रित करते हैं उसीके प्रयोग से उसे नियमित औषधि-सेवन की भावना नहीं दे सकते?’

‘नहीं दे सकता आचार्य! बारम्बार प्रयास किया है इसका किंतु कभी फलीभूत नहीं हुआ।’

‘क्यों भला?’

‘आपने संभवतः गम्भीरता पूर्वक मनन नहीं किया इस पर अन्यथा आप स्वयं समझ गए होते!’ रावण ने कुछ हताश से स्वर में कहा।

‘सत्य है आपका कथन। मेरे सम्मुख तो यह प्रश्न कल प्रथम बार ही उपस्थित हुआ किंतु फिर भी यह विश्वास करना संभव नहीं है कि दशानन भी विवश हो सकता है और वह भी एक साधारण से कार्य के लिए।’

‘आपको भले ही विश्वास न हो रहा हो किंतु कठोर वास्तविकता यही है आचार्य! रावण अपनी भगिनी से, उसके हितार्थ ही सही, यह किस भांति कह सकता है कि वह विक्षिप्त है। कितना आघात पहुँचेगा उसे इस सत्य को स्वीकार करते समय! इससे यदि उसके मन में हताशा ने अथवा हीनभावना ने घर बना लिया तब? तब तो स्थिति इससे भी विकट हो सकती है।’

‘ऐसा कुछ नहीं होगा दशानन! दशानन की क्षमताओं से कौन अपरिचित है भला! आप जो इस भांति सोच रहे हैं उससे आपकी दुर्बलता ही प्रदर्शित हो रही है।’

‘अपनी भगिनी के विषय में रावण दुर्बल है आचार्य!’

‘किंतु दशानन मात्र चन्द्रनखा का भाई ही नहीं है, वह सम्राट् भी है।’

‘त्रिलोक के लिए रावण सम्राट् हो सकता है किंतु चन्द्रनखा के लिए तो उसका भाई ही है। उसका अभागा, अपराधी भाई!’

‘सोचिए दशानन, सोचिए! आप राजनीति के महापंडित हैं। क्या आपको यह स्मरण कराने की आवश्यकता है कि राजनीति संवेदनाओं से नहीं, कूटनीति से चलती है। सम्राट् को आवश्यकता पड़ने पर कठोर होना ही पड़ता है। महत्वपूर्ण उद्देश्य की साधना के लिए यदि संवेदनाओं से समझौता करना पड़े तो करणीय है।’

रावण ने कोई उत्तर नहीं दिया।

‘राजा का विद्वान होना उत्तम है ...’ शुक्राचार्य आगे बोले- ‘संवेदनशील होना और भी उत्तम है किंतु इनका राजा के पाँवों की अर्गला बन जाना कदापि श्रेयस्कर नहीं है।’

रावण अब भी मौन रहा।

‘अच्छा सम्राट् कुछ और भी निवेदन करना था।’ शुक्राचार्य ने अनुभव किया कि इस विषय में और बात करने का कोई औचित्य नहीं है, रावण चन्द्रनखा के प्रति अपनी कोमल भावनाओं के आगे विवश है अतः उन्होंने विषय परिवर्तन करते हुए कहा।

‘आदेश दीजिए, आचार्य प्रवर!’

‘अब शुक्राचार्य अनुमति चाहता है। लंका में उसका कार्य सम्पूर्ण हो चुका है।’

‘क्या रावण ने कुछ अनुचित कह दिया?’ रावण चकित था। वह तो अब तक शुक्राचार्य को लंका का अभिन्न अंग मानने लगा था।

‘नहीं सम्राट्, ऐसी कोई बात नहीं है। किंतु अब शुक्राचार्य की आवश्यकता उसकी जन्मभूमि को भी है।’

‘किंतु कुमारों की शिक्षा।’

‘वह तो सम्पूर्ण हो ही चुकी है और अब तो लंका के पास अनेक समर्थ आचार्य हैं जो निकुम्भिला को शुक्राचार्य की अनुपस्थिति का अनुभव नहीं होने देंगे।’

‘शुक्राचार्य का स्थानापन्न कोई नहीं हो सकता आचार्य प्रवर और अक्षय तो अभी गुरुकुल में ही है।’

‘अक्षय की शिक्षा सम्पूर्ण होने में अभी पर्याप्त समय शेष है। उतने काल तक रुक पाना शुक्राचार्य के लिए संभव नहीं है।’

‘तब आचार्य, उसकी शिक्षा का क्या होगा? उसके प्रति यह अन्याय नहीं होगा आचार्य?’

‘नहीं सम्राट्! शुक्राचार्य यदि यहाँ रुका, तो वह अन्य अपनों के प्रति अन्याय करेगा। अक्षय के शिक्षण-प्रशिक्षण के लिए अब निकुम्भिला में अनेक समर्थ आचार्य हैं ... और सबसे प्रमुख स्वयं मेघनाद है। अक्षय की शिक्षा कोई समस्या नहीं है।’

‘तो भी आचार्य! किसी ने भी यदि अनजाने में भी आपके प्रति अवज्ञा प्रदर्शित की हो तो ...’

‘सम्राट्, क्या किसी में शुक्राचार्य की अवज्ञा करने की सामर्थ्य है?’ शुक्राचार्य ने हँसते हुए प्रतिप्रश्न किया।

‘फिर? फिर क्यों आप लंका के गुरुकुल को अनाथ करना चाहते हैं?’

‘ऐसा नहीं है सम्राट्! लंका में शुक्राचार्य को जो सम्मान मिला है उससे वह अभिभूत है। उस सम्मान से भी अधिक महत्वपूर्ण है लंका में उसे मेघ जैसा शिष्य मिला ... जिसे पाकर कोई भी आचार्य स्वयं को धन्य मानेगा। किंतु जन्मभूमि की पुकार की भी तो उपेक्षा नहीं की जा सकती, जाना ही होगा अब!’

‘यदि आप जाने का निश्चय कर ही चुके हैं तो इतना निवेदन स्वीकार करें कि जाने के उपरांत भी समय-समय पर लंका को अपना आशीर्वाद प्रदान करते रहने का अनुग्रह बनाये रखें। यहाँ से जाने के पश्चात् लंका, रावण और मेघनाद को विस्मृत ही न कर दें।’

‘जैसी आपकी इच्छा।’ शुक्राचार्य ने मंद स्मित के साथ अनुरोध स्वीकार कर लिया- ‘वैसे भी सम्राट् मेघनाद जैसे शिष्य को कोई भी गुरु अपने जीवन में विस्मृत नहीं कर सकता। उसे जब भी आवश्यकता होगी, शुक्राचार्य अपने अन्य समस्त उत्तरदायित्वों का अनुपालन स्थगित कर उसके मार्गदर्शन हेतु उपलब्ध होगा।’

‘रावण कृतार्थ है आचार्य! किंतु क्या सच में ही कोई संभावना नहीं है कि आप अपने निर्णय पर पुनर्विचार कर सकें?’ रावण ने एक और प्रयास किया।

‘नहीं सम्राट्! इसके लिए शुक्राचार्य को विवश करने का प्रयास न करें।’

‘इतनी प्रार्थना तो स्वीकार करें कि लंका आपको भव्य समारोह पूर्वक, आपके गौरव के अनुकूल विदा कर सके। लंका को इन्द्रजित प्रदान करने हेतु आपके प्रति विधिपूर्वक अपनी कृतज्ञता ज्ञापित कर सके।’ रावण ने हाथ जोड़ कर निवेदन किया।

शुक्राचार्य ने भी इस हेतु सस्मित मौन स्वीकृति प्रदान कर दी।

एक सप्ताह के उपरांत आयोजित भव्य समारोह में लंका ने अपने इस महान आचार्य को अश्रुपूरित नेत्रों से सम्मानपूर्वक विदा किया।

स्वाभाविक था, आचार्य के लंका से जाने के निर्णय से सर्वाधिक विह्वल इन्द्रजित मेघनाद ही था।

23- गौतम के आश्रम में हनुमान

‘क्यों रे! सुग्रीव के साथ-साथ तूने भी किष्किंधा को पूर्णतः त्याग दिया?’

‘अरे नहीं माता! आप भी कैसी बात करती हैं।’

‘मिथ्या कहती हूँ क्या? आज कितने दिन बाद तेरे दर्शन हो रहे हैं, वह भी तब, जब मैंने अंगद से कहकर तुझे बुलवाया।’

‘तो आप जब चाहें तब बुलवा सकती हैं, अंगद तो नित्य ही आता है।’

‘तात्पर्य, बिना बुलवाये तू नहीं आएगा? सुग्रीव के आगे माता-पिता का कोई मूल्य नहीं तेरे लिये?’

‘कैसी बात कहती हो अम्मा?’ कहते हुए हनुमान अंजना से लिपट गए। जब वे अधिक लाड़ में होते थे तो अंजना से अम्मा ही कहते थे। अपना सिर उसके कंधे पर रख दिया फिर बोले- ‘तुमसे और बाबा से अधिक मूल्यवान तुम्हारे बजरंग के लिए कोई नहीं हो सकता।’

‘हट! बातें बनाना बहुत सीख गया है।’ अंजना के नेत्र सजल हो उठे।

‘अरे अम्मा, तुम भी न! बिना बात रोने लगती हो। हँसो अच्छा!’ कहते हुए हनुमान अंजना के पेट में गुदगुदी करने लगे।

‘छोड़ अच्छा!’ कहते-कहते अंजना की मुस्कुराहट छूट गयी- ‘क्रोध भी नहीं करने देता!’

‘हनुमान के अम्मा-बाबा भला उस पर क्रोध कर सकते हैं!’ कहते हुए हनुमान खुलकर हँसे- ‘अच्छा यह तो बताओ कि किस प्रयोजन से बुलवाया था?’ हनुमान ने अधीरता से प्रश्न किया।

‘क्या बिना किसी प्रयोजन के तुझे बुलवा भी नहीं सकती तेरी अम्मा?’

‘अरे अम्मा तो कान पकड़ कर जब चाहे बुला सकती है, परंतु कुछ न कुछ विशेष तो अवश्य ही है।’ हनुमान ने लड़ियाते हुए जोड़ा- ‘बताओ न!’

‘मिथिला से सूचना प्राप्त हुई है।’

‘मिथिला से? किन्तु वहाँ से हमारा क्या संबंध?’

‘कोई सम्बन्ध ही नहीं हमारा मिथिला से? इतना शीघ्र सब भूल गया?’

‘अरे हाँ, हनुमान की अम्मा तो मिथिला की ही हैं, मैं तो भूल ही गया था। किन्तु वहाँ से भला क्या सूचना हो सकती है, बजरंग के मातामह और मातामही तो ...’

‘अरे तेरी मातामही का निर्वासन समाप्त हो गया है।’

‘क्या?? सच अम्मा! कैसे हुआ? किसमें इतना साहस हुआ जो सबके विरुद्ध जाकर मातामही अहल्या को ... अरे अम्मा, सच में मैं कितना प्रसन्न हूँ ...’ हनुमान ने वाक्य पूरा नहीं किया बस अंजना को उठाकर आँगन में चक्कर खिलाने लगे।

‘अरे छोड़ मुझे!’ अंजना ने लाड़ से हनुमान के गाल पर चपत मारते हुए कहा- ‘छोड़, और पूरी बात सुन।’

‘अरे! अभी और भी है, क्या मातामह भी स्वनिर्वासन से लौट आए?’ हनुमान ने माता को छोड़ते हुए कहा।

‘देख मुझे चक्कर आने लगे। तेरी माता तेरे समान शिव का अंश थोड़े ही है! वह सामान्य स्त्री भर है।’

‘अरे बात बताओ अम्मा, मुझसे अब प्रतीक्षा नहीं होती।’

‘हाँ, पिता भी लौट आए हैं। उन दोनों का जीवन पुनः सामान्य हो गया है। उनका आश्रम पुनः व्यवस्थित होने लगा है।’

‘किंतु अम्मा, यह सब संभव कैसे हुआ?’

‘हट, मुझे चक्कर आ रहे हैं।’ अंजना सिर पकड़ते हुए मुस्कुरा कर बोली- ‘इतनी जोर से तो नचा दिया।’

‘बताओ, नहीं तो फिर से नचाऊँ!’ कहते-कहते हनुमान ने अंजना के कंधे पकड़ लिए।

‘रहने दे, रहने दे ... बताती हूँ।’ कहकर अंजना पेट पकड़ कर हँस पड़ी- ‘बैठ अच्छा सीधी तरह से!’

हनुमान भी सामने पड़ी दूसरी चारपाई पर बैठ गए।

‘स्वयं प्रभु श्रीविष्णु ने किया यह सब।’

‘प्रभु श्रीविष्णु ने?’ अनुमान ने आश्चर्य से पूछा - ‘प्रभु श्रीविष्णु आए थे स्वयं?’

‘उस रूप में नहीं आए थे। ... तुझे ज्ञात नहीं प्रभु विष्णु ने राम के रूप में अवतार लिया है।’

‘वह तो बहुत पुरानी बात है।’

‘पुरानी नहीं। मैं जामदग्न्य राम की बात नहीं कर रही।’

‘फिर? श्रीविष्णु का अवतार तो वही कहे जाते हैं।’

‘वे तो षष्ठ विष्णु हैं, अब तो सप्तम विष्णु का अवतार भी हो चुका है।’

‘किंतु बात तो तुम राम की कर रही हो।’

‘प्रभु के सप्तम अवतार का भी लौकिक नाम राम ही है।’ अंजना मुस्कुराई- ‘अयोध्यापति दशरथ के पुत्र राम।’

‘कैसा संयोग है अम्मा? एक ही समय में प्रभु के दो-दो अवतार और दोनों का नाम भी एक ही - राम!’

‘संयोग तो है। किंतु जामदग्रेय तो अब परशुराम के नाम से ही जाने जाते हैं, अपने परशु के कारण।’

‘हूँ SSS ... षष्ठ परशुराम, सप्तम राम ... यही न?’

‘हाँ, किंतु आगे तो सुन।’

हनुमान ध्यान से सुनने लगे।

‘समस्त भूमण्डल पर से अन्याय का नाश करने के लिए प्रभु श्रीविष्णु ने दशरथ पुत्र राम के रूप में अवतार लिया है। वे ऋषियों के यज्ञों की और आर्य संस्कृति की रक्षा के लिए जन्मे हैं।’

‘वह सब तो ठीक है अम्मा, किंतु तुम मातामही के प्रकरण पर आओ न!’ हनुमान उकताने से लगे थे।

‘देख यदि सुनना है तो बीच में व्यवधान मत डाल। व्यवधान डालना हो तो जा वहीं अपने मतंग वन में।’ अंजना तुनक गयी।

‘अच्छा सुनाओ, नहीं डालूँगा व्यवधान।’

पर अंजना बैठी रही।

‘अब सुना न, कह तो दिया कि नहीं डालूँगा व्यवधान।’

‘तो सुन, पर समझ ले।’ अंजना ने क्रोध का अभिनय करते हुए आँखें तरेरीं।

‘समझ लिया।’ हनुमान आकर माता की ही चारपाई पर बैठ गए और उसके गले में एक हाथ डालकर लड़ियाते हुए बोल- ‘मेरी अच्छी अम्मा!’

अंजना पसीज गयी।

‘ताड़का और उसके पुत्र सुंदरवन में आतंक मचाए हुए थे। ऋषिगण यज्ञ भी नहीं कर पा रहे थे उनके कारण। ऋषिगणों की ओर से ब्रह्मर्षि विश्वामित्र गए यज्ञों की रक्षा के लिए राजा दशरथ से प्रभु राम को माँगने। प्रभु के साथ उनके छोटे भाई लक्ष्मण भी आए, और सुन्दरवन आकर दोनों ने राक्षसों का नाम तक मिटा दिया।’

‘हूँ SSS!’ हनुमान ने कुछ उकताई सी हुई हुंकारी भरी।

‘इन घटनाओं के विषय में तूने तो सुना नहीं होगा?’ अहल्या ने हनुमान का गाल थपथपाते हुए प्रश्न किया।

‘नहीं माता! वहाँ मतंगवन तक सूचनायें पहुँच ही नहीं पातीं।’

‘और पड़ा रह वहाँ कूप-मण्डूक बनकर! मैं मना तो नहीं करती तुझे वहाँ जाने से किंतु वहीं बस जाने की कौन सी रीत है भला।’

‘इस पर बाद में चर्चा कर लेंगे, अभी तुम विषय से मत भटको। ... परंतु यहाँ तक यह चर्चा कैसे पहुँची? अंगद ने भी नहीं बताया मुझे।’

‘चर्चा तो अभी यहाँ तक भी नहीं पहुँची है।’ अंजना मुस्कुराई।

‘तो तुम्हें कैसे पता चला?’

‘मेरी माता ने सूचना भेजी न मेरे पास! बुलाया है हम तीनों को।’

‘अवश्य चलेंगे, पर अभी तुम कथा कहो। विषय से मत भटको।’

‘सुन्दरवन जब राक्षसों से मुक्त हो गया तो ब्रह्मर्षि विश्वामित्र ने सोचा कि जब प्रभु ने नश्वर शरीर धारण किया ही है तो इनका इनके अनुरूप कन्या से विवाह भी होना चाहिए।’ अंजना कुछ पल रुकी, सिर उठाकर हनुमान की आँखों में देखा और उपालंभ दे डाला- ‘एक तू है, विवाह के विषय में बात ही नहीं करने देता।’

‘मेरी अच्छी अम्मा, सहस्त्रों बार समझाया तुम्हें कि तुम्हारा हनुमान ब्रह्मचर्य व्रत धारण किए है। उसका विवाह संभव ही नहीं है। पर तुम अभी कथा कहो, अन्य बातें बाद में कर लेना!’

‘तेरे पिता भी तो ब्रह्मचर्य-व्रत धारण किए हुए थे ... उन्होंने विवाह किया अथवा नहीं?’

‘ओह अम्मा ... अब इस विषय को त्याग भी दो ...’ हनुमान ने गहरी विरक्ति से कहा- ‘और वापस विषय पर आओ। इस विषय पर हम बाद में कभी तर्क कर लेंगे।’

अंजना ने आहत दृष्टि से पुत्र को देखा फिर आगे कहना आरंभ किया-

‘त्रिभुवन में प्रभु के योग्य कन्या तो एक ही हो सकती थी। जनकनन्दिनी, जिसने प्रभु शिव के धनुष को, जिसे आज तक कोई हिला तक नहीं सका ... रावण तक, उसे बस कौतुक में ही उठा लिया।’

‘हूँ SSS’

‘बस ब्रह्मर्षि प्रभु को लेकर चल दिए मिथिला की ओर। मार्ग में माता का आश्रम था, जहाँ वे सम्पूर्ण जगत द्वारा बहिष्कृत प्रस्तरवत निवास कर रही थीं। वह जनशून्य आश्रम देखकर प्रभु ने जिज्ञासा की तो ब्रह्मर्षि ने सारी कथा सुनाई। बस, प्रभु को क्रोध आ गया। उन्होंने घोषणा कर दी कि जो भी अहल्या के बहिष्कार का साहस करेगा, उनका बाण उसकी छाती छेद देगा।’

अब हनुमान सतर्क होकर बैठ गए।

‘अब भला प्रभु का आदेश कौन टाल सकता है, माता का बहिष्कार समाप्त हो गया।’

‘और मातामह?’

‘जब सुनाती हूँ तो बीच में टोकता है। सुन ध्यान से, बता तो रही हूँ सब।’

‘अच्छा सुनाओ।’ हनुमान हँस दिए।

‘प्रभु ने तेरे मातामह को भी संदेश भेज दिया। अब स्वयं प्रभु का आदेश वे भी कैसे टाल सकते थे ... उन्होंने भी अपनी प्रतिज्ञा वापस ले ली। अब वे भी लौट आए हैं आश्रम में। आश्रम पुनः जीवंत हो उठा है।’

‘यह तो तुमने बहुत अच्छा समाचार दिया। किंतु समाचार लाया कौन?’

‘क्यों? मेरा भाई मिथिला का राजपुरोहित है। सहस्त्रों साधन हैं उसके पास।’ गौरव का प्रदर्शन करती हुई अंजना बोली और हँस पड़ी।

‘बताओ न माँ!’

‘मैं भी नहीं पहचानती कौन हैं, तेरे बाबा के साथ गए हैं।’

‘कब आए थे?’

‘कल रात्रि से पूर्व।’

‘और क्या-क्या बताया उन्होंने?’ हनुमान अब अधीर हो रहे थे, अपने मातामह-मातामही के विषय में, साथ ही उस दिव्य पुरुष के विषय में जानने को भी जिसकी कृपा से उनकी मातामही इतने बड़े कलंक से मुक्त हुयी थीं।’

‘बहुत प्रशंसा कर रहे थे प्रभु की। उनकी स्मित, उनका हास्य, उनका लास्य, उनकी छवि सभी की मुक्त-कंठ से प्रशंसा कर रहे थे।’ अंजना हँसी- ‘उनके पास तो शब्दों का भयंकर संकट उत्पन्न हो गया था प्रभु की प्रशंसा के लिए।’

‘कब तक लौटेंगे बाबा?’

‘तू भी न! ...’ अंजना ने आँखें तरेरीं- ‘पहले भी कभी बता कर गए हैं तेरे बाबा जो आज बताकर जाते ... मैं क्या जानूँ!’

‘ओह!’

‘तू स्वयं ही क्यों नहीं खोज लेता जाकर उन्हें?’

‘नहीं, मेरा मन नहीं मिलता मातुल से।’

‘उन्होंने तो सदैव तुझे स्नेह ही दिया है, फिर मन क्यों नहीं मिलता?’

‘पता नहीं, बस ऐसे ही।’

‘ऐसे-वैसे कुछ नहीं! जा, बाबा जहाँ कहीं हों उनसे और अतिथि दोनों से मिलकर आ। वे महाराज के पास हों तो वहीं चले जाना, देखना कि महाराज क्या व्यवहार करते हैं तेरे साथ। ... और हाँ, अपने पिता से कहना कि शीघ्र ही आयें ... और मिथिला जाने के विषय में भी महाराज से अनुमति ले लें। मैं शीघ्र ही जाना चाहती हूँ।’

हनुमान बैठे रहे, उन्हें समझ नहीं आ रहा था- क्या कहें, क्या करें।

‘अब जा भी, बैठा क्यों है? जा जल्दी’ अंजना ने हनुमान को ठेलते हुए कहा।’

* * *

हनुमान को वैराग्य अपने पिता से विरासत में मिला था। निरासक्त भाव से सद्कर्मों में तल्लीन रहना उनका स्वभाव था। माता-पिता का दृढ़ विश्वास था कि उनमें शिव का अंश है। शिव ने स्वयं उनकी माता को स्वप्न देकर यह बात बताई थी। यह सत्य था अथवा माता-पिता की आस्था भर ही थी, यह मात्र विधाता के अतिरिक्त कोई नहीं बता सकता किंतु शक्ति में वे शिव के समान अपराजेय थे। बल में बालि, जिसके विषय में मान्यता थी कि युद्ध में प्रतिपक्षी का भी आधा बल वह अपहृत कर लेता है, भी उनके समक्ष फीका था।

बुद्धि उनकी अतुलनीय थी ही। सूर्यदेव और इन्द्र के साथ अबोध बचपन में ही हुई प्रथम मुठभेड़ के बाद से ही सूर्यदेव उनके अनन्य प्रशंसक बन गए थे और उन्होंने पूर्ण मनोयोग से उन्हें शिक्षा प्रदान की थी। फलस्वरूप ज्ञान का महासागर उनके भीतर हिलोरें लेता था।

उनके जीवन में यह पहला अवसर था जब उनका यह निरासक्त भाव थोड़ा सा विचलित हुआ था। माता से वार्ता के उपरांत से ही उनके मन में अपने नाना-नानी से भेंट करने की तीव्र उत्कंठा जाग्रत हो गयी थी। पिता के परिवार में कोई जीवित ही नहीं था। परिवार के रूप में उन्होंने अभी तक माता-पिता के अतिरिक्त मात्र बालि, तारा, सुग्रीव, रूमा और अंगद को ही जाना था। उन्होंने भी उन्हें अपनों के समान ही स्नेह दिया था किंतु अबोध अवस्था के उपरांत ही उन्हें ज्ञात हो गया था कि वे सब अपने अवश्य थे, किंतु उनके परिवार से उनका कोई रक्त-संबंध नहीं था।

मातामह-मातामही के विषय में सम्पूर्ण कथा उन्हें ज्ञात थी, इन्द्र के प्रति उनके मन में आक्रोश भी था। तभी तो अबोध बचपन में ही इंद्र के साथ उनका टकराव हुआ था, जिसके उपरांत उन्हें हनुमान नाम प्राप्त हुआ था। किंतु समय के साथ-साथ वह आक्रोश अब शान्त सा हो गया था। नाना-नानी दोनों से ही मिलना क्योंकि संभव नहीं था, अतः उनके विषय में जिज्ञासा भी नहीं होती थी। परंतु इस नवीन रहस्योद्घाटन से उनसे मिलने की वह प्रसुप्त जिज्ञासा पुनः सिर उठाने लगी। माता के उकसाने पर वे पिता और यह सूचना लाने वाले अतिथि को खोजने निकल पड़े।

बाहर निकल कर थोड़ा सा ही पूछताछ से उन्हें पता चल गया कि पिता और संदेशवाहक दोनों अभी सभाभवन में महाराज बालि के साथ ही हैं। वे उधर ही बढ़ चले।

‘अरे! आज तो युगों बाद अपने वज्रांग के दर्शन प्राप्त हो रहे हैं।’ हनुमान को देखते ही बालि ने प्रसन्नतापूर्वक कटाक्ष किया। केसरी और बालि ये दो ही थे जो अब भी हनुमान को वज्रांग कहते थे। अंजना बजरंग और शेष सब तो हनुमान कहते ही थे।

हनुमान सकुचा गये, उन्होंने मात्र एक संकोची मुस्कान से उत्तर दिया और आगे बढ़कर चरण स्पर्श कर महाराज का आशीर्वाद लिया। फिर उन्होंने इसी भांति महाराज की बगल में ही बैठे अपने पिता का आशीर्वाद लिया और शेष सभी सभासदों को सिर झुकाकर हाथ जोड़कर प्रणाम निवेदित किया। पिता ने अपने दाहिनी ओर बैठे एक व्यक्ति की ओर संकेत किया, हनुमान ने देखा, वह कृश शरीर, खल्वाट शीश, कंधे पर अँगौछे के रूप में पड़े गैरिक उत्तरीय, श्वेत अधोवस्त्र और कंधे से लेकर जंघाओं तक आता हुआ यज्ञोपवीत धारण किए कोई युवा सन्यासी था। हनुमान ने उसे भी चरण स्पर्श कर प्रणाम किया और बैठ गए।

‘वज्रांग! ये हैं आर्य विरंचि। महर्षि गौतम के आश्रम से पधारे हैं और इतना उत्साहजनक समाचार लाए हैं कि हम सभी इनके जन्म-जन्मांतर तक के लिए ऋणी हो गए हैं।’

‘जी महाराज! माता ने बताया।’

‘इस समय ये औपचारिकतायें उतार कर एक ओर धर दो। सभा समाप्त हो चुकी है, अब इस समय तुम्हारा मातुल तुमसे सम्बोधित है।’ कहते हुए बालि खुलकर हँसा।

सभी हँस पड़े।

‘तो यह सौभाग्य दीदी ने पहले ही प्राप्त कर लिया।’ बालि ने कहा।

हनुमान बस मुस्कुराकर रह गए। किसी प्रकार बस विरंचि से इतना ही कह सके-

‘विप्रवर! कुछ और समाचार दीजिए मातामह और मातामही के।’

‘अरे अब और समाचार क्या ... बस मिथिला चलने को तत्पर हो जाओ।’ उत्तर बालि ने ही दिया।

‘हाँ वत्स! इस समय हम मिथिला-प्रस्थान के विषय में ही विचार कर रहे हैं।’ केसरी बोले।

* * *

अगले दिन ही मिथिला के लिए प्रस्थान हो गया। केसरी, अंजना और हनुमान के अतिरिक्त बालि और अंगद भी साथ थे। तारा भी आना चाहती थी किंतु रूमा के कारण रुक गयी। रूमा का अब कहीं भी आने-जाने का मन नहीं होता था। ... और हाँ विरंचि तो साथ थे ही।

लम्बी दूरी थी। पन्द्रह दिन तो मार्ग में ही व्यतीत हो गए।

‘माता!’ आश्रम में पहुँचते ही अंजना माता से लिपट गयी।

‘क्यों, पिता से कोई स्नेह ही नहीं है तुझे?’ गौतम ने उलाहना दिया।

‘प्रतीक्षा कीजिए ऋषिवर, प्रथम मुझे भलीभांति भेंट लेने दीजिए।’ उत्तर, अंजना को और भी कसकर अपनी बाहों में भींचते हुए अहल्या ने दिया।

‘जैसी आपकी इच्छा देवी।’ ऋषिवर मुस्कुरा उठे।

इस बीच शेष सभी आगंतुक उनके चरण-स्पर्श कर आशीर्वाद लेने लगे।

गौतम का आशीर्वाद लेने के उपरांत सब अहल्या के मुक्त होने की प्रतीक्षा करने लगे। उसे देख कर सभी विस्मित थे। आयु ने मानों उसे स्पर्श ही नहीं किया था। यदि ज्ञात न होता कि वह अंजना की माता है तो सब उसे अंजना की बहन ही समझते। इस बीच मंगला आश्रम की अन्य स्त्रियों के साथ फलाहार की व्यवस्था कर लाई।

तब अहल्या ने अंजना को मुक्त किया और प्रतीक्षारत शेष व्यक्तियों को आशीर्वाद देने का उपक्रम किया। हनुमान ने जैसे ही उसके पैरों में सिर रखा, उसने हनुमान को उठाकर सीने से चिपटा लिया और उसके भाल पर चुम्बनों की झड़ी लगा दी। फिर आँखों से ही मानो उनकी छवि को पीती हुई बोली-

‘वज्रांग, उपयुक्त नाम रखा है अंजना तूने इसका। राम का सर्वश्रेष्ठ सहयोगी सिद्ध होगा यह।’

मातामही के कथन से हनुमान पुलक उठे। उन्हें प्रभु की सेवा का अवसर प्राप्त होगा, निश्चय ही यह बहुत बड़ा सौभाग्य था।

‘विस्मित मत हो पुत्र, युगों तक तुम्हारा नाम तुम्हारे प्रभु के नाम के साथ स्मरण किया जाएगा।’

‘किंतु माता मेरी उनसे भेंट कैसे होगी? मैं मातुल सुग्रीव को त्यागकर अयोध्या में निवास तो नहीं कर सकता।’

‘यह चिंतन करना तुम्हारा कार्य नहीं है, तुम्हारे प्रभु तुम्हें स्वयं ही खोज लेंगे, जहाँ भी तुम होगे।’ अहल्या ने मंद स्मित के साथ उनकी जिज्ञासा को शांत किया।

हनुमान और भी प्रसन्न हो गए।

फिर सब पुरानी यादों को दुहराने में व्यस्त हो गए।

सूचना प्राप्त होते ही अगले दिन शतानंद भी आ गए। उनके साथ स्वयं महाराज सीरध्वज भी थे। एक बालि जैसा सामर्थ्यवान नृप उनके राज्य में आया था, उसका औपचारिक स्वागत करना उनका कर्तव्य था।

कुल मिला कर मिथिला की यात्रा अत्यंत उल्लासमय रही। प्रत्येक मिथिलावासी को जैसे राम और सीता की प्रशंसा करने की लत थी। जो भी मिलता वह किसी भी विषय पर बात चल रही हो, घुमा-फिरा कर उसे राम पर या सीता पर ले आता था और लग जाता था उनकी प्रशंसा करने में। हनुमान स्वयं राम के कृतज्ञ थे अतः इस प्रशंसा-व्यापार से उन्हें कोई आपत्ति भी नहीं थी। फिर अहल्या के कथन ने उन्हें राम

के प्रति और भी सम्मोहन में जकड़ दिया था। वे व्यतीत होते प्रत्येक क्षण के साथ सिया-राम के भक्त बनते चले जा रहे थे।

एक सप्ताह आश्रम में व्यतीत करने के उपरांत बालि ने वापसी की बात की। उसने केसरी, अंजना और हनुमान के सम्मुख यह प्रस्ताव भी रखा कि यदि वे चाहें तो रुक सकते हैं किंतु केसरी ने भी चलने का ही निर्णय किया।

चलते समय अहल्या ने मंगला का हाथ अंजना के हाथ में देते हुए कहा-

‘पुत्री तुझे यह एक भगिनी सौंप रही हूँ। इसका ध्यान रखना, यह हनुमान के प्रभु, राम के यज्ञ में उनकी सहयोगिनी बनेगी।’

अहल्या के इस अचानक निर्णय से मंगला भी विस्मित रह गयी-

‘किंतु माता मुझे स्वयं से विलग क्यों करना चाहती हैं? क्या मुझसे कोई त्रुटि हो गयी?’

‘निर्णय करने वाले हम नहीं होते पुत्री! सारे निर्णय तो वह जो एक विदूषक बैठा है न अनंत आकाश में ... वही लेता है। हमें-तुम्हें तो मात्र उसके निर्णयों का सम्मान करना होता है। तुम्हारे लिए अब उसका निर्णय यही है कि तुम मेरे हनुमान की सहयोगिनी बनो।’

24- रानियों को सूचना

अयोध्या में दशरथ के पुत्रों के विवाह की दूसरी वर्षगाँठ थी। अयोध्या के समस्त छोटे-बड़े उत्सव पूरे वैभव के साथ आयोजित होते थे। यह भी एक छोटा सा ही उत्सव था किंतु अनायास बड़ा हो गया था।

इस आयोजन में दशरथ ने राज-परिवार के सदस्यों, आमात्यों और अन्य महत्वपूर्ण राजकीय कर्मचारियों के अतिरिक्त मात्र नगर के कुछ विशिष्टजनों को ही आमंत्रित किया था। प्रातःकाल से लेकर सम्पूर्ण दिवस भर चलने वाला कार्यक्रम था। सभी आत्मीयजन उपस्थित थे। खूब भीड़-भाड़ थी। राज-परिवार में ही क्या कम लोग थे। राजपरिवार से मात्र दशरथ और उनकी पत्नियों-पुत्रों-पुत्रवधुओं को ही मत गिन लीजिएगा। इक्ष्वाकुवंश की चालीस से अधिक पीढ़ियाँ अयोध्या पर शासन कर चुकी थीं। परम्परानुसार राजा का ज्येष्ठ पुत्र राज्य का उत्तराधिकारी बनता चला आया था, परंतु राजवंश में तो सारे पुत्र और उनके परिवार आते थे, उनके सारे उत्तराधिकारी भी आते थे। उनमें से कुछ ने ही राजप्रासाद को छोड़कर अन्यत्र अपनी व्यवस्था की थी अथवा अन्यत्र कहीं अपना राज्य स्थापित किया था, शेष सभी अभी भी अयोध्या के सम्पूर्ण नगर के समान विशाल राजप्रासाद परिसर में ही निवास करते थे। यद्यपि सामान्य दिनों में इनका दशरथ अथवा कुमारों के साथ कोई विशेष सम्पर्क नहीं होता था किंतु उत्सवों में सारे ही पूरे उत्साह से सम्मिलित होते थे।

राज परिवार के सदस्यों के अतिरिक्त परिवार सहित आमात्यगण, अन्य विशिष्ट अधिकारीगण और विशिष्टजन उपस्थित थे। प्रासाद का विशाल मैदान खचाखच भरा हुआ था। कमी थी तो बस प्रजा की। नित्य के पारिवारिक आयोजनों में आम प्रजा का क्या काम था!

सभाभवन के ठीक पीछे के विशाल आँगन के मध्य में विशाल वेदी में यज्ञ की अग्नि प्रज्वलित थी। गुरुदेव वशिष्ठ और उनके पीछे बैठे हुए अन्य पुरोहितगण मंत्रोच्चार कर रहे थे। चारों कुमार सपत्नीक वेदिका के तीन ओर वर्तुलाकार रूप में बैठे हुए आहुतियाँ समर्पित कर रहे थे। प्रातःकाल से मध्याह्न हो गया, तब पूर्णाहुति तक पहुँच पाये। सभी के शरीर स्वेद-स्नात थे। दासियों के चँवर उस स्वेद को सुखा पाने में असमर्थ थे।

यज्ञ के उपरान्त सारे विशिष्टजन प्रासाद के विशाल उत्सव-कक्ष में आ गए। अन्य जनों को आँगन में ही प्रसाद वितरण होने लगा।

कक्ष में अन्य सभी के लिए अनुचर प्रसाद और भोजन की व्यवस्था कर रहे थे। गुरुदेव और पुरोहितों के लिए तीनों महारानियाँ स्वयं फलाहार लेकर आयीं। यज्ञ में दीक्षित सभी व्यक्तियों और पुरोहितों के लिए अन्न का सेवन वर्जित था।

‘जबसे वधुएँ आ गयी हैं, महारानियों के तो दर्शन ही दुर्लभ हो गए हैं।’ महारानियाँ जब सामग्री गुरुदेव के सम्मुख पीठिका पर सजा रही थीं तो गुरुदेव ने विनोदपूर्ण कटाक्ष किया।

‘गुरुदेव! सास का अधिकार जगत में सबसे बड़ा अधिकार होता है। अब महारानियों ने वही अधिकार प्राप्त कर लिया है।’ महाराज ने विनोद में गुरुदेव का साथ दिया।

‘ऐसी कोई बात नहीं है गुरुदेव!’ कौशल्या ने मुस्कुराते हुए उत्तर दिया- ‘क्या बताएँ, वधुएँ अभी नयी हैं ... अयोध्या की रीति-नीति से अपरिचित हैं। साथ ही अपनों से बिछुड़कर आयी हैं; उन्हें हमारे स्नेह की आवश्यकता है।’

‘तात्पर्य, अब वधुओं के सम्मुख वशिष्ठ का कोई मूल्य नहीं रह गया।’ गुरुदेव ने अट्टहास किया।

‘क्यों लज्जित कर रहे हैं गुरुदेव!’

‘नहीं, लज्जित नहीं कर रहा, मैं तो सत्य को उद्घाटित कर रहा हूँ।’ गुरुदेव ने हँसते हुए ही परिहास जारी रखा।

‘ऐसा करते हैं जीजी!’ कैकेयी ने वार्ता की बागडोर सँभालते हुए कहा- ‘आज साँझ ही हम तीनों आश्रम चलती हैं।’

‘हाँ, गुरुदेव को असंतुष्ट नहीं किया जा सकता।’ मुस्कुराते हुए सुमित्रा ने जोड़ा।

‘स्वागतम् ! स्वागतम् !! महारानियों का गुरुकुल में सदैव स्वागत है। समस्त आश्रमवासी आज सायंकाल आतुरता से प्रतीक्षा करेंगे।’ गुरुदेव ने सहज हास्य से कहा।

‘हम अवश्य उपस्थित होंगी गुरुदेव! किंतु अभी आप इन अकिंचन फलों पर तो कृपा करें।’ कैकेयी के इस सहज कटाक्ष पर सभी हँस पड़े।

‘महाराज! आप भी चलेंगे न?’ कैकेयी ने दशरथ से प्रश्न किया।

‘यदि आपका आदेश होगा तो अवश्य चलेंगे। गुरुदेव का आशीर्वाद तो सदैव काम्य है; अयोध्या को भी, अयोध्या-नरेश को भी।’

‘नहीं महाराज!’ वशिष्ठ दशरथ की बात काटते हुए विनोदपूर्वक बोले- ‘यह आमंत्रण मात्र महारानियों के लिए ही है।’

‘अब तो हमारा चलना संभव ही नहीं है महारानी!’ दशरथ ने भी अभिनयपूर्वक कैकेयी को उत्तर दिया।

तभी एक प्रहरी आकर हाथ जोड़कर खड़ा हो गया और महाराज के उसकी ओर देखने की प्रतीक्षा करने लगा। शीघ्र ही महाराज उसकी ओर आकर्षित हुए- 'क्या है?' उन्होंने प्रश्न किया।

‘महाराज! प्रासाद के बाहर भारी संख्या में प्रजाजन भी कुमारों को बधाई देने हेतु एकत्र हैं और भीतर प्रवेश की अनुमति चाहते हैं।’

दशरथ विचार करने लगे- अनुमति दी जाए अथवा नहीं। तभी गुरुदेव ने हस्तक्षेप किया-

‘जाओ राम को बुला लाओ।’

प्रहरी आज्ञापालन हेतु चला गया तो गुरुदेव बोले-

‘प्रजाजनों को आज अपने राम से मिलने से रोका नहीं जा सकता महाराज।’

दशरथ भी विचार करने के उपरांत इसी निष्कर्ष पर पहुँचे थे।

थोड़ी ही देर में अकेले राम ही नहीं, चारों कुमार आ गए। प्रजाजनों की इच्छा को भला राम कैसे नकार सकते थे। चारों भाई, अपनी पत्नियों सहित प्रासाद के बाहर के मुख्य मैदान में साँझ होने तक प्रजाजनों से भेंट करते रहे, उनकी बधाई और आशीर्वाद ग्रहण करते रहे।

सभी आने वालों के लिए भरपेट ही नहीं घर ले जाने लायक प्रसाद की भी व्यवस्था हो गयी।

* * *

सायंकाल तीनों महारानियाँ समय से गुरुकुल में उपस्थित हुयीं।

मंथरा के अतिरिक्त कोई परिचारिका साथ में नहीं थी।

गुरुदेव अपनी कुटी में ही थे, उन्होंने तत्परता से तीनों का स्वागत किया। गुरुपत्नी अरुंधती भी उपस्थित थीं। प्रणाम और आशीर्वाद की औपचारिकताओं के उपरांत वशिष्ठ ने अरुंधती से निवेदन किया-

‘देवी! महारानियों के लिए कुछ जलपान का प्रबंध तो देखिए !’

जलपान की व्यवस्था हेतु स्वयं अरुंधती के जाने की कोई आवश्यकता नहीं थी। आश्रम में अनेक ऋषि-पत्नियाँ थीं, मर्यादानुकूल यह समस्त व्यवस्था सँभालने के लिए। किंतु अरुंधती सहज भाव से व्यवस्था हेतु चली गयीं। वे अपने पति का संकेत समझ गयी थीं कि वे महारानियों के साथ एकांत चाहते थे और अरुंधती को इसीकी व्यवस्था देखनी थी कि किसी को शंका भी न हो और इस एकांत में कोई व्यवधान भी उपस्थित न हो।

द्वार पर मंथरा बैठी थी। गुरुदेव की एकान्त-वार्ता को सुनिश्चित करने के उद्देश्य से कुटिया से निकलते हुए अरुंधती ने उससे आग्रह किया- ‘मंथरे! क्या मेरे सहयोग हेतु

चलेगी?’

‘अरे देवी! उसे क्यों कष्ट देंगी? इतने सहयोगी हैं तो आश्रम में आपके लिए।’ गुरुदेव ने संकेत दिया कि उसकी यहाँ आवश्यकता पड़ सकती है।

अरुंधती मुस्कुराती हुई चली गयीं।

‘महारानी! अब आपके कर्तव्य-निर्वहन का समय उपस्थित हो गया है।’ अरुंधती के जाते ही गुरुदेव कैकेयी से संबोधित हुए।

‘आदेश करें गुरुदेव, कैसा कर्तव्य?’ कैकेयी के स्वर में विस्मय स्पष्ट झलक रहा था। विस्मय की रेखायें अन्य दोनों रानियों के मुख पर भी प्रकट हो गयी थीं।

‘वही कर्तव्य जिसके निर्वहन का वचन आपने देवर्षि को दिया था।’

कैकेयी के चेहरे पर एक पल के लिए न समझने वाले भाव आए। इधर उल्लासपूर्ण वातावरण में वे उस अप्रिय दायित्व का बोध लगभग बिसार ही चुकी थीं। अन्य रानियाँ भी कुछ चकित थीं किंतु मंथरा के चेहरे पर उत्साह की स्मित नृत्य कर उठी।

गुरुदेव मुस्कुराते हुए कैकेयी के मुख पर अपनी दृष्टि जमाए रहे। उनकी मौन मुस्कुराहट ने ही कैकेयी से सब कुछ कह दिया। उन्हें सब स्मरण हो आया।

‘किंतु गुरुदेव इस समय? अभी दिन ही कितने हुए हैं उनके विवाह को ... इस समय ...?’

‘यही उचित समय है महारानी!’ गुरुदेव पूर्ववत् मुस्कुराते हुए बोले।

‘किंतु गुरुदेव ...’ सुमित्रा ने हस्तक्षेप किया- ‘देवर्षि ने हमसे सम्पर्क क्यों नहीं किया? कितने प्रश्न करने हैं हमें उनसे।’

‘संभवतः इसीलिए नहीं किया होगा।’ गुरुदेव हँस पड़े- ‘आप तीनों के एक साथ प्रश्न-शरों का सामना कर पाना भला किसके लिए संभव है।’

‘तो क्या हम मात्र बलिदान देने के लिए ही हैं, हमें विश्वास में लेने की कोई आवश्यकता नहीं? राम के बह्वर्षि के साथ जाने के समय भी उन्होंने हमें सूचना तक देना आवश्यक नहीं समझा था।’ सुमित्रा का रोष स्पष्ट था।

‘देवर्षि ऐसे ही हैं!’ वशिष्ठ मुस्कुराये।

‘छोड़ सुमित्रे!’ कौशल्या ने उसे शान्त करने का प्रयास किया।

‘क्या छोड़ूँ जीजी, अभी भी देवर्षि ने हमसे सीधे सम्पर्क करने के स्थान पर गुरुदेव से सम्पर्क किया है। हमारे जो प्रश्न हैं ...’

‘अरे तो क्या आपके गुरुदेव इस योग्य नहीं हैं कि देवर्षि उनसे सम्पर्क कर सकें?’ गुरुदेव ने कुछ इस प्रकार कहा कि तीनों रानियाँ बरबस मुस्कुरा उठीं- ‘आपको क्या तनिक भी आभास नहीं हो रहा कि मैंने आपको एकान्त में क्यों बुलाया है?’ गुरुदेव आगे बोले।

‘राम को रावण-अभियान हेतु भेजने के संदर्भ में।’ कैकेयी ने उत्तर दिया।

‘निश्चित रूप से। ... और हाँ, आपको बता दूँ कि देवर्षि ने मुझसे सम्पर्क नहीं किया, मैंने ही उनसे सम्पर्क स्थापित किया था। यहाँ जो स्थितियाँ बन रही थीं, उनमें मुझे आवश्यक प्रतीत हुआ था।’

‘कैसी स्थितियाँ गुरुदेव? अयोध्या में तो सब सामान्य ही चल रहा है।’ तीनों रानियों के मुख से एकसाथ निकला। तीनों की टकटकी गुरुदेव के मुख पर लगी थी।

‘वस्तुतः कुछ दिन पूर्व महाराज ने मुझसे सम्पर्क किया था।’ गुरुदेव ने बारी-बारी तीनों रानियों की ओर दृष्टिपात करते हुए कहा- ‘राम के राज्याभिषेक के संबंध में परामर्श करने के लिए।’

‘अरे! यह तो अत्यंत शुभ है।’ तीनों ही रानियों के मुख उल्लसित हो उठे।

‘तो क्या परामर्श दिया आपने महाराज को?’ कैकेयी ने प्रश्न किया।

‘वही जो मुझे देना चाहिए था। ... मैंने उन्हें शुभस्य शीघ्रम् का ही परामर्श दिया। यह जानते हुए भी कि आपके विवाह के समय हुआ अनुबन्ध इसकी अनुमति नहीं देता।’ गुरुदेव ने सस्मित कैकेयी की ओर देखा।

‘ओह गुरुदेव! उस अनुबन्ध को कचरे में डालिये। वह तो एक व्यर्थ की औपचारिकता थी जो पिताजी ने निभाई थी। संभवतः वे जीजी के स्वभाव से परिचित नहीं थे।’ कहती हुई कैकेयी प्रसन्नता से कौशल्या से लिपट गयी।

‘किंतु महारानी ...?’

‘कोई किन्तु-परन्तु नहीं गुरुदेव ! राम के राज्याभिषेक में किसी किन्तु-परन्तु के लिए स्थान नहीं है।’ कैकेयी ने गुरुदेव की बात पूरी नहीं होने दी।

‘है महारानी!’ गुरुदेव वैसे ही सस्मित बोले- ‘है, और यह किन्तु आपको ही उपस्थित करना है।’

‘कैसी अशुभ बात कर रहे हैं गुरुदेव?’ कैकेयी चिहुँक कर कौशल्या से अलग हुई।

‘यही तो आपने देवर्षि को वचन दिया था।’

‘राम को रक्षों के विरुद्ध अभियान पर भेजने का वचन दिया था, उसे उसके अधिकार से च्युत करने का नहीं ...’

‘एक ही बात है महारानी!’

‘एक ही बात कैसे है गुरुदेव? कैकेयी अपने राम के साथ ऐसा अन्याय कदापि नहीं कर सकती।’

‘आपको करना ही पड़ेगा महारानी, अन्यथा आप समग्र आर्य संस्कृति और स्पष्ट कहें तो समग्र मानवता के प्रति अपराध करेंगी।’

‘मानवता की रक्षा राम जैसे सर्वजन हिताय का आचरण करने वाले के प्रति ऐसा घोर अन्याय करने को बाध्य नहीं कर सकती।’

‘महारानी, अपने आवेश को नियंत्रित कीजिए। अपनी इस क्षणिक भावुकता से बाहर आइये। राम के लिए वनवास माँग कर आप उसके साथ अन्याय नहीं, न्याय ही करेंगी।’

‘कैसी विरोधाभासी बातें कह रहे हैं आप गुरुदेव! राम को राज्याभिषेक के स्थान पर दुर्गम वनों में निष्कासित कर मैं उसके साथ न्याय करूँगी?’ अनचाहे ही कैकेयी के स्वर में उपहास उभर आया।

‘यही सत्य है!’ गुरुदेव ने संक्षिप्त उत्तर दिया।

‘किस भाँति?’ कैकेयी ने पुनः प्रश्न किया।

‘राम का जन्म जिस कार्य हेतु हुआ है, उसके लिए उसे वन जाना ही पड़ेगा। उसे वनवास देकर आप उसके जन्म का उद्देश्य पूरा करेंगी।’

‘गुरुदेव! कैकेयी की बात को कृपया अन्यथा मत लीजिएगा, किंतु आपका मंतव्य अभी भी अस्पष्ट है। राम का राज्याभिषेक उसे उसके जन्म का उद्देश्य प्राप्त करने में भला किस प्रकार रोक सकता है?’

‘महारानी! राज्याभिषेक के उपरांत राम भी मात्र अपने पिता के समान एक सम्राट् भर होकर रह जाएगा। आर्यावर्त के सहस्रों-लक्षों सम्राटों में से मात्र एक। किंतु रक्षों के विरुद्ध अभियान के उपरांत वह मानवता का रक्षक बनेगा।’

‘उस अभियान पर तो राम राज्याभिषेक के उपरांत भी जा सकता है!’

गुरुदेव जोर से हँस पड़े। गुरुदेव की हँसी से कैकेयी ने कुछ अपमानित सा अनुभव किया, किंतु उसने अपने चेहरे पर उसके लक्षण नहीं प्रकट होने दिए। स्वर को सहज रखते हुए प्रश्न किया-

‘इसमें हँसने की क्या बात है गुरुदेव?’

‘आप भूल गयीं कि यह एक गुप्त अभियान होगा। किसी को ज्ञात नहीं होना चाहिए कि राम का उद्देश्य क्या है।’

‘तो?’

‘तो को छोड़िये और पहले व्यवस्थित रूप से मेरी पूरी बात सुनिये।’

कोई कुछ नहीं बोला।

‘महाराज ने जब अपने मन की बात मुझे बतायी, महामात्य भी उनके साथ थे, उनकी भी सहमति थी महाराज के साथ ... तो मैंने उन्हें वही परामर्श दिया जो देना चाहिये था। राम इसके सर्वथा योग्य है। आप सही कह रही हैं कि उस अनुबन्ध का कोई मूल्य नहीं है। होता, किन्तु तभी जब आप और भरत उसे महत्व देते। सभी

जानते हैं कि आप राम को अपने पुत्र से भी अधिक स्नेह करती हैं। भरत, भरत ही क्यों शेष तीनों कुमार भी राम से अभिन्न हैं। भरत, राम के होते किसी भी परिस्थिति में अपना राज्याभिषेक स्वीकार नहीं करेगा।’

‘यही करणीय है गुरुदेव!’ कैकेयी ने शान्ति से कहा।

‘नहीं महारानी! यह करणीय नहीं है। राम को तो एकाकी, एक सन्यासी के वेश में वनगमन करना ही है। उसे एक सुदीर्घ अभियान पर जाना ही है ...। अयोध्या का सिंहासन अभियान से वापसी तक उसकी प्रतीक्षा करेगा, मुझे भरत पर पूर्ण विश्वास है।’

‘परन्तु ...’ कैकेयी ने कुछ कहने का प्रयास किया।

‘नहीं महारानी मुझे अपनी बात पूरी करने दीजिए।’ वशिष्ठ ने कैकेयी को रोकते हुए **आगे** कहा-

‘महाराज के जाते ही मैंने समाधि द्वारा देवर्षि से सम्पर्क स्थापित किया और उन्हें परिस्थिति से अवगत कराते हुए हस्तक्षेप करने को कहा।

‘मेरी इच्छा के विरुद्ध देवर्षि ने यह अप्रिय दायित्व मुझे ही सौंप दिया। बोले कि उनकी सक्रिय सहभागिता का काल पूर्ण हो गया है। हाँ, उन्होंने मुझे मार्ग अवश्य सुझा दिया ... और वह मार्ग आपसे बलिदान माँगता है। संभवतः देवर्षि ने आपको पूर्व में भी ऐसा संकेत दिया है, वे बता रहे थे।’

‘हाँ, दिया तो था ...’ कैकेयी सदमे की स्थिति में बोली।

‘मार्ग क्या है गुरुदेव?’ यह प्रश्न द्वार पर खड़ी मंथरा की ओर से आया था।

‘महारानी को इसके लिये परिस्थितियाँ उत्पन्न करनी होंगी। इन्हें महाराज को विवश करना होगा। इन्हें उनसे भरत के लिए अयोध्या का राज्य और राम के लिये 14 वर्ष का वनवास ... दण्डकारण्य के दुर्गम वनों में; माँगना होगा।’

‘किन्तु गुरुदेव ...’ कैकेयी का स्वर रुआँसा हो उठा। उसकी आँखें गीली हो उठीं- ‘कैसे हो पाऊँगी मैं अपने राम के प्रति इतनी कठोर। कैसे माँगूँगी मैं उसके लिए वनवास।’

‘यह तो आपको करना ही होगा महारानी। आप देवर्षि से वचनबद्ध हैं।’

‘एक प्रश्न है गुरुदेव! यदि रुष्ट न हों तो पूछूँ?’

गुरुदेव मुस्कुराये- ‘अवश्य पूछिए महारानी! अभय है आपको।’

‘इस अप्रिय दायित्व का निर्वहन आप स्वयं ही क्यों नहीं करते?’

गुरुदेव कुछ पल मंद-मंद मुस्कुराते हुए, मौन कैकेयी को निहारते रहे। फिर बोले-

‘महारानी, आपने क्या ब्रह्मर्षि को निरा बालक ही समझ रखा है?’

‘यह कटाक्ष असंगत नहीं है गुरुदेव? ... आप मुझे अभय दे चुके हैं।’

‘मैं कटाक्ष नहीं कर रहा। यदि नारद के पास कोई अन्य विकल्प रहा होता तो वे आपका चयन कदापि नहीं करते। आपके अतिरिक्त अन्य कोई विकल्प है ही नहीं, मैं भी नहीं!’

‘क्यों नहीं गुरुदेव?’ कैकेयी ने हठ किया- ‘कैकेयी का अनुरोध तो महाराज ठुकरा भी सकते हैं किंतु आपके आदेश का असम्मान करने का उनका साहस नहीं होगा।’

‘आपके पास ऐसा एक अस्त्र है जो महाराज को विवश कर देगा, किंतु उसकी चर्चा बाद में। पहले अपने विषय में कारण स्पष्ट कर दूँ आपको, अन्यथा आपको यही प्रतीत होता रहेगा कि वशिष्ठ पलायनवादी निकला।’ गुरुदेव की स्मित अब भी उनके अधरों पर नृत्य कर रही थी।

‘मेरा तात्पर्य यह कदापि नहीं था गुरुदेव, मैं तो मात्र एक विकल्प ...’

‘मान ली आपकी बात ...’ गुरुदेव कैकेयी की बात बीच में ही काटते हुए बोले, किंतु फिर भी मुझे अपनी स्थिति स्पष्ट करनी ही होगी।’

सब उनकी ओर टकटकी लगाए देखते रहे।

‘कई स्पष्ट कारण हैं, जिनके चलते मैं महाराज के सम्मुख ऐसा कोई प्रस्ताव नहीं रख सकता। सर्वप्रथम तो यही कि मेरे पास कोई कारण ही नहीं है राम के लिए वनवास माँगने का। क्या उत्तर दूँगा मैं जब महाराज पूछेंगे कि राम तो आपका सर्वप्रिय शिष्य है, तब आप अकस्मात् उससे इतने असंतुष्ट क्यों हो गए जो उसके लिए इतनी दीर्घ अवधि के वनवास की कामना कर रहे हैं?’

‘कारण तो मेरे पास भी नहीं है गुरुदेव, सभी जानते हैं कि मुझे भी राम सर्वाधिक प्रिय है! मैं क्या उत्तर दूँगी महाराज को?’

‘आपके पास कारण है महारानी, परन्तु इस विषय पर चर्चा प्रस्तुत विषय के उपरांत करेंगे।’ गुरुदेव ने हाथ के संकेत से कैकेयी के हस्तक्षेप को बाधित करते हुए कहा- ‘स्पष्ट है कि मेरे पास अपनी माँग के समर्थन में कोई तर्क नहीं होगा। मुझे कोई न कोई अनर्गल कारण उपस्थित करना होगा जिसे महाराज ही नहीं, कोई भी व्यक्ति स्वीकार नहीं करेगा। राम के चरित्र में कोई दोष है ही नहीं। तब? ... तब बहुत संभावना है कि महाराज को न चाहते हुए भी सत्य की प्रतिष्ठा के लिए गुरु के आग्रह की अवहेलना करनी पड़े। उनका पुत्र-मोह भी उन्हें इसके लिए ही प्रेरित करेगा। यह सब अकारण महाराज और राजगुरु के मध्य सन्देह और विवाद को जन्म देगा।’

‘स्वीकार भी तो कर सकते हैं वे आपका आग्रह!’

‘हाँ, स्वीकार भी कर सकते हैं। किंतु महाराज और राजगुरु के मध्य अविश्वास तो उत्पन्न हो ही जाएगा। महाराज यदि अस्वीकार कर दें तब भी एक संभावना है कि स्वयं राम ही गुरु के आदेश को प्राथमिकता देते हुए वनवास हेतु स्वेच्छा से प्रस्तुत हो

जाए और इसके लिए वह पिता के आदेश की भी अवहेलना कर दे। किंतु कुछ भी हो, यह स्थिति हम दोनों के मध्य अविश्वास ही नहीं अनकही शत्रुता को जन्म तो दे ही देगी। क्या वह स्थिति अयोध्या के लिए हितकर होगी?’

तीनों रानियाँ मौन सुन रही थीं। किसी ने भी गुरुदेव के प्रश्न का उत्तर नहीं दिया तो गुरुदेव आगे बोले-

‘मान लिया राम वन के लिए प्रस्थान कर जाता है। आपको क्या प्रतीत होता है कि यह विश्व के लिए कोई साधारण समाचार होगा? ... यह बहुत बड़ा समाचार होगा, त्रिलोक में इसकी चर्चा होगी। कोई इस पर विश्वास नहीं करेगा। वशिष्ठ का चरित्र त्रिलोक में किसी से गोपन नहीं है। वशिष्ठ से ऐसे अविवेकी आचरण की अपेक्षा किसी को नहीं होगी। परिणाम क्या होगा- समस्त विश्व वशिष्ठ के इस अनपेक्षित आचरण की समीक्षा में जुट जायेगा ... उसके पीछे के रहस्य के उद्घाटन के प्रयास में जुट जाएगा। अनेक मत-मतान्तर सामने आयेंगे और अंततः यह रहस्य उद्घाटित हो ही जाएगा कि यह देवों की दुरभिसंधि है, रावण को पदाक्रान्त करने की रणनीति है, ...’

‘**विं**तु गुरुदेव, विश्व को यह कैसे ज्ञात होगा कि राम के वनगमन के पीछे आप हैं अथवा कैकेयी?’

हठात् वशिष्ठ खिलखिलाकर हँस पड़े। बोले-

‘महारानी, हताशा में आप भी कैसे बचकाने प्रश्न कर रही हैं। राम के चौदह वर्ष के लिए वनगमन के प्रस्ताव से ही महाराज को कितना बड़ा आघात पहुँचेगा क्या आप अनुमान नहीं कर पा रहीं? वे स्वयं चीख-चीखकर सम्पूर्ण जगत को यह बता देंगे। अयोध्या की प्रजा वशिष्ठ को कोस-कोसकर सब कुछ उजागर कर देगी।’

‘आप अपने अपयश से भयभीत तो नहीं हो रहे गुरुदेव?’ अचानक कैकेयी के मुख से निकल गया और निकलने के साथ ही उसने कसकर अपना मुँह भींच लिया, उसे स्वयं आभास हो गया था कि वह क्या कह गयी है। तीनों रानियाँ भयाक्रांत हो गयीं कि गुरुदेव इस प्रश्न से कुपित न हो जायें किंतु गुरुदेव यह सुनकर ठठाकर हँस पड़े। हँसी रुकने पर वे बोले-

‘क्या आपको स्वयं ही अपने कथन पर विश्वास है महारानी?’ वे मुस्कुराये और आगे जोड़ा- ‘क्या सच में आपको ज्ञात नहीं कि वशिष्ठ को जगत ब्रह्मर्षि की संज्ञा से सम्बोधित करता है? क्या आपको यह भी ज्ञात नहीं कि ब्रह्मर्षि के रूप में किसी भी ऋषि को प्रतिष्ठा देने से पूर्व पितामह कितनी परीक्षा लेकर यह सुस्थिर कर लेते हैं कि उक्त ऋषि इस नश्वर जीवन के विकारों- काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर, महत्वाकांक्षा, यश-अपयश आदि से ऊपर उठ चुका है?’

‘क्षमा करें गुरुदेव, हताशा में वाणी पर संयम नहीं रहा।’

‘क्षमाप्रार्थी होने जैसी कोई बात नहीं है महारानी!’ गुरुदेव वैसे ही हँसते हुए बोले- ‘होता है ... गहन हताशा की अवस्था में ऐसा ही होता है। फिर भी मेरा प्रकरण तो अब सबको विस्मरण हो चुका होगा किंतु ब्रह्मर्षि विश्वामित्र का प्रकरण तो अभी सबको स्मरण है। पितामह ने कितनी परीक्षा ली थी उनकी। कितनी बार उन्हें कठोर तप करना पड़ा था ... और हर बार किसी छोटी सी चूक के कारण सारा तप व्यर्थ हो जाता था ...’

‘गुरुदेव हृदयतल से क्षमाप्रार्थी हूँ मैं ... इस प्रकरण को यहीं विराम दे दें, भविष्य में पुनः ऐसी चूक नहीं होगी।’

‘चलिये विराम दिया। पुनः विषय पर आते हैं।’ गुरुदेव हँसते हुए बोले ‘यह चर्चा रावण तक भी पहुँचेगी। मेरा विश्वास है कि अविलम्ब पहुँचेगी, रावण के पास इतने संसाधन हैं। किंतु यदि विलम्ब से भी पहुँचे तो भी क्या अन्तर पड़ता है, इस विषय में वशिष्ठ की संलिप्तता संज्ञान में आते ही वह भी इसी निर्णय पर पहुँचेगा कि इस सबकी पृष्ठभूमि में हो न हो, देवगण ही हैं। उसे भलीभाँति ज्ञात है कि अपनी पराजय से देवराज कितना आहत हैं और कैसे भी छल-बल से उसे निर्मूल करना चाहते हैं। आपको अनुमान है कि तब दशानन क्या करेगा?’

‘वह अविलम्ब राम पर आक्रमण कर देगा।’ सुमित्रा ने आशंका व्यक्त की।

‘नहीं, मुझे नहीं प्रतीत होता कि वह राम पर अविचारित आक्रमण करेगा।’ गुरुदेव कुछ सोचते हुए बोले- ‘किंतु वह राम पर और दण्डकारण्य में ऋषियों और देवों द्वारा संचालित गुरुकुलों की गतिविधियों पर निरंतर दृष्टि रखे जाने का प्रबन्ध अवश्य करवा देगा। वह राम का उनसे सम्पर्क कर पाना असंभव बना देगा।’

‘नहीं गुरुदेव! उस जैसा दुष्ट तो राम की मृत्यु की ही कामना करेगा।’ सुमित्रा ही पुनः बोली। यद्यपि सहमति में तीनों ही रानियों के सिर हिले।

‘कर भी सकता है। किंतु मेरा विश्लेषण यही कहता है कि रावण, राम से सीधे संघर्ष का चयन अंतिम विकल्प के रूप में ही करेगा।’ गुरुदेव रानियों को रावण और सीता के सम्बन्ध में नहीं बता सकते थे।

गुरुदेव ने जिस भयावह स्थिति का चित्रण किया था उससे तीनों ही रानियाँ दहल गयी थीं। वे विचारमग्न थीं, तभी गुरुदेव आगे बोले-

‘यह स्थिति इतने दिनों के समस्त प्रयासों को अर्थहीन कर देगी। ... इसके विपरीत यदि आप महाराज से राम का वनवास माँगती हैं तो आपके पास शक्तिशाली तर्क होंगे।’

‘क्या तात्पर्य है आपका?’ कैकेयी ने प्रश्न किया।

‘महाराज राम के राज्याभिषेक की समस्त योजना, आपसे, स्वयं भरत से और युधाजित से गोपनीय रखने का प्रयास कर रहे हैं। वे संभवतः इसकी घोषणा तब करेंगे जब भरत युधाजित के साथ केकय गया हुआ होगा ... और संभवतः घोषणा के उपरांत अविलम्ब अभिषेक भी सम्पन्न करने का प्रयास करेंगे ताकि आपको भी यह शुभ-सूचना भरत और युधाजित तक प्रेषित करने का समय न प्राप्त हो सके।’

इस रहस्योद्घाटन ने कैकेयी को तोड़ ही दिया। उसकी आँखें डबडबा आयीं। कौशल्या और सुमित्रा भी एकाएक इस पर विश्वास नहीं कर सकीं।

‘गुरुदेव! यदि महाराज ऐसा करते हैं तब तो उनका कृत्य सर्वथा अनुचित ही कहा जाएगा!’ कौशल्या ने हठात् टिप्पणी की।

‘निस्संदेह माना जाएगा। किंतु आप देख लीजिएगा, वे यही करेंगे। ... और उनका यही कृत्य तो महारानी कैकेयी को कारण देगा उनसे अपने वर माँगने का। भरत के और अपने प्रति हो रहे अन्याय का प्रतिकार करने का।’

‘गुरुदेव! सत्य कहूँ तो मुझे आज तक महाराज ने कभी असन्तोष का कोई अवसर प्रदान नहीं किया। पुत्र-प्राप्ति में विलम्ब हुआ किन्तु उस पर उनका कोई वश नहीं था। यदि जैसा आप बता रहे हैं, महाराज वैसा ही करते हैं तो यह प्रथम अवसर होगा जब महाराज मेरे प्रति अन्याय करेंगे। क्या महाराज की इस एकमात्र भूल का इतना विकट प्रतिशोध उचित कहा जाएगा?’ कैकेयी भरे गले से बोली।

‘यह प्रतिशोध का नाट्य तो विश्व को छलने के लिए ... प्रकारान्तर से रावण को छलने के लिए होगा। आप उसे भ्रम में डाल कर राम को अपना कर्तव्य निर्वहन करने का अवसर प्रदान करेंगी। जिस महत् कार्य हेतु उसने जन्म लिया है, उसे उसके लिए प्रेरित करेंगी। वस्तुतः तो आप उसके जन्म को सार्थकता प्रदान करेंगी।’

‘किंतु गुरुदेव ...’

‘कोई किन्तु नहीं महारानी, और कोई उपाय नहीं है। यही तो वह बलिदान है जिसका आपने नारद को वचन दिया था।’

‘चलिए ... मैं करूँगी ऐसा। ... किन्तु महाराज मेरा अनुरोध क्यों स्वीकार करेंगे?’ कैकेयी का स्वर ऐसा लग रहा था मानो किसी अंधकूप से आ रहा हो।

‘करेंगे ... उन्हें करना पड़ेगा। वे भी तो वचनबद्ध हैं।’

‘कैसे ...’ कैकेयी सच ही नहीं समझी थी।

‘याद कीजिए शम्बर युद्ध को। उन्होंने आपको दो वरदान देने को कहा था। वे आज भी आपकी धरोहर के रूप में उनके पास सुरक्षित हैं। यही उचित समय है उनसे अपनी वह धरोहर माँगने का।’

‘ओह! किन्तु मैंने तो उन्हें कभी गम्भीरता से लिया ही नहीं।’

‘मुझे ज्ञात है कि आपने कभी उन्हें गम्भीरता से नहीं लिया। किन्तु अब लेना पड़ेगा। वे दोनों वर ही तो आपके अस्त्र हैं जो महाराज को विवश करेंगे। जो राम के चरमोत्कर्ष का मार्ग प्रशस्त करेंगे। प्रजा की उनके ईश्वरत्व में जो आस्था है, उस आस्था को विश्वसनीयता प्रदान करेंगे।’

‘किन्तु मैं किस मुँह से माँगूंगी उनसे राम के लिए वनवास। वे जब प्रश्न करेंगे कि क्या मेरा राम का प्रति स्नेह दिखावा था ... तो मैं क्या उत्तर दूँगी उन्हें? मैं क्या उत्तर दूँगी स्वयं अपने आप को?’

‘स्वयं को कोई उत्तर देने की आवश्यकता ही नहीं है आपको। अपने मन पर कोई बोझ रखने की आवश्यकता ही नहीं है आपको। आप यह कार्य समग्र मानवता के हित के लिए करेंगी। आप मानवता की रक्षा के लिए, आर्य संस्कृति की रक्षा के लिए अपनी ममता का बलिदान करेंगी, अपनी धवल-कीर्ति का बलिदान करेंगी।’

‘और महाराज को ...’

‘उसके लिए तो महाराज स्वयं ही कारण उपस्थित कर रहे हैं!’

‘गुरुदेव पुनः क्षमाप्रार्थी हूँ किन्तु मुझे अभी भी विश्वास नहीं होता कि महाराज हमसे छल करने का प्रयास करेंगे। मेरी राम के प्रति ममता के प्रति, भरत की राम के प्रति निष्ठा के प्रति इस प्रकार अविश्वास करेंगे!’

‘आपको भले ही विश्वास न आए किन्तु सत्य यही है महारानी! महाराज आशंकित हैं आपसे और भरत से। उससे भी अधिक आशंकित हैं वे युधाजित से। उनका पूरा प्रयास है कि युधाजित तक राम के राज्याभिषेक की सूचना न पहुँच सके। उनका विश्वास है कि अभिषेक हो जाने के उपरांत युधाजित कुछ भी नहीं कर सकेंगे किन्तु उसके पूर्व विकट प्रतिरोध उपस्थित कर सकते हैं।’

कैकेयी का चेहरा आँसुओं से तर हो गया था। कौशल्या के गालों पर भी कई बूँदें लुढ़क आई थीं। सुमित्रा अवश्य संयमित थी किन्तु आँखें उसकी भी गीली थीं। मंथरा की छाती तेजी से उठ-गिर रही थी, उसके मुख की दीप्ति कई गुना बढ़ गयी थी।

‘यही पुरस्कार मिलेगा कैकेयी को उसकी निष्ठा का?’ कैकेयी रूँधे गले से बुदबुदा रही थी- ‘महाराज को आज तक उसके प्रेम पर विश्वास नहीं हो सका, उसकी राम के प्रति ममता पर विश्वास नहीं हो सका!’ कहते-कहते वह सुबकने लगी।

‘महारानी, निष्ठा लाभ-हानि की मुखापेक्षी नहीं होती। कर्तव्य लाभ-हानि का आकलन कर निर्धारित नहीं किया जाता। कर्तव्य महत्वपूर्ण तो तभी होता है जब निश्चित हानि की आशंका के बाद भी व्यक्ति निष्ठापूर्वक कर्तव्य का निर्वहन करता रहे। इस समय मानवता आपसे यही अपेक्षा कर रही है।’

‘महाराज ने यह कैसे सोच लिया कि कैकेयी अथवा भरत अथवा भरत के मातुल, कोई भी राम के राज्याभिषेक का विरोध कर सकते हैं?’ ... कैकेयी ने अपना हाथ अपने माथे पर पटका और हृदय को विदीर्ण कर देने वाले स्वर में फिर अपनी बात दोहराई- ‘कैसे सोचा उन्होंने!!’

‘महारानी, यह क्यों नहीं सोचतीं कि यदि महाराज ने ऐसा नहीं सोचा होता, उन्होंने राम के राज्याभिषेक को आप सब से गोपन रखने का निर्णय न किया होता तो आप अपने कर्तव्य का निर्वहन कदापि नहीं कर पातीं। भरत के होते आप राम के लिये वनवास माँग ही नहीं पातीं, सर्वप्रथम भरत ही विद्रोह कर देता। भरत मर्यादित है किंतु राम के विपरीत, मर्यादा उसके पाँवों की अर्गला नहीं है। सत्य की रक्षा के लिए मर्यादाओं से भी टकराने का साहस है उसमें। भरत ही नहीं, तीनों कुमारों में से कोई भी राम के स्थान पर स्वयं अयोध्या का राज्य लेने को तत्पर नहीं हो सकता। राम के लिए उसके तीनों भाई किसी से भी भिड़ जाने का साहस रखते हैं ... फिर वे चाहे उनके गुरुजन ही क्यों न हों!’

‘फिर भी गुरुदेव हृदय तो फटता ही है इससे ...’ कैकेयी सिसकती हुई बोली।

‘निश्चित ही फटता है किंतु यही तो नियति का खेल है। क्या पूर्व में कभी दशरथ ने आपके प्रति अविश्वास दर्शाया है?’

‘मैंने पूर्व में ही कहा- कभी नहीं! अपितु उन्होंने सदैव ही संभवतः सर्वाधिक विश्वास कैकेयी पर ही किया है।’

कौशल्या और सुमित्रा ने भी मौन सहमति में अपने सिर हिलाये।

‘तब? तब अकस्मात् यह अविश्वास ... यह दशरथ के मस्तिष्क की उपज नहीं है, यह तो नियति ने बलात् उनके मस्तिष्क में रोपा है ... ताकि आप अपने कर्तव्य का निर्वहन कर सकें। ... यह प्रकारान्तर से नियति का आपके लिए संदेश है कि आपको यह त्रासद दायित्व निर्वहन करना ही है।’

कैकेयी बस सिसकती रही। गुरुदेव आगे बोले-

‘महारानी, उस सर्वशक्तिमान का क्रीड़ा-विलास इसी भाँति होता है। वह हमारी परीक्षा लेने के लिए हमारे सम्मुख ऐसे ही धर्मसंकट उपस्थित करता है। इस परीक्षा में उत्तीर्ण होने के लिए ऐसे धर्मसंकटों में भी धर्म पर अडिग रहना पड़ता है। इसके लिए चाहे कितना भी दुःख क्यों न सहन करना पड़े, चाहे कितना भी बड़ा बलिदान क्यों न देना पड़े। जो इन कठिन परीक्षाओं में भी अपने कर्तव्यों पर दृढ़ रहता है, वही उस सर्वशक्तिमान को प्रिय होता है।’

‘करेगी गुरुदेव, करेगी। कैकेयी अपने कर्तव्य का निर्वहन अवश्य करेगी। भले ही इसके लिए उसे युगों तक यातना सहन करनी पड़े। भले ही उसके इस कृत्य के लिए

युगों तक मानव-जाति उससे घृणा करती रहे। कैकेयी आर्य-संस्कृति के उद्धार के लिए अपना सर्वस्व दाँव पर लगा देगी।’

कैकेयी बुदबुदाती रही। कौशल्या ने उसे खींचकर छाती से चिपटा लिया और सान्त्वना देने का प्रयास करने लगी। सुमित्रा भी सुबक उठी। गुरुदेव शांत-निश्चल बैठे रहे।

‘जीजी! कैसी हतभागिनी है आपकी यह भगिनी। उसे अपने प्राणों से प्यारे राम के लिए कठोर अरण्यवास की कामना करनी पड़ेगी।’ कहती हुई कैकेयी बिलख उठी- ‘एकाकी दुर्दम्य राक्षसों से युद्ध करने भेजना पड़ेगा। कैसे हो पाएगी वह इतनी कठोर ... कैसे निकलेंगे उसके मुख से ऐसे वचन जिन्हें सोचने से भी उसे घृणा है।’

कुछ काल तक वशिष्ठ देखते रहे। फिर बोले-

‘रो लीजिए महारानी। इसी समय अपना समस्त अश्रु-कोष रिक्त कर डालिए। ये अश्रु अब के उपरांत कभी भी, किसी के सम्मुख भी प्रकट नहीं होने पायें। आज के उपरांत दीर्घकाल तक आपके आनन पर ममता और करुणा नहीं; दंभ, हठ और कुटिलता के भावों को ही स्थान पाना है। आपको अपना हृदय शिलावत् करना पड़ेगा अन्यथा आपके तनिक सा शिथिल होते ही महाराज आपको अपने प्रभाव में ले लेंगे और सारा किया-धरा मिट्टी में मिल जाएगा। दशरथ राम को वन नहीं जाने देंगे। ... समझ रही हैं न आप?’

कैकेयी ने रोते-रोते ही सिर हिला दिया।

‘और छोटी रानी ...!’

गुरुदेव को अपनी ओर आकृष्ट देखकर सुमित्रा ने सिर उठाया।

‘आपको भी बड़ा दायित्व निभाना है।’

‘आदेश कीजिए गुरुदेव!’

‘आपको लक्ष्मण को प्रेरित करना है कि वह भी राम के साथ जाए।’

‘उस विषय में आप चिन्ता न करें गुरुदेव...’ इस स्थिति में भी सुमित्रा के अधरों पर स्मित खेल गयी- ‘राम जहाँ भी जाएगा, लक्ष्मण छाया की भाँति उसके साथ जाएगा। उसे कोई रोक ही नहीं सकता।’

‘अच्छा गुरुदेव, एक शंका का समाधान और कीजिए।’ अचानक कैकेयी ने प्रश्न किया।

‘पूछिये महारानी?’

‘आपने राम के लिए चौदह वर्ष का वनवास माँगने का निर्देश दिया। ... यह अवधि चौदह वर्ष की ही क्यों ...?’

‘महारानी, राम को वन में सारी परिस्थितियाँ भी तो समझनी होंगी। सम्पूर्ण दक्षिणापथ में रक्ष-संस्कृति का वर्चस्व है। आर्यों के लिए तो हमारे मनीषियों ने विन्ध्य पार जाना वर्जित ही कर रखा है। आर्यावर्त-ब्रह्मावर्त के आर्यों में मात्र अगस्त्य ही तो गए हैं अभी तक उस पार ... अथवा अभी परशुराम गए हैं। ... अथवा जिन्हें हमने दंड स्वरूप आर्य संस्कृति से निष्कासित कर निर्वासित कर दिया है, वे गए हैं। उन्हें निर्वासित ही इसलिए किया गया क्योंकि उनका आचरण समाज के लिए घातक था। दक्षिणापथ में कुछ स्थानों पर रक्ष प्रभावी हैं तो अधिकांश स्थानों पर वनवासी जातियों की अपनी पृथक संस्कृति है। वे हमारे देवों को मानते हैं किन्तु उनसे प्रभावित नहीं हैं। उन सबको अपने रंग में रँगने का कार्य भी तो करना होगा राम को। उन्हीं सबको संगठित कर अपना सैन्य भी तो गठित करना होगा, और वह भी इस प्रकार कि रावण को किसी कूट योजना का तनिक भी आभास न होने पाए।

‘आपको बता दूँ कि राम वहाँ सर्वथा एकाकी नहीं होंगे। वनवासियों को प्रशिक्षित करने का कार्य तो देव अपने गुरुकुलों के माध्यम से कर ही रहे हैं। ... और वे उनकी प्रगति से पूर्णतः संतुष्ट भी हैं। एक सूचना और दे दूँ आपको, षष्ठ विष्णु के रूप में प्रतिष्ठित परशुराम भी अब तो देवों के साथ इस अभियान में सम्मिलित हो चुके हैं। हैहय वंश का नाश कर, राम के मार्ग की एक बड़ी बाधा तो वे पहले ही दूर कर चुके हैं। राम जब रावण के साथ युद्ध ठानेगा तो उसके पास रक्ष-सैन्य से अधिक समर्थ सैन्य होगा।’

अब गुरुदेव ने अनुभव किया कि महारानियों ने स्वयं को संयत कर लिया है, तो वे मंथरा से संबोधित हुए-

‘अरी देख न मंथरा, जलपान की व्यवस्था करने गयीं तेरी गुरुमाता कहाँ रह गयीं।’

25- लक्ष्मण और शत्रुघ्न की शपथ

रात्रि का प्रथम प्रहर व्यतीत हो रहा था, जब लक्ष्मण और शत्रुघ्न ने सदैव के समान एक-दूसरे से उलझते हुए, माँ के प्रासाद में प्रवेश किया।

सुमित्रा द्वार पर ही उनकी प्रतीक्षा कर रही थी।

‘अरे माता, आप यहाँ द्वार पर क्यों खड़ी हुयी हैं?’ दोनों ही ने आश्चर्य से प्रश्न किया।

‘तुम्हारी ही प्रतीक्षा कर रही थी। कितना विलम्ब कर देते हो तुम लोग आने में!’ सुमित्रा ने उलाहना दिया।

‘आप तो जानती ही हैं माता कितने व्यस्त रहते हैं हम लोग।’ लक्ष्मण ने मुस्कुराते हुए उत्तर दिया। साथ ही दोनों ने दायें-बायें से उसे अपनी बाहों में समेट लिया।

‘वाचाल तो तुम दोनों जन्म से ही हो!’ सुमित्रा ने दोनों के मुख पर प्यार से हाथ फेरते हुए कहा।

‘आपही के पुत्र हैं माता!’ कहते हुए शत्रुघ्न हँस पड़े।

‘अच्छा तो मैं वाचाल हूँ।’ सुमित्रा भी हँस पड़ी।

‘नहीं आप वाचाल नहीं हैं किंतु आवश्यकता पड़ने पर हो सकती हैं। आपमें यह कला है ... आपसे ही हमें उत्तराधिकार में प्राप्त हुई है।’ शत्रुघ्न ने बात सँभाल ली।

‘किन्तु आपने हमारे प्रश्न का उत्तर नहीं दिया!’ लक्ष्मण ने पूछा।

‘क्या?’

‘आप यहाँ क्यों खड़ी थीं?’

‘बताया तो, तुम दोनों की प्रतीक्षा कर रही थी।’

‘अरे! हम तो आ ही रहे थे। नित्य ही हम इस समय तक आ जाते हैं।’

‘नित्य ही हम इस समय तक आ जाते हैं ...’ सुमित्रा ने लक्ष्मण की नकल उतारते हुए कहा- ‘किन्तु माता से भेंट करने का अवकाश कहाँ होता है तुम्हारे पास! आते हो, भोजन पाते हो और अपनी-अपनी पत्नियों के साथ अपने प्रासादों में भाग जाते हो।’

‘अब तो आप उपहास करने लगीं माता!’

‘उपहास नहीं कर रही, सत्य कह रही हूँ।’

‘अच्छा छोड़िये इस विवाद को, आदेश दीजिए क्या कहना है।’

‘आदेश कुछ नहीं बस अपने पुत्रों के साथ वार्ता का सुख प्राप्त करना है, जैसे तुम्हारे विवाह के पूर्व करती थी।’

‘बस !!! इत्ती सी बात? भोजन पर तो हम कितनी सारी बातें करते हैं।’ इस बार शत्रुघ्न बोले।

‘मैंने तुम्हें बचपन से ही सिखाया है न कि भोजन करते समय बोला नहीं जाता।’

‘मेरा तात्पर्य है भोजन से पूर्व और पश्चात!’ शत्रुघ्न ने जीभ काटते हुए अपना कथन संशोधित किया।

‘किन्तु तब तो तुम्हारी पत्नियाँ भी उपस्थित होती हैं।’ सुमित्रा ने फिर चिढ़ाया।

‘अब वे तो सदैव होंगी ही। उन्हें उनके मायके भेज दें, तभी उनसे मुक्त हो सकती हैं।’

‘भेजने देगा तू मायके अपनी पत्नी को?’

‘मुझे पता है आप स्वयं ही नहीं भेजेंगी। बस हमें चिढ़ा रही हैं। आपको तो अपनी वधुयें अपने पुत्रों से भी अधिक प्यारी हैं।’

‘सो तो हैं ही। वे तुम लोगों की भाँति उद्दंड जो नहीं हैं।’

‘माता यह मिथ्या आरोप है आपका। हम उद्दंड कहाँ हैं? हमसे सरल तो आपको सम्पूर्ण कोशल में कोई नहीं मिलेगा।’ लक्ष्मण ने हस्तक्षेप किया।

‘अच्छा SSSS?’ सुमित्रा ने आश्चर्य का अभिनय करते हुए कहा और प्यार से दोनों के कान खींच दिये।

‘आ SSSSSS ह! माता लगता है।’ दोनों समवेत स्वर में चिल्लाये।

यूँ ही बतियाते हुए तीनों सुमित्रा के कक्ष में प्रवेश कर गए।

‘माता पता है आज क्या हुआ?’ सहसा लक्ष्मण बोले।

‘क्या हुआ? जब तक तुम बताओगे नहीं मुझे भला कैसे ज्ञात होगा!’

‘आज उपवन में, पुष्पों से राम भइया ने अपने हाथों से भाभी के लिये इतने सुन्दर-सुन्दर आभूषण बनाए कि बस ... अब क्या बताऊँ ... नहीं शत्रुघ्न?’

सुमित्रा का मंतव्य हल हो गया था। वह यही तो चाहती थी कि उसके पुत्र अपने भाइयों की बात छेड़ें ... और उसे यह भी विश्वास था कि इसके लिए उसे अधिक प्रयास नहीं करना पड़ेगा। दोनों ही अपने भाइयों के इतने बड़े भक्त थे कि कोई भी बात हो, थोड़ी ही देर में घूम-फिर कर अपने भाइयों की गाथा बखानना आरम्भ कर देते थे।

‘ऐसा SSSSS ?’ सुमित्रा ने घोर आश्चर्य का प्रदर्शन किया।

‘सच माता, सुघड़ से सुघड़ मालिन भी नहीं बना सकती इतने सुन्दर पुष्पाभरण!’

‘चल झूठा! तू तो अपने भाई का गुणगान करता ही रहता है।’

‘नहीं माता, शत्रुघ्न से पूछ लो!’

‘हाँ माता, लक्ष्मण सत्य कह रहा है।’

‘चलो मान लेती हूँ। पर तुम लोगों को अपनी शपथ तो याद है न?’

‘कौन सी शपथ माता?’ दोनों ने एकसाथ प्रश्न किया।

‘वही कि तुम्हारे भाई अतिशय सरल हैं और तुम लोग चतुर-चालाक। अतः ...’

‘ओह वह !’ फिर दोनों एकसाथ बोले।

‘पर वह शपथ थोड़े ही है माता।’ लक्ष्मण ने कहा।

‘तो क्या है।’

‘वह तो हमारी अंतरात्मा का स्वर है। वह तो हमारा स्थाई-भाव है।’

‘क्या?’

‘हम अपने ज्येष्ठ-भ्राताओं को कभी भी एकाकी कहीं छोड़ सकते। यदि वे पृथक-पृथक हैं तो ...’ लक्ष्मण बोले।

‘भ्राता राम के साथ लक्ष्मण होगा और भ्राता भरत के साथ शत्रुघ्न होगा ही होगा। कोई हमें रोक नहीं सकता।’ वाक्य शत्रुघ्न ने पूरा किया।

‘ऐसा?’

‘हाँ ऐसा!’ दोनों ने पूरे विश्वास के साथ कहा।

‘और यदि मैं तुम्हें मना करूँ ... अथवा तुम्हारे पिताजी मना करें?’

‘तो भी!!!’ दोनों ने खुलकर हँसते हुए उत्तर दिया।

इस मुखर हास्य का स्वर ऊपर उर्मिला और श्रुति तक भी पहुँचा, वे दोनों भी उतर आयीं।

‘बहुत खुल कर हँस रहे थे आप लोग? कुछ विशेष कारण है ... हमें नहीं बतायेंगे?’ उर्मिला ने किंचित संकोच के साथ प्रश्न किया।

‘यह हम माँ-बेटों का व्यक्तिगत विषय है। इसमें और कोई साझा नहीं कर सकता।’ सुमित्रा ने भी हँसते हुए उत्तर दिया।

‘बता ही दें माता, कोई हानि नहीं है इन्हें बताने में।’ लक्ष्मण ने उदारता से प्रस्ताव किया।

‘चल बता ही दे। किंतु अन्य किसी को मत बताना तुम दोनों।’

‘जी माता, कदापि नहीं बतायेंगी।’

सुमित्रा को संतोष था। उसे संतोष मात्र लक्ष्मण के राम के साथ जाने का ही नहीं था। वस्तुतः वह चाहती थी कि जब कैकेयी को अपना अप्रिय कर्तव्य निर्वहन करना पड़े, तब शत्रुघ्न भी अयोध्या में उपस्थित न हो, वह भी भरत के साथ ही हो। लक्ष्मण और शत्रुघ्न दोनों मिलकर बड़ा बखेड़ा खड़ा कर सकते थे। एक साथ दोनों को सँभाल पाना किसी के वश में नहीं था। वह सोच रही थी- राम के प्रति अन्याय के

प्रतिकार हेतु यदि दोनों उपस्थित हुए तो ... तो कैकेयी के लिए कठिन हो जाएगा
अपने निर्णय पर अडिग पाना।

26- युधाजित का संदेश

दशरथ अभी सो ही रहे थे। कैकेयी ने उन्हें आकर जगाया-

‘महाराज! मध्याह्न वेला होने जा रही है, क्या होता जा रहा है आजकल आपको? पूर्व में तो कभी आपने उठने में इतना विलम्ब नहीं किया?’ कहकर कैकेयी थोड़ा सा मुस्कुराई फिर अकस्मात् न जाने क्या सूझा, वह पर्यंक पर उनकी बगल में बैठ कर अपनी दोनों बाहें उनकी छाती पर टिकाते हुए उनपर अधलेटी सी हो गयी और उनकी आँखों में झाँकते हुए शरारत से बोल पड़ी-

‘तब भी जब आप रात-रात भर न स्वयं सोते थे और न मुझे ही सोने देते थे।’ कहने के साथ ही उसका मुख अब भी किंचित आरक्त हो गया परंतु उसने महाराज की आँखों से अपनी आँखें नहीं हटायीं।

दशरथ ने अपनी बाहें कैकेयी की पीठ पर लपेट दीं और उसे अपनी ओर खींचने का प्रयास किया। कैकेयी सहजता से खिंच आई और अपनी ठोढ़ी उनके सीने पर टिका दी और पूर्ववत् मुस्कुराती हुए उनकी आँखों में झाँकती हुई बोली- ‘उठिये अब!’

‘उठते हैं महारानी, किंतु भोर तो होने दीजिये।’

‘भोर? महाराज सूर्य देव मध्य गगन की ओर अग्रसर हैं।’ कहती हुई कैकेयी हठात् हँस पड़ी।

‘दशरथ तो अभी भी अपने नेत्रों के सम्मुख निशाकर को विहँसता देख रहा है, कैसे मान ले कि सूर्य देव मध्य गगन को स्पर्श कर रहे हैं!’ दशरथ ने ठिठोली की।

‘महाराज! अब चौथेपन में प्रवेश कर चुके हैं। वधुयें आ चुकी हैं ... ऐसी ठिठोली अब पुत्रों को करने दीजिये वधुओं के साथ। अब हमें यह आचरण शोभा नहीं देता।’ कहकर कैकेयी ने कोहनियों की सहायता से अपने शरीर को आगे झुकाते हुए अपनी नाक दशरथ की नाक से लड़ा दी। उसके होंठ दशरथ के होठों के इतने निकट थे कि तनिक सा हिलते ही छू जायें। दशरथ से नहीं रहा गया, उन्होंने उचक कर अपने होठों से उन्हें छू लेना चाहा पर कैकेयी ने हँसते हुए तत्काल अपनी हथेलियों को उनकी छाती पर टिकाते हुये अपने शरीर को उचका लिया-

‘नहीं महाराज! यह उचित समय नहीं है इस कार्य के लिये। छोड़िये मुझे और आप भी उठिये।’

‘बस एक चुम्बन! ... आपके अधरों की सुधा से शरीर को चैतन्य प्राप्त होता है! दिवस उत्साहपूर्ण व्यतीत होता है ... बुद्धि चपल हो जाती है ...’ दशरथ ने हठ करना

चाहता किंतु कैकेयी ने बीच में ही अपनी एक हथेली उनके मुँह पर रख दी-

‘बस, अब काव्य-रचना रहने दीजिये। अभी कोई न कोई आता ही होगा ... सभाभवन से चर पूर्व ही आ चुका है।’

‘क्या SSS?’ दशरथ चौंक पड़े- ‘क्या कह दिया आपने उससे?’

‘कहना क्या था ... कह दिया कि महाराज किंचित अस्वस्थ है। अभी उठे नहीं।’ कहकर कैकेयी पुनः हँसी।

दशरथ ने बचपना भूल कर कैकेयी को बाहों के बंधन से मुक्त कर दिया और झटपट उठ बैठे और शिकायत भरे स्वर में बोले-

‘आपने मुझे पूर्व ही क्यों नहीं उठा दिया?’

‘लीजिए अभी भी उठने को प्रस्तुत नहीं थे और उपालम्भ दे रहे हैं कि पूर्व ही क्यों नहीं उठा दिया?’ कैकेयी तिर्यक स्मित के साथ भौहें उठाकर बोली।

महाराज ने कोई उत्तर नहीं दिया और नित्यक्रिया के लिए प्रस्थान कर गए।

दशरथ अभी निवृत्त होकर वापस नहीं आ पाए थे कि एक दासी द्वार पर प्रकट हुयी-

‘महारानी जी! आमात्यगण उपस्थित हुए हैं। महाराज के दर्शन प्राप्त करना चाहते हैं।’

‘अतिथि-कक्ष में बिठा दिया न उन्हें?’ कैकेयी ने प्रश्न किया।

‘जी महारानी जी!’

‘जलपान को बोल दिया किसी से?’

‘जी महारानी जी!’

‘जा उनसे कह दे कि महाराज प्रसाधन कक्ष में हैं।’ कहकर कैकेयी मुस्कुरायी। उसे पता था कि दासी इस प्रकार से नहीं कहेगी। अचानक उसे जैसे कुछ याद आया हो-

‘और ये धाय माँ कहाँ विलीन हो गयीं?’

‘देखा नहीं महारानी जी उन्हें तो। सम्भवतः अपने कक्ष में हों।’

अन्य सभी दासियों के लिए सम्मिलित कक्ष ही थे। एक-एक विशाल कक्ष में दस-दस दासियाँ रहती थीं, किंतु कैकेयी ने मंथरा को एक अलग छोटा सा कक्ष दे रखा था, यद्यपि वह अपने कक्ष में मात्र रात्रि में सोने ही जाती थी।

‘आमात्यों के पास जाने से पूर्व बाहर किसी से कह दे कि उन्हें देखकर आये ... देखकर क्या साथ ही लिवाकर लाए।’

‘जी महारानी जी!’ दासी वैसे ही हाथ जोड़े खड़ी रही, शायद अभी कोई और आज्ञा मिले।

‘जा अब!’

दासी चली गयी तो कैकेयी अनायास विचारों में खो गई।

गुरुदेव से वार्ता के दिन से ही उसके मन में महाराज को लेकर एक फाँस सी गड़ गयी थी। वह पूरा प्रयास कर रही थी कि उसकी इस मनस्थिति को कोई लक्ष्य न कर पाए, इसीलिए वह सप्रयास पुराने दिनों के समान एकांत क्षणों में महाराज के संग अंतरंग होने का प्रयास करती थी। परंतु किसी भी प्रकार वह अपने मन को नहीं समझा पा रही थी। वह भलीभांति समझती थी कि यदि महाराज ऐसा न करते तो उसके लिए राम के लिए वनवास माँगना नितांत असंभव हो जाता, किंतु फिर भी वह अपने मन की बेचैनी को शांत नहीं कर पा रही थी।

दूसरी ओर दशरथ की भी यही स्थिति थी। जब से राम के अभिषेक की बात उनके मन में आयी थी, वे कैकेयी और भरत के प्रति सशंकित हो उठे थे। कैकेयी उनके इस भाव को समझ न ले इसलिए वे भी पूर्णतः सहज और सप्रयास अंतरंग होने का प्रयास कर रहे थे। कैकेयी कहीं स्वयं को उपेक्षित न अनुभव करे इसलिए वे आजकल नित्य उसीके प्रासाद में शयन कर रहे थे। वे उसके साथ प्रेमालाप करते और शीघ्र ही सो जाने का बहाना कर आँखें मूँद कर लेट जाते। परंतु नींद तो जैसे बैर ठाने हुई थी उनसे, बड़ी कठिनता से आती थी। कई-कई बार तो रात भर नींद रूठी ही रहती थी। यही उधेड़बुन रहती थी कि प्रमोद के कूटचर कब संदेश भेजते हैं! आज भी यही हुआ था, भरत के ननिहाल जाने के उपरांत वे किस प्रकार गोपनीयता से सारा आयोजन करेंगे, सारी रात इसी की रूपरेखा बनाते रहे थे। जब भोर के पक्षी चहचहाने लगे तब कहीं जाकर नींद ने उन्हें अपनी गोद में आश्रय दिया था। ... तो प्रातः आँख भला कैसे खुलती!

कुल मिलाकर दोनों ही अभिनय कर रहे थे और सदैव सशंकित रहते थे कि सामने वाला उनका अभिनय पकड़ न ले।

* * *

‘क्या बात है महारानी जी, किस उलझन में पड़ी हैं?’

मंथरा के स्वर ने कैकेयी की तंद्रा तोड़ी।

‘कुछ नहीं!’ कैकेयी कुछ अनमने से स्वर में बोली, परंतु एक क्षण में ही उसने स्वयं को संयत कर लिया- ‘स्वस्थ तो हैं न आप?’

‘हाँ! सम्पूर्णतः!’

‘तब इतना विलम्ब कैसे हो गया, ऐसा तो आप कभी नहीं करतीं?’

‘वो मैं ...’ मंथरा ने सफाई देने का प्रयास किया किंतु कैकेयी ने बीच में ही रोक दिया-

‘उसे छोड़िये, आप अतिथि कक्ष में जाइये। आमात्यगण महाराज की प्रतीक्षा कर रहे हैं वहाँ। उनकी व्यवस्था देख लीजिये।’

‘जैसी आज्ञा किन्तु महाराज के विषय में बताऊँ क्या उन्हें?’

‘आप जैसी चतुर-सयानी को भी यह सब समझाना पड़ेगा?’

‘नहीं ऐसा नहीं है किन्तु अकारण मिथ्यावादन भी उचित नहीं होता न!’

‘महाराज नित्य-क्रियाओं से निवृत्त हो रहे हैं अभी। अभी तो उठे ही हैं सोकर। अब कुछ तो विलंब होगा ही हमें आने में।’

मंथरा आगे कोई प्रश्न किये बिना चली गयी। कैकेयी को विश्वास था कि मंथरा अपनी बातों में आमात्यों को इस प्रकार उलझा लेगी कि उन्हें महाराज के आगमन में हो रहे विलंब का भान भी नहीं होगा।

महाराज स्नानादि से निवृत्त होकर जैसे ही कक्ष में आए, कैकेयी ने उन्हें आमात्यों के आगमन की सूचना दी। उसकी आँखों में तैर रही चंचल मुस्कुराहट को देखकर दशरथ भी बरबस मुस्कुरा उठे-

‘आपने अनावश्यक सबको कष्ट दिया। आपने उनसे मेरी अस्वस्थता के विषय में कह दिया और देखिये ...’

दशरथ बात पूरी नहीं कर पाये थे कि दासी ने द्वार से गुहार लगाई-

‘महारानी जी ...’

‘हूँ! बोलो ...’ कैकेयी ने पूछा।

‘महारानी जी! राजवैद्य आ रहे हैं।’

‘आने दो उन्हें ...’ कैकेयी बरबस हँस पड़ी।

दासी चली गयी तो दशरथ ने शिकायती दृष्टि से देखते हुये कुछ व्यग्रता से कहा-

‘देखिये, आपके एक छोटे से उपहास के कारण सबको अकारण कष्ट हो रहा है। राजवैद्य’

पर दशरथ इससे आगे नहीं बोल पाये। राजवैद्य द्वार पर प्रकट हो गये थे।

राजवैद्य की आयु वस्तुतः सवा सौ वर्ष से कम नहीं थी। हल्की सी रक्तिम आभा लिए सुदीर्घ श्वेत केशराशि और वैसी ही सुदर्शन श्वेत दाढ़ी। इस उम्र में भी सीधी कमर। इकहरा शरीर, व्यक्ति के भीतर तक झाँकने में समर्थ तेजोद्दीप्त नेत्र और माथे की गहरी लकीरों को ढाँपती हुई चंदन की तीन मोटी रेखायें।

‘आइये राजवैद्य जी।’

दशरथ और कैकेयी दोनों के मुख से एक साथ निकला। दोनों ने उन्हें प्रणाम किया। वे ब्राह्मण थे।

राजवैद्य ने भी यथोचित रूप से दोनों को आशीर्वाद दिया और तत्काल बाद प्रश्न किया-

‘क्या हुआ महाराज? मैंने सुना कि’ वे चकित से दशरथ के मुख की ओर देख रहे थे। उनकी अनुभवी दृष्टि स्पष्ट अनुभव कर रही थी कि महाराज को कोई शारीरिक कष्ट नहीं है।

‘राजवैद्य जी! दशरथ क्षमाकांक्षी है। महारानी की विनोद-वृत्ति के कारण आपको अकारण कष्ट उठाना पड़ा। आपके साथ ही आमाल्यगण को भी व्यर्थ ही कष्ट उठाना पड़ा है।’ दशरथ ने कुछ संकोच के साथ कहा।

कैकेयी कुछ नहीं बोली, बस मुस्कुराती रही।

‘महाराज! जीवन में थोड़ा सा विनोद भी आवश्यक होता है। इससे जीवन की एकरसता समाप्त होती है और मन को ऊर्जा प्राप्त होती है।’ राजवैद्य ने मंद स्मित के साथ कहा।

‘तो आइये, हम भी अतिथि-कक्ष में चलें। वहीं आमाल्यगण भी प्रतीक्षा कर रहे हैं।’

दशरथ, राजवैद्य और कैकेयी तीनों ही अतिथि-कक्ष में पहुँचे।

दशरथ के कक्ष में प्रवेश करते ही सभी उठ खड़े हुए और एक साथ उनकी कुशल-क्षेम संबंधी प्रश्न करने लगे।

ये तीनों बरबस मुस्कुरा उठे।

राजवैद्य ने स्थित सँभाली। उन्होंने हाथ उठा कर सबको शांत होने का संकेत किया। कुछ पलों में सब शांत हुए तो राजवैद्य ने महाराज के पूर्ण स्वस्थ होने की घोषणा की।

कुछ औपचारिकताओं के उपरांत कैकेयी को छोड़कर शेष सभी लोग सभा-भवन के लिए प्रस्थित हुए। राजवैद्य अपने आवास की ओर चले गये।

* * *

सभाभवन में कुछ खास होने को नहीं था।

कुछ प्रासंगिक तो कुछ अप्रासंगिक विषयों की चर्चा होती रही। कुछ हँसी-ठट्ठा भी हुआ। इस सबके बीच सदैव के समान सभासद महाराज का प्रशस्ति-गायन और अपनी राजभक्ति की चर्चा भी करते रहे। यह आदिकालीन प्रथा है जिसका **निर्वहन** आज तक अबाध गति से हो रहा है। इसमें जो जितना योग्य होता है वह उतनी ही शीघ्रता से भौतिक उन्नति के पथ पर आगे बढ़ता है। उसकी यह एकमात्र योग्यता उसकी अन्य समस्त अयोग्यताओं को ढँक लेती है और वह सहज ही सत्ता का चहेता बन जाता है।

महाराज आत्म-मुग्ध अवस्था में अपनी प्रशस्ति का आनंद ले रहे थे।

अकस्मात् उनकी बायीं ओर बैठे सुमन्त के मद्धम स्वर ने महाराज के इस मनोविनोद में बाधा दी-

‘महाराज! कुछ निवेदन करना है।’

स्वर बस इतना ही तीव्र था कि महाराज और अधिकतम उनकी दायीं ओर बैठे महामात्य सुन सकें।

‘तो कहिये भी। आपको भला इस भाँति अनुमति माँगने की क्या आवश्यकता है!’ दशरथ ने भी धीमे स्वर में ही उत्तर दिया।

‘महाराज! सभा में सबके मध्य कहने योग्य विषय नहीं है। यदि उचित समझें तो सभा को विसर्जित कर दिया जाए और मात्र आमात्यगणों के मध्य यह चर्चा हो।’

‘जैसा आप उचित समझें। किन्तु विषय है क्या?’ सुमन्त की भंगिमा ने दशरथ की जिज्ञासा बढ़ा दी थी।

‘अभी सामने आता है महाराज!’ कहते हुए सुमन्त खड़े हुए और सभा के विसर्जन की घोषणा कर दी।

सभा विसर्जित होने लगी। एक-एक कर सभासदगण महाराज को प्रणाम कर बाहर निकलने लगे। आमात्यों और सेनापति को सुमन्त ने आँखों ही आँखों में व्यक्तिगत रूप से रुकने का संकेत कर दिया।

इसी बीच सेनापति प्रमोद ने कक्ष में प्रवेश किया।

प्रमोद अवकाश लेने के बाद से विशेष अवसरों पर आमन्त्रित होने पर ही राजसभा में सम्मिलित होते थे। उन्हें देखकर सुमन्त और अन्य आमात्यगण कुछ विस्मित हुए। जाबालि भी विस्मित थे किन्तु उन्होंने अपने मनोभावों को दबाते हुए प्रमोद का स्वागत किया।

महाराज के लिए प्रमोद का आगमन प्रसन्नता बढ़ाने वाला ही था। वे तो कब से उनके आगमन की प्रतीक्षा कर रहे थे। उनके आगमन का निश्चित अर्थ था कि युधाजित के संबंध में कुछ सूचना है। उनकी प्रफुल्लित मुखमुद्रा इस सूचना के शुभ होने का संकेत कर रही थी।

औपचारिकताओं का निर्वहन हुआ फिर प्रमोद ने आसन ग्रहण किया।

‘सुमन्त जी! पूर्व सेनापति की उपस्थिति में तो चर्चा हो ही सकती है?’ जैसे ही सभासदगण कक्ष से बाहर हुए दशरथ ने प्रश्न किया।

‘निश्चित रूप से। इस चर्चा में प्रमोद जी की अकस्मात् उपस्थिति तो सुखद संयोग की भाँति है। वस्तुतः विषय ही ऐसा है जिसे सुलझाने में इनकी सम्मति सर्वाधिक उपयोगी रहेगी।’

‘तब फिर विलम्ब क्यों कर रहे हैं?’

‘कोई विलम्ब नहीं है महाराज!’ कहते हुए सुमन्त्र उठ खड़े हुये।

‘बैठे-बैठे ही कहिए, अब इन औपचारिकताओं की आवश्यकता नहीं है।’ दशरथ ने हँसते हुए कहा।

वास्तव में तो दशरथ इस समय सर्वप्रथम प्रमोद की बात सुनना चाहते थे किंतु आमाल्यों की उपस्थिति में वह संभव नहीं था। इसलिए उनका प्रयास यही था कि यह प्रकरण शीघ्रातिशीघ्र समाप्त हो। औपचारिकतायें समय तो नष्ट करती ही हैं।

सुमन्त्र पुनः बैठ गये।

‘महाराज! उत्तर में कुछ दस्यु सिर उठाने लगे हैं। ग्रामों में उनके उत्पात के समाचार बहुधा सुनाई पड़ने लगे हैं।’ सुमन्त्र ने विषय का सूत्रपात किया।

‘तो आप लोग क्या कर रह हैं, दमन क्यों नहीं कर रहे उनका?’

‘महाराज! उनका दमन सहज नहीं है। इसीलिए तो मैंने यह प्रश्न आपके सम्मुख उपस्थित किया है।’

‘स्पष्ट करें। क्या आप यह कहना चाहते हैं कि अयोध्या का सैन्य सामान्य दस्युओं का दमन भी नहीं कर सकता?’

‘कदापि नहीं महाराज! अयोध्या का सैन्य त्रिलोक के बड़े से बड़े सैन्य का मानमर्दन करने में सक्षम है।’

सुमन्त्र का कथन सुनकर जाबालि हल्के से मुस्कुरा दिये। इस प्रकार कि उनके अधर तनिक सा फैले और पुनः सामान्य अवस्था में आ गए। सुमन्त्र ने इसे लक्षित किया किन्तु कोई प्रतिक्रिया नहीं दी।

‘फिर क्या कारण है जो हमारा सैन्य उनका दमन नहीं कर पा रहा है?’

‘महाराज! वस्तुतः वे दस्यु नहीं हैं। वे प्रताड़ित नागरिक हैं जिन्होंने स्थानीय प्रशासन से विद्रोह कर दिया है। अन्याय के विरुद्ध शस्त्र ग्रहण कर लिये हैं।’

‘आमात्य जी! शासन के विरुद्ध शस्त्र ग्रहण करने वाला विद्रोही ही कहा जा सकता है। उसके साथ किसी भी प्रकार की सहृदयता दिखाने की आवश्यकता नहीं होती। क्या यह साधारण सा सत्य आप लोगों की समझ में नहीं आया?’

‘महाराज, यदि दोष शासन का ही हो तो भी?’

‘हाँ, तो भी। राज्य के विरुद्ध शस्त्र उठाना राजद्रोह ही होता है। यदि आज किसी एक के प्रति हम सहृदयता दिखायेंगे तो कल दूसरा भी उससे प्रोत्साहित होगा। वह भी शक्ति-प्रदर्शन कर अपनी माँगें मनवाना चाहेगा। ... और फिर यह एक अनवरत प्रक्रिया बन जायेगी। अनेक स्वार्थी तत्व कुछ सशस्त्र व्यक्तियों का गुट बनाकर, शक्ति-प्रदर्शन से प्रजा में आतंक फैलाकर शासन को झुकाने का प्रयास करने लगेंगे। एक बार झुकने के उपरांत बारम्बार झुकना शासन की विवशता बन जायेगी।

अतः इस प्रवृत्ति को आरम्भ में ही निर्ममता पूर्वक कुचल देना आवश्यक है। अयोध्या में आतंक के सहारे अपनी बात मनवाने का प्रयास करने वालों के लिए कोई स्थान नहीं है।’

‘महाराज! मेरे विचार से तो किसी भी परिस्थिति में तथ्यों का अन्वेषण आवश्यक है। सशस्त्र विद्रोह के पीछे यदि राज्य की कोई चूक कारणरूप में है तो प्रथम उसे सुधारना आवश्यक है। इसके साथ ही राज्य की चूक के कारण अथवा राज्य द्वारा पीड़ित होने पर विद्रोही व्यक्ति को समझा-बुझा कर विद्रोह त्याग कर मुख्य-धारा में सम्मिलित होने का एक अवसर प्रदान करना स्थिति को नियंत्रित करने का उचित उपाय हो सकता है।’

‘मंत्रिवर! आप आदर्शों की बात कर रहे हैं। साम्राज्य मात्र आदर्शों से नहीं सँभलता। साम्राज्य की सुरक्षा हेतु प्रजा के मन में राजसत्ता का भय बना रहना आवश्यक होता है। जिस दिन भी यह भय समाप्त हो जाएगा उसी दिन प्रजा राजाज्ञा की अवहेलना करने लगेगी और तब सुचारु रूप से शासन संभव ही नहीं रह जाएगा।’

‘मैं आपके कथन से सहमत हूँ महाराज! किंतु कोई भी कारण राजसत्ता को अपनी प्रजा के प्रति संवेदनहीन होने की अनुमति नहीं देता।’

‘इसमें संवेदनहीनता का प्रश्न किस भाँति उत्पन्न हो गया? मैं तो सशस्त्र विद्रोह को निर्ममता से कुचलने की बात कर रहा हूँ, प्रजा के उत्पीड़न की नहीं। राजसत्ता के समानांतर किसी सत्ता की स्थापना का प्रयास कदापि स्वीकार नहीं किया जा सकता। ऐसे प्रयास के दमन को यदि आप उत्पीड़न का नाम देना चाहें तो देते रहें किंतु उसे स्वीकार नहीं किया जा सकता।’

‘महाराज संभवतः मेरा मंतव्य नहीं समझे। राजसत्ता के समानांतर सत्ता स्थापित करने के प्रयास का निर्दयतापूर्वक दमन करना ही श्रेयस्कर है। किंतु यहाँ स्थिति भिन्न है। इन विद्रोहियों की राजसत्ता के प्रति पूर्ण आस्था है। दुर्भाग्य से सत्ता के स्थानीय प्रतिनिधियों के अन्याय और अत्याचारों से पीड़ित होकर इन्हें उनके विरुद्ध सशस्त्र संघर्ष का मार्ग अपनाना पड़ा है। उनका उद्देश्य स्वतंत्र समानांतर सत्ता की स्थापना नहीं है, उनका उद्देश्य सत्ता द्वारा अन्यायपूर्वक किए गए दमन का प्रतिकार करना है। अन्यायपूर्वक प्रजा के दमन को उत्पीड़न की कहा जा सकता है और उसका प्रतिकार करने का अधिकार प्रजा को है। दमन से इस विद्रोह को नहीं दबाया जा सकता, सहृदय व्यवहार से ही उन्हें भरोसा दिलाया जा सकता है कि सत्ता उनके प्रति हुए अन्याय के प्रति संवेदनशील है और उन्हें न्याय दिलाने हेतु प्रतिबद्ध है। यदि

हम उन्हें यह विश्वास दिला पाए तो वे निस्संदेह विद्रोह का मार्ग त्याग कर सहज ही पुनः मुख्यधारा में सम्मिलित हो जायेंगे।’

दशरथ प्रमोद द्वारा लाए गए समाचार को जानने की अपनी व्यग्रता के बावजूद, धैर्यपूर्वक सुमंत्र के तर्कों को सुनते रहे। फिर कुछ देर सोचने के उपरांत बोले-

‘आप इतने भरोसे से कैसे कह सकते हैं?’

‘मेरे पास जो सूचनायें हैं उनके आधार पर!’

‘जब आपके पास सूचनायें थीं तो फिर आपने अन्याय अथवा उत्पीड़न होने ही क्यों दिया? उसी समय उसका परिहार क्यों नहीं किया?’

‘मेरे पास तब सूचनायें नहीं थीं महाराज! मेरे संज्ञान में तो प्रकरण तब आया जब नागरिक विद्रोह कर उठे।’ कहने के साथ ही सुमन्त्र ने प्रमोद की ओर देखा, फिर आगे जोड़ा- ‘इस विलम्ब के विषय में संभवतः प्रमोद जी अधिक प्रकाश डाल सकते हैं। सौभाग्य से वे हमारे मध्य उपस्थित भी हैं आज।’

महाराज ने भी प्रमोद की ओर देखा। जाबालि अब भी शांत बैठे मुस्कुरा रहे थे। वे भी प्रमोद की ओर देखने लगे।

‘महाराज! मेरे अधीन जितने भी कूट-चर हैं, उनका कार्य प्रमुखतः निकटस्थ राज्यों की गतिविधियों पर दृष्टि रखना है। अयोध्या की सीमा के अंतर्गत वे बहुत अधिक सक्रिय नहीं हैं। अयोध्या में वे मात्र जो संभावित विदेशी गुप्तचर हो सकते हैं उन पर दृष्टि रखते हैं अथवा राज्य के अंदर जो विरोधी शक्तियाँ हैं, अथवा हो सकती हैं, उन पर दृष्टि रखते हैं। राज्य-कर्मचारियों के क्रियाकलापों पर दृष्टि रखना उनके कर्तव्यों में नहीं आता।’

‘किंतु क्यों?’

‘महाराज! वह असंभव कार्य है। कितने राज्य कर्मचारियों के क्रियाकलापों पर दृष्टि रखने का प्रबंध कर सकते हैं हम? प्रत्येक तो किसी न किसी स्तर पर अपने पद का दुरुपयोग कर रहा है। किस-किस के पीछे हम अपने व्यक्ति लगायेंगे? ... और कहाँ से लायेंगे इतने व्यक्ति?’

‘फिर?’ दशरथ ने असंतोष के स्वर में प्रश्न किया।

‘फिर क्या महाराज, यह मान लिया जाता है कि ये सब सत्ता के साथ स्वाभाविक रूप से आने वाले दुर्गुण हैं। इन्हें रोक पाना संभव नहीं है।’

‘यह तो उचित नहीं है।’

‘कदापि उचित नहीं है, किंतु अन्य कोई मार्ग भी तो नहीं है। इसी प्रकरण को लीजिए, जब जनता में असंतोष फैलना आरंभ हुआ तो हमारे संज्ञान में आया। हमने उसे आमत्य सुमंत्र के संज्ञान में दिया। इन्होंने भी आरंभ में वही किया जो करने का

अभी आप इन्हें परामर्श दे रहे थे, अर्थात् बलात उस असंतोष को कुचल देने का प्रयास किया। परिणाम आपने समक्ष है।’

‘तो आप अब क्या परामर्श दे रहे हैं? क्या करणीय है, इन स्थितियों में?’

‘प्रथम सुमन्त्र जी का परामर्श तो पूरा सुन लीजिए ... तत्पश्चात् ही मेरा कोई परामर्श देना उचित होगा।’ प्रमोद थोड़ा सा रुके और फिर महामात्य की ओर देख कर मुस्कुराते हुए आगे बोले- ‘... और महाराज क्या आपने अभी तक लक्ष्य नहीं किया कि सम्पूर्ण वार्तालाप में महामात्य पूर्णतः मौन धारण किए हुए बैठे हैं। इनके उपस्थित रहते क्या किसी अन्य के परामर्श की आवश्यकता है? नीति-निर्धारण में इनसे अधिक कुशल और कौन हो सकता है भला?’

प्रमोद के कहने पर दशरथ को भी इस तथ्य का भान हुआ कि इतनी देर से जाबालि बस मंद-मंद मुस्कुरा रहे हैं, बोल कुछ नहीं रहे।

‘महामात्य!’ दशरथ उनकी ओर लक्ष्य करते हुए बोले- ‘आप मौन आनंद ले रहे हैं सम्पूर्ण प्रकरण का? यह प्रकरण आनंद लेने का विषय नहीं है, यह राज्य के प्रति विद्रोह का प्रकरण है, इसे सुलझाने में आप इतने निष्क्रिय कैसे रह सकते हैं?’

‘मैं निष्क्रिय कदापि नहीं हूँ महाराज! किंतु जैसा अभी प्रमोद जी ने कहा सुमन्त्र जी को अपनी बात तो पूरी करने दीजिए।’

‘कीजिए आमात्य जी, आप अपनी बात पूरी कीजिए। आप बलप्रयोग के स्थान पर और क्या करने का परामर्श दे रहे हैं?’

‘महाराज! जब जनता की सहानुभूति विद्रोहियों के साथ हो जाती है तो उनका बलपूर्वक दमन संभव नहीं होता। यहाँ भी यही स्थिति है। हमारे राज्य- कर्मचारियों के अनुत्तरदायित्वपूर्ण और स्वार्थी आचरणों के चलते निरीह प्रजा के प्रति घोर अन्याय हुआ है। प्रजा ने स्थानीय अधिकारियों तक बारम्बार अपने कष्ट का दुखड़ा रोया किंतु वे भी संवेदनहीन ही निकले। उन्होंने प्रजा को न्याय देने के स्थान पर अपने सहकर्मियों का ही साथ दिया। संभव है कि वे भी लाभ में भागीदार रहे हों। किंतु इस सबका परिणाम यह हुआ कि वह असंतोष धीरे-धीरे सशस्त्र विद्रोह में परिवर्तित हो गया। हमारा बलप्रयोग निष्फल हुआ। विद्रोही हमारी सुरक्षा-चौकियों पर छिप कर आक्रमण करते हैं और शस्त्र लूट कर भाग जाते हैं। हमारे रक्षक दल कुछ नहीं कर पाते।

‘रक्षक दल जब उन विद्रोहियों की खोज करते हैं तो कोई भी उनके विषय में कुछ भी बताने को तैयार नहीं होता। सब यही कहते हैं कि उन्हें कुछ ज्ञात ही नहीं है।’

‘यह तो हुआ आमात्य जी, मैं समझ गया परिस्थिति। किंतु मेरा प्रश्न था कि आपका सुझाव क्या है?’ दशरथ सुमन्त्र के लम्बे हो रहे वक्तव्य से उकताते हुए बोले। वे तो

प्रमोद द्वारा लाया गया समाचार जानने को व्यग्र थे।

‘महाराज! मेरा व्यक्तिगत सुझाव है कि हम कुमार राम को इस प्रकरण को सुलझाने का दायित्व सौंप दें। वे ...’

‘राम को कैसे इतनी जटिल परिस्थितियों में भेजा जा सकता है?’ दशरथ ने सुमन्त्र की बात बीच में ही काट दी।

‘महाराज सुन तो लें उनकी बात। एकमात्र कुमार राम ही सक्षम हैं इस प्रकरण को सुलझाने में।’ पहली बार जाबालि ने हस्तक्षेप किया।

‘आप भी यही कह रहे हैं? तात्पर्य आपकी और सुमन्त्र जी की वार्ता हो चुकी है इस विषय में?’

‘महाराज ऐसा कैसे संभव है कि इतने गंभीर प्रकरण में मेरी महामात्य से वार्ता न हुई हो?’ सुमन्त्र ने कहा।

‘किंतु मैं राम को इसमें उलझाने की अनुमति नहीं दे सकता। मैं स्वयं जा सकता हूँ विद्रोह का दमन करने हेतु किंतु राम को ... कदापि नहीं।’ दशरथ ने दृढ़ता से प्रस्ताव को अस्वीकार कर दिया।

‘महाराज! मैंने भी सुमन्त्र जी से यही कहा था कि महाराज कदापि इसकी अनुमति नहीं देंगे। इसीलिए मैं अब तक मौन था ... किंतु मेरा भी स्पष्ट मत है कि कुमार राम के अतिरिक्त अन्य कोई भी समर्थ नहीं है इस प्रकरण को सुलझाने में।’

‘वह कैसे? अयोध्या की चतुरंगिणी सेना किस प्रयोजन के लिए है?’

‘महाराज, सैन्य अपने ही लोगों का रक्त बहाने के लिये नहीं होता। परंतु उसे छोड़िये, कुमार राम की बात करते हैं।’ जाबालि ने पुनः हस्तक्षेप किया।

‘कीजिए ...’ दशरथ ने अनिच्छा से कहा।

‘यहाँ विश्वास का संकट है। उस सम्पूर्ण क्षेत्र की प्रजा का प्रशासन के ऊपर से विश्वास हट गया है। कुमार राम का व्यक्तित्व ऐसा है जिस पर कोई अविश्वास नहीं कर सकता। अयोध्या की ही नहीं समस्त आर्यावर्त की प्रजा उनपर आँख मूँद कर विश्वास करती है। विश्वास ही नहीं करती, अधिकांश प्रजा उन्हें स्वयं विष्णु का अवतार स्वीकार कर चुकी है। वे यदि प्रजा को आश्वासन देंगे कि अब उन पर अत्याचार नहीं होगा, अब कोई उनके साथ अन्याय नहीं करेगा तो सब उनके आश्वासन को स्वीकार करेंगे ... वे विद्रोही भी। विश्वास का संकट मिट जाने के बाद वहाँ कोई भी उलझन नहीं है। उन विद्रोहियों को भी कोशल से उतना ही लगाव है जितना हमें है। दोषी राज्य-कर्मियों की पहचान हो चुकी है। उनमें से अधिकांश को हमने पदच्युत भी कर दिया है। उनके स्थान पर नियुक्त किये गए कर्मी न्यायप्रिय हैं। वे सब सँभाल लेंगे।’

‘कुछ भी हो, अभी मैं राम को इस संकट में भेजने की अनुमति नहीं दे सकता।’ दशरथ ने प्रमोद की ओर देखते हुए कहा। प्रमोद की उपस्थिति मात्र से ही उन्हें विश्वास हो गया था कि वे अवश्य ही युधाजित के आगमन के संबंध में कोई सूचना लाये होंगे। युधाजित के साथ भरत के जाते ही वे राम का राज्याभिषेक कर देना चाहते थे। राम को इस संकट से निपटने भेजने का अर्थ था राज्याभिषेक को टाल देना जो दशरथ को कदापि स्वीकार्य नहीं था।

दशरथ को अपनी ओर देखता देखकर प्रमोद ने भी स्वीकृति में सिर हिला दिया। दूसरी ओर सुमंत्र ने हताशा में अपने कंधे झटक दिये। जाबालि उसी प्रकार मौन मुस्कुराते रहे।

‘महाराज! यदि कुमार राम नहीं जा सकते तो कुमार भरत को भी भेजा जा सकता है। प्रजा को’

‘नहीं, कदापि नहीं।’ दशरथ ने फिर पूरी दृढ़ता से प्रस्ताव को अस्वीकार कर दिया। भरत को तो युधाजित के साथ अपनी ननिहाल जाना था उसे कैसे कहीं और भेज सकते थे दशरथ!

हताश सुमंत्र चुप हो गये।

‘आप लोग परस्पर और विचार-विमर्श कीजिए। कल पुनः इस विषय में वार्ता करेंगे। मैं भी चिंतन करूँगा इस पर।’ दशरथ ने प्रकरण का पटाक्षेप करते हुए कहा और प्रमोद की ओर उन्मुख हो गये-

‘कहिए प्रमोद जी, आपके तो अब दर्शन ही नहीं होते। अवकाश ग्रहण कर लेने का तात्पर्य यह तो नहीं होता कि राजा से पूर्णतः ही दूरी ही बना ली जाए?’ कहते हुए दशरथ हँसे और फिर आगे जोड़ा- ‘... और फिर आप को अभी हमने पूर्णतः अवकाश दिया भी कहाँ है, हमारी कूटचर सेवा के तो प्रमुख आप अभी भी हैं ही।’

‘ऐसी कोई बात नहीं है महाराज! यदि मैंने आपसे दूरी बना ली होती तो आज यहाँ क्यों उपस्थित होता।’ प्रमोद ने भी उसी तरह हँसते हुए उत्तर दिया।

महाराज का इस प्रकार विषय परिवर्तन कर देना आमात्यों के लिये स्पष्ट संकेत था प्रस्थान का। सबसे प्रथम जाबालि ने ही अनुमति माँगी-

‘अच्छा, अब जाबालि को अनुमति दीजिये महाराज! आप प्रमोद जी से वार्ता कीजिए।’

‘हाँ, उचित है। आप लोग प्रस्थान कीजिए। मैं तो अभी कुछ काल इनसे वार्ता करूँगा, कितने काल बाद तो ये उपलब्ध हुए हैं ... इनका सम्पूर्णतः शोषण करूँगा अभी मैं।’ दशरथ ने विनोद पूर्वक कहा।

यह एक प्रकार से सबके लिए प्रस्थान का आदेश था। एक-एक कर सभी उपस्थित आम्रात्य अनुमति लेकर निकल लिये।

* * *

‘अब बताओ मित्र, क्या सूचना है?’

‘सूचना आपके मनोनुकूल ही है। युधाजित अब तक केकय से प्रस्थान कर चुके होंगे।’

‘होंगे से क्या तात्पर्य?’ दशरथ ने भृकुटी टेढ़ी करते हुए पूछा।

‘महाराज, चर युधाजित के प्रस्थान की प्रतीक्षा नहीं कर सकता था।’ प्रमोद मुस्कराये- ‘वह तो सूचना प्राप्त होते ही वहाँ से निकल लिया था।’

‘कब तक संभावित है उनका आगमन?’

‘परसों तक, अधिकतम एक दिन का विलंब संभव है।’

‘उत्तम।’ दशरथ ने प्रसन्नता से उत्तर दिया।

‘तो अब प्रमोद को अनुमति दें महाराज!’ प्रमोद ने हाथ जोड़ कर उठने का प्रयास करते हुये कहा।

‘क्या निश्चित ही आप जाना चाहते हैं?’

‘यदि आपकी अनुमति हो तो ...’

‘भविष्य की योजनाओं पर कोई परामर्श नहीं देंगे दशरथ को। अब तो सब कुछ अत्यंत त्वरित गति से करना होगा। नहीं ...?’

‘निश्चित ही। युवराज युधाजित के केकय देश पहुँचने से पूर्व ही राम के राज्याभिषेक की घोषणा कर देनी उचित होगी और अधिकतम दो दिवस के अंतराल में राज्याभिषेक का कार्यक्रम सम्पन्न भी कर लेना होगा ताकि उन्हें केकय पहुँचने पर जब तक सूचना प्राप्त हो, हमारे राम राजा बन चुके हों।’

फिर बड़ी देर तक दोनों मित्र रूपरेखा बनाते रहे।

राम के युवराज बनाने सम्बन्धी समस्त व्यवस्थाएँ गुप्त रूप से सम्पूर्ण करने का दायित्व दशरथ ने प्रमोद को ही सौंप दिया, ताकि घोषणा और राम के राज्याभिषेक के मध्य कम से कम समय की आवश्यकता पड़े। यह भी निश्चय हुआ कि भरत के युधाजित के साथ प्रस्थान करते ही महामात्य और सुमंत्र को भी इस विषय में सूचना दे दी जाए।

27- राम और उत्तर का विद्रोह

जिस समय दशरथ सभाकक्ष में बैठे मंत्रणा कर रहे थे, ठीक उसी समय चारों कुमार नगर भ्रमण पर निकले हुए थे। अब उनके किसी भी प्रकार के नगर भ्रमण पर कोई अंकुश नहीं था, अपितु यह तो उनका नित्य का नियम बन गया था। गुरुकुल की पढ़ाई वे लोग सम्पूर्ण कर ही चुके थे और अभी तक राज्य की ओर से उन्हें कोई दायित्व सौंपा नहीं गया था, अतः समय का कोई अभाव नहीं था उनके पास। दशरथ सोचते थे कि अभी उनके जीवन का आनंद उठाने के दिन हैं, अपनी पत्नियों के साथ भोग-विलास के दिन हैं। उन्हें क्या पता था कि उनके पुत्रों की प्रकृति उनके विपरीत है। उनके पुत्र भोग-विलास के प्रति आग्रही कदापि नहीं हैं। कर्तव्य उनके लिए सर्वप्रमुख है।

कभी-कभी तो यह नगर-भ्रमण राज्य-भ्रमण में भी परिवर्तित हो जाता था। हाँ, उस अवस्था में ये लोग माताओं तक सूचना अवश्य प्रेषित कर दिया करते थे कि संभव है उनकी वापसी में विलंब हो जाए अथवा अगले दिन वापसी संभव हो। सूचना का उद्देश्य माताओं को निश्चित करने के साथ-साथ अपनी नव-परिणीता पत्नियों को सांत्वना प्रदान करना भी होता था। इन लोगों के आगमन में विलंब होने से वे अकारण ही उद्विग्न होने लगती थीं।

गुरुकुल जीवन में जब कुमार नगर-भ्रमण के लिए निकलते थे तब सदैव पैदल ही होते थे, किंतु अब वे सदैव अश्वारूढ़ होकर निकलते थे, इसमें इन्हें सुविधा भी रहती थी। यद्यपि पिता तो चाहते थे कि कुमार रथारूढ़ होकर ही भ्रमण पर निकलें ... वे राजकुमार थे और उनका वाहन उस मर्यादा के अनुकूल ही होना चाहिए, किंतु कुमारों को रथ में बंधन प्रतीत होता था। अश्वारूढ़ होने से दूर-दूर तक भ्रमण करना सहज होता था। अश्व वहाँ भी पहुँच सकता था जहाँ तक पहुँच पाना रथ के लिए संभव नहीं होता था।

गुरुकुल की उस परिपाटी का कुमार अब भी अनुसरण कर रहे थे जिसके अनुसार कोई भी आम जन अपनी व्यथा कहने के लिये मार्ग में कहीं भी उन्हें रोक सकता था। यह एक प्रकार से अब उनका स्वभाव बन गया था। मार्ग में प्रजा-जनों द्वारा रोके जाने को वे सहज भाव से ही लेते थे। इसका परिणाम भी सुखद था। राज्य के लिये सर्वथा हितकारी था। उस काल में प्रजा, राजा को ईश्वर का प्रतिनिधि मानती थी यह सच है, फिर भी राजा का प्रजा के साथ सहज भाव से घुलना-मिलना प्रजा पर अनुकूल प्रभाव ही डालता था। प्रजा ऐसे राजा की भक्त हो जाती थी। अयोध्या की प्रजा भी अपने

कुमारों में भक्ति का भाव रखती थी। फिर राम तो उसके लिए स्वयं विष्णु का अंश थे ही।

चारों कुमार नगर मार्ग पर अपने अश्वों पर आरूढ़ दुलकी चाल से चले जा रहे थे। उनके अश्वों को देखते ही प्रजाजन सम्मान से मार्ग छोड़ कर, आस्था से सर झुका कर प्रणाम निवेदन कर रहे थे। कुमारों के, विशेषकर राम और भरत के सर निरंतर उन प्रणामों के उत्तर देने में ही व्यस्त थे।

अकस्मात एक व्यवधान आ गया।

एक मलिन-मुख प्रौढ़ा, मार्ग में हाथ जोड़े खड़ी थी। कुमारों के अश्वों को देखकर भी उसने मार्ग नहीं छोड़ा था। राम ने उसके निकट पहुँचकर अपना अश्व रोक दिया और विनम्र स्वर में पूछा-

‘क्या व्यथा है माता, हम आपके लिये क्या प्रियकर कर सकते हैं?’

‘कुमार मेरे पुत्र की जीवन-रक्षा कीजिए। आप ही उसे बचा सकते हैं!’ प्रौढ़ा ने रुँधे स्वर में कहा। उसके आँसू उसके गालों पर ढुलक आये थे।

‘माता, पूरी बात तो बताओ, हुआ क्या है?’

‘कुमार, मेरा पुत्र आजीविका के लिए उत्तर प्रांत में गया था। वहाँ उसे रक्षकों ने विद्रोही बताकर पकड़ लिया और कारागार में डाल दिया।’

‘कब हुआ यह सब?’

‘ज्ञात नहीं कुमार! यहाँ से वह तीन माह पूर्व गया था, वहाँ कब उसके साथ यह सब हुआ हमें कुछ भी नहीं ज्ञात। बस कृपा कर उसे बचा लीजिए, हम सबका जीवन उसी पर आश्रित है।’

‘किंतु माता आप अब इतने दिन बाद घटना की सूचना दे रही हैं?’

‘हमें भी अभी दो दिवस पूर्व ही तो ज्ञात हुआ है। पुत्र का एक मित्र किसी प्रकार से वहाँ से बच कर वापस आया तो उसने हमें भी सूचित किया।’

‘अधिकारियों से सम्पर्क नहीं किया आपने?’

‘किया था किंतु कोई सुनवाई नहीं हुई। ... आप कह देंगे कुमार तो हो सकता है हमारा पुत्र वापस आ जाये।’

‘प्रथम तो आप अपना परिचय दें माता, क्या नाम है आपका?’

‘शिवकली, कुमार!’

‘और आपके पति का?’

‘मधुसूदन!’

‘और आपके पुत्र का जिसे बंदी बनाया गया है?’

‘देवीदीन!’

‘कितनी आयु होगी उसकी?’

‘पचीस-छब्बीस वर्ष की होगी।’

‘और कोई विवरण जिससे उसे हम पहचान सकें?’

‘साँवला रंग है कुमार, आप से थोड़ा सा दबता। खूब लंबा है, आपसे थोड़ा ही छोटा होगा। दुबला-पतला है। छवि बहुत सुंदर है उसकी, सदैव मुख पर आपके जैसे ही मुस्कान खेलती रहती है ...’ माता अपने पुत्र की सुन्दरता का बखान करने में कभी कृपणता नहीं करती। प्रौढ़ा बताती रही और राम पूरी गंभीरता से सुनते रहे। लक्ष्मण और शत्रुघ्न मुस्कुराते रहे, भरत सदैव के समान शांत थे।

‘ठीक है माता, हम प्रयास करते हैं आपके पुत्र को खोजने का। यदि वह वास्तव में निरपराध हुआ तो हम अवश्य उसे मुक्त करायेंगे।’

उसे आश्वासन देकर कुमारों ने आगे बढ़ना चाहा किंतु यह संभव नहीं था। उन्हें खड़ा देख कर चारों ओर अनेक आमजन इकट्ठा हो गए थे। उधर उस प्रौढ़ा के आशीषों का लंबा सिलसिला भी जारी था।

कुमारों को उस प्रौढ़ा से निपटते देख एक अन्य नागरिक बोल उठा-

‘कुमार उत्तर प्रांत में सच में ही अत्यंत अत्याचार हो रहा है।’

‘तो तुम क्या चाहते हो राज्य के प्रति विद्रोह करने वालों की पूजा की जाए?’ दूसरे नागरिक ने तुरंत उसकी बात काट दी।

धीरे-धीरे उपस्थित लोग दो स्पष्ट दलों में बँट गए। एक दल विद्रोहियों के बर्बरतापूर्वक दमन का पक्षधर था तो दूसरा उनके साथ सहानुभूति रखता था और चाहता था कि उनका दमन तत्काल बंद कर दिया जाए और उनकी समस्याओं को समझने का प्रयास किया जाए।

बड़ी कठिनाई से कुमार लोगों को शांत कर पाये। राम ने सबको आश्वासन दिया कि वे स्वयं इस विषय में जानकारी करेंगे और प्रयास करेंगे कि किसी के साथ भी अन्याय न हो; साथ ही दोषियों को, चाहे वे कोई भी हों, उचित दण्ड भी मिले।

उस भीड़ से छुटकारा पाने में कुमारों का पर्याप्त समय व्यतीत हो गया। हाट की भीड़भाड़ से बाहर निकलने के बाद राम ने बगल में चल रहे लक्ष्मण की ओर प्रश्नवाचक दृष्टि से देखा।

‘मेरे विचार से तो हमें स्वयं उत्तर प्रांत की ओर चलना चाहिए। बहुत दिनों से भ्रमण भी नहीं हुआ, वह भी हो जाएगा।’ लक्ष्मण ने प्रस्ताव रखा।

‘चाहता तो मैं भी यही हूँ।’ राम बोले- ‘किंतु पिताजी से अनुमति तो लेनी ही होगी।’

‘अब हम बालक थोड़े ही रह गए हैं भ्राता, जो कहीं भी जाने से पूर्व हमें अनुमति लेनी होगी।’ अपने स्वभाव के अनुरूप लक्ष्मण बोले। फिर परिहास के स्वर में जोड़ा-

‘हम सप्तम विष्णु के भ्रातागण हैं और स्वयं सप्तम विष्णु हमारा नेतृत्व कर रहे हैं।’

लक्ष्मण की बात पर शत्रुघ्न ठठाकर हँस पड़े। भरत और स्वयं राम भी मुस्कुरा दिये। राम ने खेल में ही एक हाथ से लक्ष्मण पर वार करना चाहा किंतु लक्ष्मण को इसका पूर्वाभास था, उन्होंने झट से अपने अश्व को दाहिनी ओर काट लिया। इस प्रयास में उनका अश्व शत्रुघ्न के अश्व से टकराते-टकराते बचा।

‘सदैव परिहास अच्छा नहीं होता।’ राम ने लक्ष्मण को डाँटने का प्रयास किया।

‘परिहास से ही तो जीवन में आनंद है भ्राता ... किंतु आप दोनों इसे नहीं समझेंगे।’ लक्ष्मण कुछ बोलते उससे पूर्व ही शत्रुघ्न ने उत्तर दिया।

‘किंतु इस समय गंभीर प्रश्न हमारे सम्मुख है। परिहास, परिहास के समय ही शोभा देता है।’ भरत ने राम का समर्थन किया।

‘उस गंभीर प्रश्न से निपटने के लिये हम अभी चलने को तत्पर तो हैं। क्या किसी गंभीर परिस्थिति का सामना सदैव रुदनोन्मुख (रुआँसा) मुख के साथ ही किया जाना चाहिए।’ शत्रुघ्न हथियार डालने को तैयार नहीं थे- ‘और यह भी ध्यान रखिएगा कि आपने उस स्त्री को भरोसा दिया है उसके पुत्र को मुक्त कराने का।’

‘अब विलंब हो गया है, इस समय चलकर हम कदापि आज अपने गंतव्य तक नहीं पहुँच पायेंगे। दूसरी ओर हमारी अकस्मात अनुपस्थिति से यहाँ सभी चिंतित हो जायेंगे। पिताजी को सूचना देकर और उनकी अनुमति लेकर ही चलना उचित होगा।’ राम ने परामर्श दिया।

‘आप हमारा और हमारे अश्वों का अपमान कर रहे हैं भ्राता ...’ लक्ष्मण ने रोष का अभिनय करते हुए कहा- ‘अभी दिवस का दूसरा प्रहर ही चल रहा है, हम निश्चित ही समय रहते वहाँ तक पहुँच जायेंगे। रही सूचना की बात तो मार्ग में किसी भी सैनिक को माताओं तक सूचना पहुँचाने के लिए निर्देशित कर देंगे।’

‘किंतु ... क्या यह उचित होगा? ... पिताजी की अनुमति प्राप्त किए बिना किसी अभियान पर ...’ राम उहापोह में थे किंतु लक्ष्मण नहीं थे। राम की बात को काटते हुए वे बोल पड़े-

‘हम किसी अभियान पर कहाँ जा रहे हैं भ्राता, हम तो विहार हेतु जा रहे हैं। ... और विहार हेतु जाने के लिए किसी अनुमति की अब हमें बाध्यता नहीं है। इतनी स्वतंत्रता तो पिताजी हमें दे ही चुके हैं।’

‘हाँ भ्राता, चिंतन में समय नष्ट मत कीजिए।’ शत्रुघ्न ने भी लक्ष्मण का समर्थन किया।

राम ने सहायता के लिए भरत की ओर देखा।

‘भ्राता, आप उचित कह रहे हैं। यह एक अभियान ही होगा किंतु ये दोनों भी सही हैं। जहाँ तक इतने समय में मैं समझ पाया हूँ, यहाँ पर प्रश्न प्रजा और सत्ता के मध्य विश्वास का है। प्रजा को सत्ता पर विश्वास नहीं रहा उस क्षेत्र में। उसे प्रतीत हो रहा है कि सत्ता उसके साथ अन्याय कर रही है, उसका अकारण दमन कर रही है।’

‘वह तो है किंतु बात हमारे चलने की हो रही थी।’ राम ने बाधा दी।

‘उसी की बात कर रहा हूँ मैं भी। जब विश्वास का संकट उत्पन्न गया हो, तो उस संकट को समाप्त करने हेतु आपकी उपस्थिति से श्रेष्ठ कोई विकल्प नहीं हो सकता।’

भरत की बात सुनकर राम ही नहीं लक्ष्मण और शत्रुघ्न भी चौंक पड़े। भरत के मर्यादित चरित्र को दृष्टिगत रखते हुए किसी को भी उनसे ऐसे परामर्श की अपेक्षा नहीं थी।

‘तब क्या करणीय है?’

‘हम विहार हेतु ही चलते हैं।’

‘किंतु यह तो असत्य-भाषण होगा?’

‘नहीं होगा। हम विहार हेतु ही जायेंगे, वहाँ यदि प्रजा स्वतः ही हमसे सहायता की याचना करे तो हमारा कर्तव्य होगा कि हम उसकी सहायता करें।’

‘वैसे भी भ्राता, सत्य-असत्य जो कुछ बोलेंगे, हम बोलेंगे न, आप तो बस दायें-बायें रहना।’ शत्रुघ्न ने हँसते हुए समाधान प्रस्तुत किया।

राम अभी भी हिचकिचा रहे थे।

‘भ्राता, क्या पिताजी ने सम्पूर्ण राज्य में हमारे विहार पर कोई प्रतिबंध आरोपित किया हुआ है?’ राम को हिचकिचाते देख शत्रुघ्न ने प्रश्न किया।

‘नहीं, किन्तु ...’

‘क्या पिता जी नित्य हमसे हमारे सम्पूर्ण दिवस के क्रियाकलापों का विवरण माँगते हैं?’

‘नहीं!’ राम ने मुस्कुराते हुए उत्तर दिया- ‘किंतु ...’

‘क्या किन्तु? क्या हम लोग निर्बल प्राणी हैं जो ऐसी किसी यात्रा में संकट में घिर जायेंगे?’

‘नहीं!’ राम ने उसी भाँति मुस्कुराते हुए पुनः उत्तर दिया।

‘तब फिर यह उहापोह क्यों है? चलिए उत्साहपूर्वक! आप दोनों तो ब्रह्मर्षि के साथ सुदूर यात्रायें कर आये हैं, किंतु हम तो बस इस नगर के कारागार में ही विचरते रहे हैं। हमें यदि एक-दो दिवस के लिए उन्मुक्त भ्रमण का अवसर प्राप्त हो रहा है तो आप क्यों बाधा बन रहे हैं?’

शत्रुघ्न के इस अपनत्व भरे तर्क का राम के पास कोई उत्तर नहीं था किंतु लक्ष्मण भला कैसे चूकते!

‘क्यों तुम भी तो गए थे मिथिला? हमारी यात्रा भी तो वहीं तक की थी।’

‘तुम भ्राता के साथ उन्मुक्त विचरण करते हुए गए थे, रोमांचक यात्रा थी तुम्हारी। तुम्हारे विपरीत हम पिताजी की दृष्टि-परिधि में बंदी सीधे मिथिला गए और लौट आए। हमारी यात्रा में वह रोमांच कहाँ था जो तुम्हारी यात्रा में था!’

लक्ष्मण और शत्रुघ्न विवाद में उलझे थे और राम को सीता का कथन स्मरण हो रहा था-

‘आप राज्य द्वारा अधिकृत हों अथवा न हों, प्रकृति द्वारा आप अधिकृत हैं। सप्तम विष्णु के रूप में आपको प्रत्येक अन्याय के प्रतिकार हेतु प्रतिपल सन्नद्ध रहना ही होगा।’

‘भ्राता, आप कुछ बोलते क्यों नहीं?’ अचानक लक्ष्मण का स्वर सुनकर राम सचेत हुए।

‘अच्छा अब व्यर्थ विवाद मत बढ़ाओ। चलो, देखते हैं उत्तर प्रांत में क्या अव्यवस्था है!’ राम ने लक्ष्मण की बात को अनसुना करते हुए कहा और अपने अश्व को ऐड़ लगा दी।

अकस्मात राम के सहमत हो जाने से लक्ष्मण और शत्रुघ्न विस्मित रह गए। अपना विवाद भूलकर उन्होंने एक-दूसरे की आँखों में देखा और मुस्कुराकर अपने अश्वों को भी ऐड़ लगा दी। चारों भाई उड़ चले।

मार्ग में जो प्रथम सैनिक चौकी पड़ी वहाँ रुककर लक्ष्मण ने नियुक्त प्रहरियों को माताओं तक उनके विहार हेतु जाने की सूचना पहुँचाने का दायित्व सौंप दिया। कह दिया कि यदि दो-तीन दिवस का समय लग जाए तो चिंता न करें। चौकी में लक्ष्मण अकेले ही गए थे। उन्हें भय था कि यदि राम भी साथ आए तो पता नहीं अपने आदर्शों के अनुपालन में क्या कह बैठें।

पांचाल की सीमा पर स्थित अहिच्छत्र नगरी उत्तर प्रांत की राजधानी थी। अयोध्या से उसकी दूरी 15 योजन से अधिक नहीं थी। इस मार्ग पर वे पूर्व में कभी नहीं आये थे इसलिए मार्ग में दो-तीन स्थानों पर पूछना पड़ा। मार्ग में एक वन-क्षेत्र में थोड़ी देर रुककर कुछ फलाहार भी किया। आमों की ऋतु व्यतीत हो चुकी थी किंतु फल तो सभी स्वादिष्ट होते हैं। लक्ष्मण और शत्रुघ्न ने कुछ पलों में ही पर्याप्त फलों का ढेर लगा दिया था।

मार्ग में राम के निर्देशानुसार कुमारों ने प्रयास किया कि वे नगर क्षेत्रों को बचाकर, यदि आवश्यकता पड़े तो उनकी परिक्रमा करते हुए निकलें। नगर क्षेत्र में किसी के

द्वारा भी पहचान लिए जाने पर अनावश्यक विलंब होता।

अहिच्छत्र तक पहुँचते-पहुँचते दिन ढलने लगा। कुमारों का व्यक्तित्व और उनकी वेशभूषा ही उनकी पहचान स्पष्ट करने के लिए पर्याप्त थी। उन्हें नगर के मार्गों पर विचरण करते देख नागरिकों में कानाफूसी आरंभ हो गयी। एक स्थान पर रुककर राम ने कारागृह का पता पूछा और चारों कुमार सीधे कारागृह ही पहुँचे। कारागृह का प्रमुख कुमारों को पहचानता था। वह उन्हें देखते ही स्तब्ध रह गया। किंकर्तव्यविमूढ़ता की स्थिति में उसे समझ ही नहीं आ रहा था कि क्या करे, क्या न करे!

उसने कुमारों को देखते ही प्रांतपाल और अन्य अधिकारियों को सूचना भिजवा दी और स्वयं कुमारों के सत्कार में प्रस्तुत हो गया। उपलब्ध सबसे अच्छी पीठिकायें उसने कुमारों के बैठने के लिए मँगवाई। सादर उन्हें उन पर बैठने का निवेदन किया फिर हाथ जोड़ कर बोला-

‘कुमार, यहाँ कारागृह में आप लोगों के योग्य कोई भी व्यवस्था नहीं है, मुझे आशा है आप मेरी विवशता को समझ कर मुझे क्षमा करेंगे।’

‘उसके विषय में आप कदापि चिंतित न हों।’ राम ने सहजता से उत्तर दिया- ‘हम यहाँ किसी भव्य सत्कार की अपेक्षा से आए भी नहीं हैं। हम तो बस इस क्षेत्र को देखने-समझने के उद्देश्य से ही चले आये हैं।’

‘आप आदेश करें, मेरे लिये जो भी संभव होगा वह करने हेतु मैं तत्पर हूँ।’

‘आप उद्विग्न न हों। ऐसा कुछ भी विशेष नहीं है जिसे लेकर आपको चिंतित होना पड़े। आप सहज होकर बैठें और अपनी ओर से इस सम्पूर्ण प्रांत के विषय में और इस कारागृह के विषय में जो भी बताना उचित समझें बतायें। हम तो बस अपने राज्य को अधिक से अधिक समझना चाहते हैं।’ भरत ने उसकी असहजता को अनुभव करते हुये उसे सान्त्वना देने का प्रयास किया।

‘कुमार यदि अनुमति दें तो कुछ कहने की धृष्टता करूँ ?’ कारा प्रमुख ने वैसे ही हाथ जोड़े-जोड़े निवेदन किया।

‘आपको अनुमति है।’ राम बरबस उसकी भंगिमा को लक्ष्य कर मुस्कुरा पड़े। लक्ष्मण और शत्रुघ्न पहले ही सप्रयास अपनी हँसी रोके हुए थे और एक-दूसरे को कोहनी से टहोकते हुए अपने निराले अंदाज में मौन संवाद कर रहे थे।

‘क्षमादान भी देकर अभय करें!’ कारा प्रमुख फिर बोला।

‘दिया!’ इस बार राम के मुख पर भी हल्की सी हँसी खेल गयी।

‘कुमार, आपके आगमन का उद्देश्य निश्चित ही इस कारागृह से संबंधित है। अन्यथा अवस्था में आप का लक्ष्य राज्य-प्रमुख अथवा सैन्य-प्रमुख का निवास होता।’

‘निश्चित ही हमारे आगमन के कारणरूप में एक व्यक्ति विशेष है जो इस कारागृह में बन्दी हो सकता है। किन्तु वह हमारे आगमन का प्रमुख कारण नहीं है।’ राम मुस्कुराते हुए बोले- ‘प्रथम आप स्वयं को संयत कर लें तदुपरांत हम विस्तार से वार्ता करते हैं। किंतु तब तक आप इस सम्पूर्ण प्रांत के विषय में जो कुछ भी हमारे संज्ञान में ला सकें वह लायें। विगत दिनों अयोध्या में इस प्रांत के विषय में अनेक विवादित कथाएँ सुनने में आई हैं।’

‘उस व्यक्ति का परिचय दें कुमार, यदि वह यहाँ बन्दी है तो अभी मैं उसे आपके सम्मुख उपस्थित करता हूँ। जहाँ तक प्रान्त के विषय में प्रचलित अन्य विवादित कथाओं का प्रश्न है तो उनमें निश्चय ही सत्यता है। किन्तु उचित होगा कि उस विषय में प्रान्त-प्रमुख ही आपको संतुष्ट करें। आप समझ सकते हैं कि वह विषय मेरे अधिकार-क्षेत्र में नहीं है। उस पर कुछ भी कहना मेरे द्वारा अपनी अधिकार-सीमा का उल्लंघन ही होगा।’ काराप्रमुख ने पुनः विनम्रता पूर्वक कहा। उसकी बात सही भी थी।

लक्ष्मण और शत्रुघ्न को यह वाग्विलास भा नहीं रहा था। वे दोनों ही स्पष्टवक्ता थे, सीधी-सीधी बात करने में विश्वास रखते थे। अंततः लक्ष्मण बोल ही पड़े-

‘प्रमुख जी, एक युवक है, लगभग पच्चीस-छब्बीस वर्ष का, देवीदीन नाम है उसका ...’

लक्ष्मण आगे कुछ कहते उससे पूर्व ही काराप्रमुख बोल पड़ा-

‘जी कुमार है। क्या उसे आपके सम्मुख प्रस्तुत किया जाए?’

तभी एक रक्षक जलपान की सामग्री लेकर उपस्थित हो गया। सामग्री उसने वहीं मध्य में रखी एक पीठिका पर रख दी और हाथ जोड़ कर कमर से लगभग दोहरा होते हुए कुमारों को प्रणाम किया। कुमारों ने उसका प्रणाम स्वीकार किया। उसके सीधा होते ही काराप्रमुख ने कुमारों से जलपान स्वीकार करने का आग्रह किया और फिर उस रक्षक को आदेश दिया-

‘जाओ, वह जो देवीदीन नाम का युवक बन्दी है उसे ले आओ।’

रक्षक ने मुट्ठी भींच कर छाती पर मारते हुए प्रमुख को सैन्य-प्रणाम किया और चला गया।

‘लीजिए कुमार, यह सामग्री आपकी गरिमा के अनुकूल तो नहीं है किन्तु इससे अधिक की व्यवस्था यहाँ संभव नहीं थी। इसे ही ग्रहण कर इस कारागृह को अनुग्रहीत कीजिए।’

चारों ही कुमार उसकी मृदुभाषिता और समझदारी से प्रभावित दिख रहे थे। उन्होंने सहज भाव से जलपान ग्रहण करना आरम्भ कर दिया।

‘आप भी लीजिये!’ लक्ष्मण ने काराप्रमुख से कहा।

‘नहीं कुमार मैं यह धृष्टता कैसे कर सकता हूँ। आप लीजिए, प्रांत-प्रमुख और सैन्य-प्रमुख भी आते ही होंगे। ... आप सोच नहीं सकते कि आपके आगमन से मुझे कितनी प्रसन्नता हो रही है। मुझे ही नहीं यहाँ के सभी अधिकारियों को इस समाचार से अत्यंत संतोष प्राप्त होगा।’

यद्यपि ये काराप्रमुख के हृदय के उद्गार थे किंतु कुमारों को यह उसका विनम्रता-प्रदर्शन ही लगा। अतः कुछ उत्तर देने की आवश्यकता नहीं अनुभव की।

‘हम सब हृदयतल की गहराइयों से आपके आगमन की अभिलाषा रखते थे किंतु हमें आशा नहीं थी कि हमारी अभिलाषा पूर्ण होगी।’ काराप्रमुख कहता जा रहा था- ‘यहाँ की स्थिति सत्य ही अत्यंत विषम है। यहाँ के पूर्व अधिकारियों ने सत्य ही अनाचार की पराकाष्ठा को स्पर्श किया है।’

उसके अंतिम वाक्य ने चारों ही कुमारों को चौंका दिया था। हठात् राम के मुँह से निकल पड़ा-

‘पूर्व अधिकारियों ने ... क्या तात्पर्य है आपका?’

‘कुमार, हम सभी ने विगत एक माह के भीतर ही यहाँ का कार्यभार ग्रहण किया है। यहाँ के समाचार सुनकर महामात्य और आमात्य सुमन्त्र ने यहाँ के सभी अधिकारियों को निलम्बित कर दिया है और हम सबको इस स्पष्ट निर्देश के साथ यहाँ नियुक्त किया है कि विशेष संवेदनशीलता से यहाँ की विषम परिस्थितियों को सुलझाने का प्रयास करें।’

‘तात्पर्य, आप सभी स्वयं अभी यहाँ कुछ काल पूर्व ही नियुक्त हुए हैं? तब तो आप लोग भी परिस्थितियों से अभी पूर्णतः परिचित नहीं होंगे।’ राम ने संदेह व्यक्त किया।

‘ऐसा नहीं है कुमार, हम इतने दिनों में ही परिस्थितियों को भलीभाँति समझ चुके हैं ... और प्रांत-प्रमुख ने महामात्य के पास अपना निवेदन भी प्रेषित किया था कि यहाँ की स्थिति मात्र आप ही नियंत्रित कर सकते हैं।’

‘आप अकारण मुझे महिमामंडित करने का प्रयास कर रहे हैं। यह राजनैतिक समस्या है और हम लोगों को अभी राजनीति की रत्तीभर भी समझ नहीं है।’ राम ने सदैव की भाँति अपनी प्रशंसा से असहज होते हुए कहा।

‘कुमार यह आपकी विनम्रता है जो आप अपनी प्रशंसा से संकुचित होते प्रतीत हो रहे हैं, किन्तु सत्य यही है।’ काराप्रमुख के स्वर में भक्ति का भाव था।

राम कुछ उत्तर देते उससे पूर्व ही रक्षक एक बन्दी को लेकर आता दिखाई पड़ा। यही संभवतः देवीदीन था, जिसकी माता ने प्रातःकाल कुमारों से अपना दुखड़ा रोया था।

‘लीजिए कुमार देवीदीन आ गया।’ काराप्रमुख ने उनके अनुमान पर अपनी मुहर लगाते हुए कहा।

देवीदीन औसत कद का सामान्य सा युवक था जिसके चेहरे पर मलिनता सर्वत्र व्याप्त थी। वह मात्र अधोवस्त्र धारण किए था, वह भी गन्दा हो रहा था। वह चुपचाप सिर झुकाये चला आ रहा था। वह किसी भी प्रकार के बन्धन में नहीं था। रक्षक भी उसके पीछे निश्चित भाव से चला आ रहा था, जैसे उसे इस बन्दी द्वारा किसी भी प्रकार के उपद्रव की कोई आशंका न हो।

कुमारों ने उसे देखा।

‘अपनी दृष्टि ऊपर उठाओ देवीदीन! देखो तो तुमसे भेंट करने कौन आया है!’ देवीदीन के निकट आते ही काराप्रमुख ने सहज स्वर में कहा।

देवीदीन ने अपना चेहरा ऊपर उठाया। उसकी दृष्टि कुमारों पर पड़ी। एक पल को वह खोयी-खोयी आँखों से उन्हें देखता रहा किन्तु अगले ही क्षण उसके नेत्रों में पहचानने का भाव चमक उठा। उसकी आँखों से अश्रु प्रवाहित हो उठे। वह दौड़ कर राम के चरणों में लेट गया।

‘मेरा तो जीवन सफल हो गया। प्रभु स्वयं मुझे दर्शन देने चले आये।’ हिचकियों से भरे स्वर में वह किसी प्रकार इतना भर कह पाया।

लोगों का यह भक्ति प्रदर्शन राम को सदैव असहज कर देता था। परंतु किसी भी प्रकार इसे सहन करना उनकी विवशता थी। ब्रह्मर्षि ने ऐसा देवत्व उन पर आरोपित कर दिया था कि कहीं मुक्ति की संभावना नहीं दिखती थी।

अन्य तीनों कुमार उनकी इस असहजता का आनंद ले रहे थे।

‘उठो-उठो!’ राम हड़बड़ाये स्वर में उसे कंधों से पकड़कर उठाने का प्रयास करते हुए बोले।

‘नहीं प्रभु! भक्त का स्थान तो प्रभु के चरणों में ही होता है।’ देवीदीन उसी प्रकार उनके चरणों को अपने आँसुओं से धोता हुआ बोला।

‘क्या भक्त का कर्तव्य प्रभु के आदेश की अवहेलना भी है?’ यह प्रश्न अचानक लक्ष्मण की ओर से आया था। वे राम को उस असहज स्थिति से उबारना चाहते थे।

लक्ष्मण के कथन की देवीदीन पर वही प्रतिक्रिया हुई जिसका लक्ष्मण को अनुमान था। वह अपने आँसू पोंछता हुआ उठ बैठा और श्रद्धापूर्वक राम के मुख की ओर निहारने लगा।

‘प्रमुख जी! यदि इस कारागृह में रहने से प्रभु के दर्शन प्राप्त होते हैं तो मुझे जीवन पर्यंत यहाँ रहना स्वीकार है।’ अचानक देवीदीन काराप्रमुख की ओर उन्मुख होकर बोल पड़ा।

उसकी बात सुनकर लक्ष्मण और शत्रुघ्न ठठाकर हँस पड़े। बाकी भी अपनी मुस्कान रोक नहीं पाये।

‘और वहाँ तुम्हारे माता-पिता तुम्हारे वियोग में दर-दर की ठोकरें खाते रहें और अंततः प्राण त्याग दें? उनके प्रति कोई कर्तव्य नहीं है तुम्हारा?’ राम ने उसकी भक्ति से असहज होकर उसे झिड़का।

यह बात आगे नहीं बढ़ पाई। अचानक अश्वों की टापों ने सबका ध्यान आकर्षित किया।

‘प्रतीत होता है प्रान्त प्रमुख आ गये।’ काराप्रमुख बोलते-बोलते उठ खड़ा हुआ।

फिर टापों का स्वर रुक गया और कारागृह के द्वार पर किसी रथ के रुकने का स्वर सुनाई पड़ा।

‘कुमार, मुझे कुछ पलों के लिए अपने अधिकारियों के स्वागत के लिए जाने की अनुमति प्रदान करें।’ काराप्रमुख ने हाथ जोड़कर कहा।

राम ने अनुमति में सर हिला दिया और फिर घूमकर देवीदीन की ओर देखने लगे।

‘क्या संबंध है तुम्हारा, यहाँ के विद्रोहियों के साथ?’ राम ने उसकी आँखों में झाँकते हुए प्रश्न किया।

‘कुछ भी नहीं प्रभु!’ उसने उत्तर दिया।

‘तो क्या अकारण ही तुम्हें बन्दीगृह में डाल दिया गया?’

‘मुझे स्वयं नहीं ज्ञात प्रभु! मुझे बन्दी बनाते समय कहा गया था कि मैं विद्रोहियों को अस्त्र विक्रय करता हूँ।’

‘क्या तुम ऐसा करते थे?’

‘प्रभु! अन्य पण्य सामग्री के साथ-साथ मेरे पास पाँच कृपाणें भी थीं, जिनमें से तीन मैंने विक्रय भी की थीं, किन्तु मुझे नहीं ज्ञात कि क्रयकर्ता कौन थे। कुछ भी विक्रय करते समय कोई भी विक्रेता इसका विवरण नहीं लेता, उसे तो मात्र अपनी सामग्री का उचित मूल्य प्राप्त करना होता है। ... और फिर मैं तो यहाँ किसी को जानता भी नहीं था कि कौन विद्रोही है कौन नहीं!’

यह बातचीत यहीं पर रुक गयी। काराप्रमुख के साथ तीन व्यक्ति और प्रवेश कर रहे थे। एक तो अपनी वेशभूषा से ही लग रहा था कि सैन्य प्रमुख होगा। दूसरा निश्चित ही प्रान्त प्रमुख होना चाहिए था, तीसरे के विषय में कुमारों को कोई अनुमान नहीं था।

कारागार प्रमुख ने तीनों से कुमारों का परिचय करवाया।

प्रान्त-प्रमुख भद्रमणि, छः हाथ से भी अधिक लम्बे, खल्वाट सिर, लम्बी दाढ़ी, जिसमें कुछ श्वेत केश भी आने लगे थे, वाले वृद्धावस्था की ओर अग्रसर हो रहे व्यक्ति

थे। उनकी वयस सत्तर वर्ष से अधिक ही होगी। माथे पर चन्दन की तीन रेखायें खिंची हुई थीं। बदन पर श्वेत अधोवस्त्र और श्वेत ही उत्तरीय सुशोभित था। यज्ञोपवीत और गले में एक रुद्राक्ष की माला के अतिरिक्त उनके शरीर पर कोई अलंकरण नहीं था। पैरों में काठ की खड़ाऊँ पहने हुए थे। उनके तेजोद्दीप्त आनन पर अनुभव और बुद्धिमत्ता स्पष्ट झलक रही थी।

सैन्य-प्रमुख रुद्रादित्य, लगभग पचास वर्ष की आयु के अत्यंत हृष्ट-पुष्ट शरीर के व्यक्ति थे। लम्बाई उनकी भी भद्रमणि के बराबर ही थी। उनके लम्बे काले बाल सिर पर बँधी रक्त वर्ण की पगड़ी के नीचे से निकल कर गर्दन के पीछे कंधों तक लहरा रहे थे। लम्बी गलमुच्छेदार मूछें पूरे गालों को घेरे हुये थीं। दाढ़ी सफाचट थी। गले में, बाहुओं में और पगड़ी पर भी स्वर्णिम आभूषण शोभा पा रहे थे। उनका कौषेय उत्तरीय और श्वेत अधोवस्त्र भी बहुमूल्य था। पैरों में रत्नजटित व्याघ्र-चर्म पादुकायें थीं। अन्य आभूषणों के साथ ही शरीर पर कई स्थानों पर सुशोभित विभिन्न युद्धों में पाये गये घावों के चिन्ह भी उनकी वीरता की कहानी कह रहे थे। योद्धा ऐसे चिन्हों को छिपाने के स्थान पर उन्हें प्रदर्शित करने में गौरव अनुभव करते थे।

तीसरा व्यक्ति, अश्वतीर्थ एक बिलकुल सामान्य सा दिखने वाला व्यक्ति था, किंतु उसकी आँखों का पैनापन उसे सबसे अलग करता था। राम ने अनुभव किया कि उसकी आँखों में कुछ अलग ही बात है, ऐसी आँखें उन्होंने पहले कभी नहीं देखी थीं। ऐसा लगता था जैसे उसकी दृष्टि किसी भी व्यक्ति को भीतर तक बेधने की सामर्थ्य रखती हो। अन्य दोनों अधिकारी अयोध्या से भेजे गए थे किन्तु उनके विपरीत अश्वतीर्थ यहाँ का स्थानीय निवासी था और सत्ता व विद्रोहियों के मध्य चल रही वार्ता में सेतु के दायित्व का निर्वहन कर रहा था। स्थानीय होने के कारण, उसके लिए विद्रोहियों का विश्वास जीतना अपेक्षाकृत सरल माना गया था।

औपचारिक परिचय के उपरांत राम ने भद्रमणि से प्रश्न किया-

‘प्रमुख जी, इस युवक देवीदीन के विषय में आपका क्या विचार है। क्या सत्य ही इसका विद्रोहियों से किसी प्रकार का सम्पर्क है?’

‘नहीं कुमार, मेरे विचार से तो यह अकारण ही बन्दी बना लिया गया है। हमें अभी तक इसकी विद्रोहियों से सम्बद्धता का कोई प्रमाण नहीं प्राप्त हुआ है।’

‘आप क्या सोचते हैं इस विषय में रुद्रादित्य जी?’ राम ने वही प्रश्न सैन्य प्रमुख से दोहराया।

‘मुझे ज्ञात तथ्यों अनुसार भी यह युवक निर्दोष है। हमने अभी तक इसकी किसी भी षड़यंत्र में संलिप्तता नहीं पाई है। वैसे भी हमारा मानना है कि वास्तविक दोषी राज-कर्मी रहे हैं। उनकी मदान्धता ने भोले-भाले प्रजा-जनों को विद्रोह के लिए विवश

किया। अतः यह तो वैसे भी मुक्त होने का पात्र है। फिर भी इस विषय में सर्वाधिक प्रामाणिक मत मेरे विचार से अश्वतीर्थ का होगा, क्योंकि यही तो विद्रोहियों से सम्पर्क बनाने का ही कार्य कर रहे हैं।' कहने के साथ ही सैन्य-प्रमुख ने अश्वतीर्थ की ओर देखा। यह उसके लिये स्पष्ट संकेत था कि वह अपना मत प्रस्तुत करे।

राम और अन्य सभी उपस्थित व्यक्तियों की दृष्टि भी स्वतः ही उसकी ओर घूम गयी।

‘कुमार, यह युवक निस्संदेह निर्दोष है। साथ ही मुझे नहीं प्रतीत होता कि यह किसी भी विद्रोही से परिचित भी है अथवा किसी अन्य प्रकार से उनके साथ सम्पर्क स्थापित करने में हमारी कोई सहायता कर सकता है। इसे वस्तुतः अभी तक रोक कर इसीलिए रखा गया था कि सम्भव है विद्रोही इससे सम्पर्क करने का प्रयास करें और हमें उस बहाने कोई मार्ग मिले, परंतु अब मुझे यह स्पष्ट हो चुका है कि यह संभव नहीं है। यह अकारण ही दण्ड का भागी बन गया है। इसे ससम्मान मुक्त करना ही उचित होगा।’

‘तो फिर इस स्थिति में इसे अभी तक मुक्त क्यों नहीं किया गया?’ राम ने प्रश्न किया।

‘तीन कारण थे कुमार!’ भद्रमणि ने कुछ सोचते हुए स्पष्ट करना आरंभ किया-

‘प्रथम तो हम प्रतीक्षा कर रहे थे कि हो सकता है कि विद्रोहियों का कोई प्रतिनिधि इससे सम्पर्क करने का प्रयास करे और इस बहाने हमें आगे बढ़ने का कोई सूत्र प्राप्त हो जाए।

‘दूसरा यह, कि हमें ज्ञात है कि इसके पास इतने संसाधन नहीं हैं जो यह सकुशल अयोध्या तक पहुँच सके। इसके पास जो भी सम्पत्ति अथवा सामग्री थी, इसके बन्दी होने के उपरांत उसका क्या हुआ किसी को नहीं ज्ञात।

‘और तीसरा सबसे प्रमुख कारण यह है कि अभिलेखों में इसका उल्लेख विद्रोहियों के सहयोगी के रूप में ही है। हम लोगों के अधिकार में विद्रोहियों से सम्पर्क कर सहानुभूतिपूर्वक उन्हें समझाकर विद्रोह का मार्ग छोड़ने के लिए मनाना भर है। विद्रोहियों को क्षमादान देना हमारे अधिकार क्षेत्र में नहीं है। हम महाराज की ओर से अधिकृत किसी प्रतिनिधि की अनुशंसा के अभाव में किसी भी विद्रोही को मुक्त नहीं कर सकते। अभी हमें स्वयं ही यह ज्ञात नहीं है कि इस विषय में महाराज का मत क्या है।’

‘हूँ S S S!’ राम ने विचारमग्न मुद्रा में हुंकारी भरी।

प्रान्त-प्रमुख ने कहना जारी रखा-

‘इसीलिए हमने विशेष रूप से आमात्य सुमन्त्र के पास संदेश भेजा था कि वे कुछ ऐसा प्रबंध करें कि आप स्वयं यहाँ आ सकें।’

‘विशेष रूप से मेरे लिए ही क्यों? इस विषय को सुलझाने के लिए तो किसी निपुण राजनीतिज्ञ की आवश्यकता थी, मुझ जैसे किसी अपरिपक्व की नहीं?’ राम ने मुस्कुराते हुए पुनः प्रश्न किया।

‘कुमार, यहाँ की परिस्थितियों में राजनीतिज्ञ की नहीं, ऐसे सहृदय व्यक्ति की आवश्यकता है जिसके कथन पर विद्रोही विश्वास कर सकें। और जिसमें किसी भी प्रकार का निर्णय लेने की सामर्थ्य हो। ऐसा व्यक्तित्व सम्पूर्ण राज्य में आपके अतिरिक्त दूसरा कोई नहीं है।’

‘किंतु हम भी महाराज के द्वारा अधिकृत रूप से नहीं आए हैं। हम तो मात्र विहार के उद्देश्य से ही इधर निकल पड़े थे। वस्तुतः महाराज को तो ज्ञात ही नहीं कि हम यहाँ आए हैं।’ लक्ष्मण ने हस्तक्षेप किया।

‘और हमें तो यह भी नहीं ज्ञात कि आपका संदेश आमात्य सुमन्त्र तक पहुँचा अथवा नहीं और उनकी अभी तक महाराज से इस संबंध में कोई वार्ता हुई अथवा नहीं।’ राम ने कहा।

‘उससे क्या अंतर पड़ता है कुमार! आप लोग कुमार हैं यह तो अकाट्य सत्य है, कुमार राम अयोध्या के भावी सम्राट् हैं यह भी वास्तविकता है। युवराज के रूप में ये तो स्वयं ईश्वर द्वारा कोई भी निर्णय लेने के लिए अधिकृत हैं। स्वयं महाराज के उपरांत स्वतः ही इनका आदेश सर्वोपरि है। ... दूसरे सम्पूर्ण राज्य में यही एकमात्र ऐसे व्यक्ति हैं जिनपर मात्र अयोध्या ही नहीं सम्पूर्ण आर्यावर्त के प्रत्येक व्यक्ति के मन में अगाध श्रद्धा है। क्या मुझे यह कहने की आवश्यकता है कि ये प्रजा के हृदय में स्वयं प्रभु श्रीविष्णु के अवतार के रूप में प्रतिष्ठित हैं। इनमें विद्रोहियों को भी उतनी ही आस्था है जितनी हम सबको है।’

‘तो अब क्या करणीय है?’ राम ने विचारमग्न मुद्रा में पुनः प्रश्न किया।

‘यह निर्णय तो आपको लेना है कुमार। हम प्राण-पण से आपके निर्णय का अनुपालन करने हेतु तत्पर हैं।’

कुछ काल तक कक्ष में मौन व्याप्त रहा। राम बारी-बारी से अपने भाइयों की ओर देखते रहे। फिर भरत का संकेत समझ कर बोले-

‘हमें कुछ समय दीजिए, परस्पर इस विषय पर विचार करने के लिए। अभी तक तो हम लोग मात्र गुरुजनों की आज्ञाओं का ही अनुपालन करते रहे हैं। शासन-प्रशासन संबंधी कोई छोटा सा भी निर्णय लेने की आवश्यकता ही नहीं पड़ी कभी। फिर यह तो अत्यंत महत्वपूर्ण एवं संवेदनशील विषय है।’

‘कुमार इस भाँति अनुमति माँग कर हमें लज्जित मत कीजिए ...’ प्रांत-प्रमुख ने विनम्रता से हाथ जोड़ कर कहा- ‘आप हमें आदेश कीजिए। कहने के साथ ही सभी अधिकारियों में आँखों ही आँखों में संकेत हुआ और सब उठकर बाहर निकलने को उद्यत हो गए।

‘नहीं-नहीं! आप लोग यहीं बैठिए!’ कहते हुए राम स्वयं उठ खड़े हुए। उनके साथ ही उनके तीनों भाई भी उठ खड़े हुए- ‘इसी बहाने हम इस कारागृह का निरीक्षण भी कर लेंगे।’ फिर वे कारा-प्रमुख से संबोधित हुए- ‘अपने मात्र कुछ पल हमें दीजिये मार्ग दिखाने के लिए।’

राम के प्रस्ताव को आदेश के समान ही स्वीकार किया गया।

वाह्य कक्ष, जिसमें अभी तक ये लोग बैठे थे, के दोनों ओर दस-दस विशाल कक्ष थे। एक ओर सबसे कोने में भंडारगृह और उसकी बगल में पाकशाला थी। उसके बाद दो कक्ष सहायक कर्मियों के लिए थे। फिर पाँच कक्ष रक्षकों के लिए थे। वाह्य या मुख्य कक्ष के दोनों ओर एक-एक शस्त्रागार था। दूसरी ओर के दसों कक्ष बन्दी-रक्षकों के प्रयोग के लिए थे। कारागार के सुदूर दूसरे छोर पर भी ऐसे ही चौबीस कक्ष थे जिनमें मध्य के दो कक्ष शस्त्रागार के रूप में और शेष बन्दी रक्षकों और सहायक कर्मियों के लिए प्रयुक्त होते थे।

कारागार के शेष दोनों ओर इस छोर से उस छोर तक पंक्ति में ढाई-ढाई सौ कोठरियाँ बनी हुई थीं जिनमें से प्रत्येक कोठरी में दो-दो बन्दी रखे जाने की व्यवस्था थी। इस पूरे निर्माण के मध्य विशाल मैदान था जिसे मध्य में ऐसी ही कोठरियों की दोहरी पंक्ति द्वारा दो भागों में विभाजित कर दिया गया था। दोनों पंक्तियों की कोठरियों के निकास द्वार विपरीत दिशाओं में थे। मध्य की कोठरियों की पंक्ति के दोनों छोरों पर एक साथ दो-दो रथों के निकलने भर का स्थान छोड़ दिया गया था। इस कारण इन पंक्तियों में कोठरियों की संख्या दो-दो सौ रह गयी थी। इस प्रकार कुल नौ सौ कोठरियाँ थीं। किसी भी कोठरी में प्रवेश द्वार के अतिरिक्त कोई झरोखा इत्यादि नहीं था।

कोठरियों की मध्य की पंक्ति ने अत्यंत विशाल मैदान को दोनों छोरों से आपस में जुड़े दो विशाल मैदानों में विभक्त कर दिया था। दोनों ही मैदान इतने बड़े थे कि उनमें एक साथ कई सहस्र व्यक्ति बड़ी सरलता से समा सकते थे।

कारागार के भवन के चारों ओर एक कम से कम पचास हाथ ऊँची परिहा (चहारदीवारी) थी। परिहा की दीवार इतनी चौड़ी थी कि एक रथ उसपर बड़ी सरलता से दौड़ सकता था। इस दीवार के चारों कोनों पर एक-एक गुम्बदनुमा निर्माण था। प्रत्येक गुम्बद में अहोरात्र चार-चार सशस्त्र सैनिक नियुक्त रहते थे।

परिहा और मुख्य भवन के मध्य आगे की ओर 100 हाथ चौड़ा स्थान छूटा था तथा शेष तीनों ओर तीस-तीस हाथ स्थान छूटा था। आगे के इस रिक्त मैदान के अतिरिक्त शेष तीनों ओर के रिक्त स्थान में विशेष प्रकार की घनी काँटेदार झाड़ियाँ भरी हुई थीं। इन झाड़ियों की विशेषता यह थी कि इनके काँटे विषैले थे। किसी व्यक्ति के शरीर में इनके काँटे चुभने के कुछ ही पलों में वह व्यक्ति अचेत हो जाता था और यदि समय रहते उपचार न मिला तो दिन बीतते-बीतते वह मृत्यु का वरण कर लेता था।

कारागार में उत्तर की ओर के मैदान के दोनों ओर की कोठरियों में मात्र विद्रोही ही बन्दी थे। इनमें कई कोठरियों में तीन-तीन बन्दी भी थे।

दक्षिण की ओर के मैदान के दोनों ओर की कोठरियाँ आधे से अधिक रिक्त थीं। इनमें सामान्य बन्दी थे।

पूरे कारागार का एक चक्कर काटने के बाद राम ने कारा-प्रमुख को मुक्त कर दिया और चारों भाई स्वयं उत्तर की ओर के मैदान में खड़े होकर विचार करने लगे।

कुछ काल तक परस्पर विचार-विनिमय के उपरांत राम ने परिसर में घूम रहे रक्षक-सैनिकों में से एक को पुकारा और समस्त अधिकारियों को वहीं बुला लाने का आदेश दिया।

कुछ पलों में ही चारों अधिकारी वहीं उपस्थित थे।

‘इन समस्त बन्दियों को बाहर निकलवाइये ताकि मैं सबसे वार्ता कर सकूँ।’ राम ने कारा-प्रमुख को आदेश दिया।

काराप्रमुख ने एक ओर हटकर खड़े दो बंदी रक्षकों को बुलाकर कुछ वार्ता की।

वार्ता के उपरांत दोनों रक्षक अपने-अपने निर्देशों के अनुपालन में लग गये। थोड़ी ही देर में उस सम्पूर्ण मैदान को सशस्त्र रक्षकों ने घेर लिया। फिर कुछ रक्षकों ने बन्दियों की कोठरियाँ खोलना आरंभ किया।

धीरे-धीरे इन लोगों के सम्मुख विद्रोही बन्दियों की भीड़ लगनी आरंभ हो गयी।

‘कुल कितने विद्रोही बन्दी हैं इस कारागार में?’ राम ने कारा-प्रमुख से प्रश्न किया।

‘एक सहस्र से कुछ अधिक, कुमार!’

‘कब से बन्दी हैं ये?’

‘इनमें सबसे प्राचीन चार वर्षों से बन्दी हैं। तब से निरंतर कुछ न कुछ बढ़ ही रहे हैं।’

‘क्या बन्दी बनाए गया कोई भी विद्रोही मुक्त भी किया गया है?’

‘नहीं कुमार! विगत चार वर्षों में बन्दी बनाया गया कोई भी विद्रोही मुक्त नहीं किया गया।’

‘क्या इन्हें बन्दी बनाने से पूर्व किसी न्यायाधीश के सम्मुख भी प्रस्तुत किया जाता है?’

‘नहीं कुमार, सामान्य अपराधियों को न्यायालय में प्रस्तुत किया जाता है किन्तु राजद्रोहियों अथवा किसी युद्ध में बन्दी बनाए गए विदेशी सैनिकों को न्यायालय के समक्ष प्रस्तुत करने का नियम नहीं। उन्हें तो स्वतः दोष-सिद्ध माना जाता है।’

‘यदि इनमें से कोई वास्तव में निर्दोष हो तो ? यदि आपको अपनी छानबीन में उसकी निर्दोषिता के स्पष्ट प्रमाण मिल जायें तो?’

‘तो भी राजद्रोहियों के विषय में हम स्वयं कोई निर्णय नहीं ले सकते। हम अधिकतम आमात्यो के माध्यम से उनकी निर्दोषिता के प्रमाण महाराज तक प्रेषित करने का प्रयास कर सकते हैं।’

‘अर्थात् यदि किसी को एक बार राजद्रोह का आरोप लगाकर कारागार में डाल दिया जाए, तो उसका सम्पूर्ण जीवन यहीं एक कोठरी में व्यतीत होना उसकी नियति बन जाती है?’

‘जी कुमार, आमात्य के निर्देशानुसार हमने फिर भी इनके लिए जीवन अत्यंत सहज कर दिया है, अन्यथा तो इस प्रकार के बन्दियों को अत्यंत अमानवीय स्थितियों में रहना पड़ता है।’

अब तक सभी बन्दी उनके सम्मुख एकत्र हो गए थे। बीस-पच्चीस सशस्त्र रक्षक इन लोगों के चारों ओर जमा हो गए थे और बड़ी संख्या में बन्दियों को चारों ओर से घेरे थे। बन्दियों पर इन रक्षकों की उपस्थिति का कोई प्रभाव नहीं था। उनमें से दस-बारह एक ओर शांत भाव से बैठे इन सबकी ओर निहार रहे थे, शेष रक्षकों से घिरे मैदान में इस भांति विचर रहे थे मानों अधिकारियों के आदेश पर एकत्र हुए न होकर किसी उपवन में विहार कर रहे हों। उन दस-बारह बन्दियों के अतिरिक्त कोई भी कुमारों और अधिकारियों की ओर ध्यान देता प्रतीत नहीं हो रहा था। यह अवहेलनापूर्ण आचरण स्पष्ट रूप से राजसत्ता के प्रति उनके विरोध को प्रदर्शित कर रहा था।

‘आप सभी कृपया इधर ध्यान दें।’ कारा-प्रमुख ने ऊँचे स्वर में सबका ध्यान आकर्षित करने का प्रयास किया। किन्तु कोई विशेष अन्तर नहीं पड़ा, बस दस-बारह व्यक्ति और उन पहले से बैठे व्यक्तियों के साथ आकर बैठ गये।

‘क्या आप लोगों को भान है कि आपके सम्मुख आज कौन उपस्थित है?’ कारा प्रमुख ने पुनः उदासीनता दिखा रहे बन्दियों को आकृष्ट करने का निष्फल प्रयास किया।

‘सब लोग इधर ध्यान दीजिए।’ इस बार सैन्य प्रमुख ने अत्यंत उच्च और कुछ रोष भरे स्वर में कहा।

‘कुछ बोलोगे तब न ध्यान देंगे!’ एक व्यक्ति ने घूम कर ढीठता से कहा।

उस व्यक्ति ने मात्र एक अधोवस्त्र पहन रखा था। ऊपर का पूरा बदन अनेक अब काले पड़ चुके निशानों से, जो कभी गहरे नीले रहे होंगे, भरा हुआ था। निस्संदेह बहुत मार खाई होगी उसने और संभव है इस मार ने ही उसकी ढीठता को और भी उभार दिया हो।

‘हम लोग बहुत काल से यत्न कर रहे हैं कि आप लोगों से और सम्पूर्ण क्षेत्र में बिखरे आपके सहयोगियों से मित्रतापूर्ण वातावरण में वार्ता कर कोई सम्मानजनक हल निकाला जा सके।’

‘संभव नहीं है।’ एक अन्य व्यक्ति ने उसी ढीठता से उत्तर दिया।

‘सच्चे मन से यदि प्रयास किया जाए तो कुछ भी असंभव नहीं है। निष्कपट वार्ता से प्रत्येक गतिरोध का हल निकल सकता है।’

‘कपटियों के प्रमुख निष्कपट वार्ता के लिए हमें आमंत्रित कर रहे हैं।’ पहले वाला व्यक्ति ठठाकर हँसते हुए उपहास भरे स्वर में बोला।

‘तुम लोग समझते क्या हो स्वयं को, हम जितना तुम्हारे साथ सहृदयता का व्यवहार करना चाहते हैं, तुम लोग उतनी ही ढीठता पर उतर आते हो।’ सैन्य प्रमुख आक्रोषित हो उठे थे। चारों ओर खड़े सैनिकों के हाथ भी अपनी कटारों की मूठ पर कस गए थे।

‘आभीर SSS ...’

पहले वाला व्यक्ति फिर कोई तीखा उत्तर देने जा रहा था किंतु उन बैठे हुए व्यक्तियों में से एक का तीव्र स्वर सुनकर ठिठक गया।

‘सैन्य-प्रमुख जी!’ वह व्यक्ति खड़ा होते हुए गम्भीर किंतु विनम्र स्वर में बोला- ‘मैं मानता हूँ कि विगत कुछ माह में आपके व्यवहार में परिवर्तन आया है। यहाँ दिखाई देने वाली आकृतियाँ भी बदल गयी हैं। किंतु इसका क्या प्रमाण है कि सत्य ही आपका हृदय-परिवर्तन हो गया है? आप भी तो उसी कुटिल सत्ता के एक प्रतिनिधि हैं!’

‘क्या हमारा आप लोगों के प्रति बदला व्यवहार हमारे सौहार्द्रपूर्ण दृष्टिकोण का परिचायक नहीं है?’ उत्तर प्रान्त-प्रमुख ने दिया।

‘कदापि नहीं। कूटनीति में ऐसी चालें तो प्रत्येक खिलाड़ी चलता ही रहता है। जब आप शक्ति के द्वारा हमारा दमन नहीं कर पाये तो अब सहृदयता का मुखौटा ओढ़ लिया।’

‘नहीं, ऐसा नहीं है। हम सत्य ही हृदय से सबका हित चाहते हैं। अयोध्या से हमें इसी निर्देश के साथ भेजा गया है कि आपके साथ मित्रवत वातावरण में वार्ता कर आपके साथ हुए अन्याय का प्रतिकार किया जाए।’

‘बन्दियों और सत्ता में कहीं मित्रता होती है प्रमुख जी!’ उस व्यक्ति ने मुस्कुराते हुए उत्तर दिया।

प्रमुख कुछ कहने जा रहे थे किंतु राम ने उनका हाथ दबाते हुए रोक दिया। उन्हें एक बार पुनः सीता का कथन स्मरण हो आया था और उसके साथ ही उन्होंने अपना कर्तव्य निश्चित कर लिया था।

‘रुद्रादित्य जी! सारे रक्षकों से कहिए घेरा हटा लें और अपने कक्षों में चले जायें।’

‘किंतु ...?’ सैन्य-प्रमुख ने अविश्वास से भरे स्वर में प्रतिरोध करना चाहा।

‘इसे आदेश समझिये!’ राम का स्वर दृढ़ था भले ही उनके मुख पर अभी भी सर्वदा नृत्य करने वाली स्मित नृत्य कर रही थी।

सैन्य-प्रमुख के संकेत पर सैनिक हिचकिचाते हुए पीछे हट गए।

‘अपने-अपने कक्षों में जायें समस्त सैनिक!’ राम ने ऊँचे स्वर में आदेश दिया।

सैनिक अभी कुमारों को पहचान नहीं पाए थे किंतु जिस प्रकार उनके अधिकारी उनके सम्मुख समर्पित भाव से व्यवहार कर रहे थे, उससे इतना तो उन्हें भी स्पष्ट हो ही गया था कि वे निश्चित ही कोई बहुत अधिक अधिकार सम्पन्न व्यक्तित्व हैं।

सारे सैनिक हिचकिचाते हुए अपने कक्षों की ओर बढ़ने लगे।

‘किंतु ये लोग आक्रामक हो सकते हैं!’ सैन्य प्रमुख ने एक बार फिर प्रतिरोध करना चाहा।

‘धैर्य रखें, रुद्रादित्य जी! कुछ नहीं होगा।’

इस अकल्पनीय से घटनाचक्र से अधिकारी और सैनिक ही नहीं स्वयं बन्दी भी आश्चर्यचकित थे। जो विद्रोही बारम्बार आग्रह करने से भी इनकी ओर उन्मुख नहीं हो रहे थे अनायास हतप्रभ से मुँह बाये, अब इन्हीं की ओर ताक रहे थे कि यह हो क्या रहा है!

जब सैनिक अपने कक्षों तक पहुँच गए तो राम ने अधिकारियों को अगला आदेश दिया-

‘आप लोग भी कुछ पग पीछे हो जायें।’

अधिकारीगण हिचकिचाये।

‘हमारी सुरक्षा को लेकर भयभीत न हों आप। हम स्वयं अपनी सुरक्षा करने में समर्थ हैं।’ राम ने दृढ़ स्वर में कहा।

अधिकारियों के सामने कोई उपाय नहीं था। चारों अधिकारी कुछ पीछे हट गए। अब मात्र कुमार ही उन सहस्त्राधिक बंदियों के ठीक सामने खड़े थे।

‘आपमें से कोई कदापि एक पग भी आगे नहीं बढ़ायेगा।’ राम ने पुनः अधिकारियों को चेतावनी दी और अपनी शाश्वत स्मित के साथ, उस गंभीर व्यक्ति की ओर बढ़े।

वह व्यक्ति भी अचंभित था।

‘कुमार !! यह क्या कर रहे हैं आप?’ पीछे से प्रान्त-प्रमुख ने आर्तनाद सा किया।

‘प्रमुख जी!’ लक्ष्मण ने पीछे घूमते हुए प्रमुख को इस प्रकार झिड़का कि उनका स्वर उन अधिकारियों और भरत-शत्रुघ्न के अतिरिक्त कोई नहीं सुन सका- ‘आपको क्या भ्राता की सामर्थ्य में कोई शंका है? आप क्या अब भी नहीं जानते कि वस्तुतः वे क्या हैं?’

अचानक वह व्यक्ति, जिसे गंभीर दिखने वाले व्यक्ति ने आभीर नाम से सम्बोधित किया था, आक्रामक रूप से राम की ओर बढ़ा किंतु वह व्यक्ति पुनः तीव्र आदेशात्मक स्वर में बोला- ‘पीछे हटो आभीर!’

आभीर के पैर जैसे अपने स्थान पर जम गए। वह प्रस्तर-मूर्तिवत् जहाँ था वहीं खड़ा हो गया।

‘जो व्यक्ति ...’ उस व्यक्ति ने बोलना जारी रखा- ‘बिना कोई सुरक्षा लिए एकाकी हमारी ओर बढ़ने का साहस कर सकता है वह कोई चरम पर पहुँची हुई आत्मशक्ति वाला व्यक्ति ही हो सकता है। तुममें से कोई भी व्यक्ति किसी भी प्रकार का दुस्साहस करने की सोचेगा भी नहीं।’

चारों ओर सन्नाटा पसर गया।

‘मित्र हमारे हृदय में कोई कपट नहीं है, इसका क्या प्रमाण चाहिए आपको ... आप इसी पल से मुक्त हैं। जहाँ जाना चाहें जा सकते हैं।’

वह व्यक्ति भौंचक सा राम को देख रहा था। अनायास यंत्रचालित ढंग से उसके हाथ जुड़ गये। सिर और पलकें कुछ झुक गयीं-

‘सर्वप्रथम मेरा प्रणाम स्वीकार करें!’ उसके मुख से अपने आप निकल पड़ा।

‘नहीं, सर्वप्रथम राम की मित्रता स्वीकार करें।’ कहते हुए राम ने अपनी प्रलम्ब बाहें पसाद दीं।

‘प्रभु!?’ नाम सुनते ही आश्चर्य की पराकाष्ठा से एकाएक उस व्यक्ति की आँखें एक बार उठीं और फिर राम की बाहों में समाने के स्थान पर वह उनके पैरों में झुकता चला गया।

राम ने उसे मार्ग में ही थाम लिया और अपनी बाहों में समेट लिया।

‘कितना मूर्ख है यह प्रत्यूष भी! प्रभु स्वयं आये हैं उसका उद्धार करने और वह पहचान ही नहीं पा रहा है! प्रभु किस मुँह से अपने अपराध की क्षमा माँगूँ?’ उसका गला रूँध गया। आँखों की कोरें अनायास ही गीली हो गयीं।

‘राम’ यह नाम सुनते ही शेष विद्रोही भी हाथ जोड़ कर बैठ गये थे। कड़ियों ने लज्जा से अपने मुख घुटनों में छिपा लिये थे। कुछ मुँह बाये खड़े थे। अनेकों के मुख उनके अपने अश्रुओं से गीले हो रहे थे।

‘प्रभु, क्षमा कर दें!’

प्रत्यूष के आँसू अब उसके गालों को भिगोने लगे थे। राम ने उसे रोने दिया। फिर उन्होंने उसके दोनों कंधे थाम कर उसे सीधा किया और अपने दाहिने हाथ की तर्जनी उसके चिबुक के नीचे लगाकर उसका मुख ऊपर किया-

‘अब हम मित्र हैं। आप सब स्वतंत्र हैं। किंतु एक आग्रह है, अभी समय है ... आज रात्रि में ही आप अपने समस्त साथियों को, जो भूमिगत हैं उन्हें भी, एकत्र करें। प्रातःकाल आप जहाँ चाहेंगे राम अपने तीनों भाइयों के साथ उपस्थित हो जाएगा।’

प्रत्यूष भावविभोर सा राम की मुखाकृति में खोया हुआ था। अचानक उसे भान हुआ कि राम कुछ कह रहे हैं। हड़बड़ाया सा बोला-

‘प्रभु स्वामी और सेवक मित्र कैसे हो सकते हैं। प्रत्यूष को सेवक ही बना रहने दें। प्रातः आपको कहीं आना नहीं पड़ेगा, हम सभी आपके दर्शनों को स्वतः यहीं उपस्थित हो जायेंगे।’

‘क्या आप सब लोग इस प्रांगण में समा सकेंगे?’ राम ने हँसते हुए प्रश्न किया।

‘न ... न ... सब तो नहीं समा सकेंगे।’ प्रत्यूष हड़बड़ाया सा बोला। किंतु अचानक जैसे उसे कुछ बोध हुआ, वह हाथ जोड़ कर बोला-

‘तो प्रभु आज ही क्यों न आप हमारे साथ चलिए। मेरे घर के सामने सीमाहीन ऊसर खेत पड़े हैं ... वहाँ सभी समा जायेंगे।’

‘किंतु ...’ हठात् प्रान्त-प्रमुख ने बाधा उपस्थित की। अब तक सारे अधिकारी भी निकट सरक आये थे। ‘कुमारों के रात्रि विश्राम का प्रबंध तो मेरे निवास पर हो चुका है।’

‘प्रमुख जी! हमारे सम्पूर्ण समर्पण का यह एकमात्र पण (शर्त) है। आपको आपके कुमार तो नित्य ही मिलेंगे किंतु भक्त को प्रभु बार-बार नहीं मिलते।’

‘प्रमुख जी, मान लेते हैं न इनकी माँग!’ राम ने सस्मित कहा।

‘किंतु इनके साथ जाने से पूर्व आपको अपनी चरणधूलि से मेरी कुटिया भी पवित्र करनी होगी। मेरी पत्नी और बच्चों को आपके आगमन का संज्ञान है, मैं उन्हें वचन दे

आया हूँ कि आपको लेकर आऊँगा ... वे सम्पूर्ण व्यवस्था के साथ आपकी प्रतीक्षा कर रहे होंगे। आपके बिना मैं उन्हें किस भांति अपना मुख दिखा सकूँगा?’

इसी बीच कारागृह के दूसरे भाग से कुछ कोलाहल के स्वर सुनाई देने लगे थे, किन्तु उस पर किसी ने अधिक ध्यान नहीं दिया। उधर साधारण बन्दी थे जिन्हें रक्षक सहज ही सँभाल सकते थे।

‘तो ऐसा करते हैं, कि इन सबको विदा कर देते हैं, आप सबके साथ हम सभी सर्वप्रथम आपके निवास पर चलते हैं। आपकी पत्नी और बच्चों के उपरांत सैन्य प्रमुख की पत्नी और बच्चे भी तो प्रतीक्षारत होंगे, उनके यहाँ भी हो लेंगे कुछ समय के लिए।’ शत्रुघ्न ने व्यंग्यात्मक स्वर में कहा।

‘और मैं यदि एकाकी हूँ तो क्या मेरी कुटिया का कोई मूल्य ही नहीं है?’ अश्वतीर्थ ने आक्रोशपूर्वक हस्तक्षेप किया- ‘मेरी कुटिया भी तो प्रतीक्षारत है।’

‘चलिये आपकी कुटिया को भी प्रभु धन्य कर देंगे, प्रसन्न!’ प्रान्त-प्रमुख ने मुस्कुराते हुए उत्तर दिया, फिर सहमति के लिए राम की ओर देखा।

राम ने मुस्कुराकर सिर हिलाते हुए अपनी सहमति प्रदान कर दी।

प्रत्यूष कुछ उत्तर देना चाहता था किन्तु कारागृह की दूसरे ओर से आता कोलाहल तीव्र हो गया था। अनयास ही सबका ध्यान उधर गया और राम के पग अपने आप उधर बढ़ चले-

‘आइये देखते हैं कि उधर क्या समस्या उत्पन्न हो गयी है!’ वे बोले।

सब अपने आप उधर ही घूम पड़े, किन्तु बढ़ नहीं पाये।

घूमते ही सबने देखा कि सबके पीछे विक्षिप्त सा आभीर अपनी मुठियाँ और घुटने बुरी तरह कोठरी की दीवार पर पटक रहा है।

राम दौड़ कर उसके पास पहुँचे।

‘क्या कर रहे हो यह? देखो कैसे अपने हाथ आहत कर लिए हैं ... और देखो घुटनों से भी रक्त प्रवाहित हो रहा है!’ राम ने भावुक होते हुए उसे पकड़कर खींच लिया।

‘प्रभु इन्हें तो कठोरतम दण्ड मिलना ही चाहिए ... मैं तो इन्हें कुचल डालना चाहता हूँ।’ उसने रोते हुए कहा।

‘किन्तु ऐसा क्यों करना चाहते हो तुम?’ राम ने उसे सँभालते हुए पूछा।

‘ये हाथ प्रभु पर आक्रमण करने को उद्यत हुए थे ... ये पग प्रभु पर आक्रमण करने के लिए दौड़े थे।’

‘किन्तु अब उसी प्रभु का आदेश है कि स्वयं को संयत करो।’ राम ने साग्रह कहा, फिर सिर पीछे घुमाकर सारे व्यक्तियों पर दृष्टि डाली। कारा प्रमुख उन्हें नजर आ गए- ‘कारा प्रमुख जी इसके उपचार की व्यवस्था कीजिए।’

काराप्रमुख के संकेत पर दो सैनिक उसे पकड़ने के लिए बढ़े किंतु उसने मना कर दिया।

‘अपने प्रभु की अवहेलना कर रहे हो आभीर?’ राम ने पुनः गंभीर स्वर में कहा।

‘प्रभु SSS!’ आभीर ने भी पुनः अनुरोध भरे स्वर में दोहराया।

‘अभी इन रक्षकों के साथ जाकर उपचार करवाओ, फिर शेष सबके साथ स्वस्थमन से प्रातः मुझसे भेंट करने प्रत्यूष के आवास पर आना। अपने समस्त साथियों को प्रेरित कर प्रातः अपने साथ लाने का गुरुतर दायित्व मैं तुम्हें सौंप रहा हूँ। अपने दायित्व का उचित प्रकार निर्वहन करो।’

अब आभीर की विवशता थी। वह राम को प्रणाम कर रक्षकों के साथ, उपचार करवाने चला गया।

सब कारागृह के दूसरे भाग में पहुँचे। देखा तो वहाँ के बन्दी भी प्रभु के दर्शन करना चाह रहे थे।

राम के संकेत पर उन सारी कोठरियों के द्वार भी खोल दिए गए। सबने प्रसन्नमन से अपने प्रभु के दर्शन और चरण-वंदन किया।

‘आप सभी से एक वचन माँगता हूँ मैं।’ जब कोलाहल थोड़ा शांत हुआ तो राम ने अपनी धीर-गंभीर वाणी में कहा।

सारी निगाहें उत्सुकता से राम की ओर उठ गयीं।

‘यह जो दंड आपको शासन ने दिया है, यह तो इस लोक का दंड है, किंतु आपने जो अपराध किया है उसका इस नश्वर शरीर के अंत के उपरांत दंड आपकी आत्मा को भोगना अभी शेष है। उस दंड को निष्प्रभावी करने अथवा न्यून करने का एक ही उपाय है कि भविष्य में आप प्रायश्चित्त स्वरूप अपना सम्पूर्ण जीवन मानव-मात्र की सेवा करने में व्यतीत करें। प्रयास करें कि आपसे भविष्य में किसी को भी कोई कष्ट प्राप्त न हो।’

प्रभु की आज्ञा सभी को स्वीकार थी। साथ ही यह विश्वास भी था कि प्रभु के दर्शन प्राप्त होने का सुफल तो उन्हें मिलेगा ही मिलेगा।

समस्या का समाधान तो हो चुका था। किंतु अभी उसकी औपचारिक परिणति शेष थी।

कारागार से निकलने से पूर्व प्रान्त-प्रमुख ने कारा-प्रमुख से कुमारों के रथ के विषय में प्रश्न किया। जब उन्हें ज्ञात हुआ कि कुमार रथों पर नहीं अश्वों से ही आए हैं तो वे एकबार पुनः आश्चर्यचकित रह गए।

चलने से पूर्व राम ने देवीदीन से पूछा-

‘देवीदीन तुम पूर्णतः स्वतंत्र हो, जहाँ चाहो जा सकते हो। तुम्हारे अयोध्या जाने का अभी प्रबंध करवा दिया जाएगा। तुम प्रातः ही अपने परिवार के पास जाने के लिए प्रस्थान कर सकते हो। तुम्हारे पास क्या-क्या सामग्री है?’

‘प्रभु मेरे पास कुछ भी सामग्री नहीं है। मुझे तो मार्ग से ऐसे ही उठवाकर बन्दी बना लिया गया था। मेरे पास जो कुछ भी थोड़ी बहुत सामग्री थी वह पान्थशाला में रखी थी। अब तक पता नहीं वह वहाँ सुरक्षित होगी भी अथवा नहीं। ... परन्तु प्रभु, मैं आपको छोड़कर कहीं भी नहीं जाना चाहता, मुझे अपने चरणों में ही रहने दें।’

‘काराप्रमुख जी, इससे इसकी पान्थशाला का पता लेकर किसी को भेजकर पता लगवाइये कि इसकी सामग्री का क्या हुआ? यदि सुरक्षित हो तो वह मँगवा लीजिये। उसके लिए पान्थशाला को यदि कोई शुल्क देना पड़े तो वह राजकीय कोष से दिलवाइयेगा।’ राम ने काराप्रमुख को आदेश दिया। उसके उपरांत वे देवीदीन से सम्बोधित हुए-

‘देवीदीन, तुम्हारे माता-पिता और तुम्हारे परिवार का तुम्हारे ऊपर प्रथम अधिकार है।’ कहते-कहते वे मुस्कुरा उठे- ‘तुम्हें मैं कदापि अपने चरणों में रहने की अनुमति नहीं दे सकता। अधिकतम तुम यहाँ से मेरे प्रस्थान तक मेरे साथ रुक सकते हो और हमारे साथ वापस अयोध्या चल सकते हो।’

देवीदीन के पास प्रभु का आदेश स्वीकार करने के अतिरिक्त कोई उपाय नहीं था। उसने बुझे मन से उसे स्वीकार कर लिया। उसे स्वतंत्र होने की प्रसन्नता से अधिक प्रभु से बिछड़ने का क्षोभ था। फिर भी यह संतोष तो था ही कि प्रभु भी अयोध्या में ही तो होंगे, उसे उनके दर्शन प्राप्त होते ही रहेंगे। अब तो वे उसे पहचानते भी हैं, उसका नाम भी जानते हैं। क्या वे उसे याद भी रखेंगे? ... मात्र एक पल के लिए यह शंका उसके मन में उठी किंतु दूसरे ही पल आस्था ने उस शंका को झटक दिया।

प्रत्यूष के गाँव के लिए प्रस्थान करते-करते रात्रि का दूसरा प्रहर भी आधा व्यतीत हो चुका था। अधिकारियों के परिवारों ने सूचना को यथासंभव गोपन ही रखा था फिर भी कुमारों के आते समय कुछ नागरिकों को तो उनके विषय में संशय हो ही गया था। स्वभावतः ही उन्होंने, उस अनुमान को यथासंभव चारों ओर फैलाने का सत्कार्य सम्पूर्ण उत्तरदायित्व के साथ सम्पन्न किया था। फिर उन सभी ने देखा था कि विद्रोहियों की भारी भीड़ प्रसन्नमन कारागार से निकली और कहीं भी कोई उपद्रव किये बिना शांतिपूर्ण ढंग से अपने मार्ग पर चली गयी। यह भी उनका कौतूहल बढ़ाने के लिये पर्याप्त था। विद्रोहियों से कुछ पूछने का किसी का साहस नहीं हुआ था, परन्तु कुछ न कुछ अत्यंत विशेष होने का अनुमान तो सभी लगा ही रहे थे। जब ये सब लोग कारागार के बाहर निकले तो बाहर जिज्ञासु नागरिकों की भारी भीड़ एकत्र थी। राम

को अपना परिचय देना ही पड़ा और सभी का प्रणत-प्रणाम भी स्वीकार करना ही पड़ा।

जब वे प्रत्यूष के गाँव पहुँचे तो वहाँ भी सारा गाँव एकत्र था। उनके पहुँचने के एक मुहूर्त बाद से ही अन्य ग्रामों से भी जन-समुदाय का आगमन आरंभ हो गया। सभी समझ रहे थे कि आज शयन संभव नहीं है। भोजन अपनी सामर्थ्य से अधिक ही उन्हें ग्रहण करना पड़ा था। पहले तीनों अधिकारियों के यहाँ और फिर प्रत्यूष के यहाँ, सबने आत्मीय मनुहारें कर-करके अधिक से अधिक खेलाने का प्रयास किया था।

राम को अपनी और लक्ष्मण की चिंता नहीं थी। उन्हें तो ब्रह्मर्षि बला-अतिबला सिद्धियाँ प्रदान कर ही चुके थे। चिंता तो भरत और शत्रुघ्न की थी। किंतु उन्होंने भी विश्राम करने के प्रति अनिच्छा ही प्रकट की। वे भी अपने भ्राता का प्रभु रूप में स्वागत देख कर उतने ही आल्हादित थे जितना प्रभु का स्वागत करने वाले भक्त नागरिक थे।

सूरज निकलते-निकलते प्रत्यूष के घर के सामने जन-समुद्र ठाठें मार रहा था। प्रत्येक पल भीड़ बढ़ती ही जा रही थी।

तीनों अधिकारी भी कुमारों के साथ आए थे। किंतु राम की उपस्थिति में वहाँ सब भक्त ही थे ... कोई विद्रोही नहीं था, कोई अधिकारी नहीं था। विद्रोहियों ने एक स्वर से प्रभु का प्रत्येक आदेश मानने की शपथ ली। राम ने भी शासन की ओर से उन्हें आश्वासन दिया कि किसी के साथ भी अन्याय नहीं होने दिया जाएगा।

विवाद तो कहीं बचा ही नहीं था जिसके हल होने में समय लगता। संकट तो मात्र परस्पर विश्वास का था और वह राम की उपस्थिति मात्र से दूर हो चुका था। फिर भी उस आस्थावान जनसमुद्र की आस्था को सन्तोष प्रदान करते-करते पूरा दिन व्यतीत हो गया। किसी को भोजन के विषय में सोचने का भी अवकाश नहीं था। प्रत्यूष के घर की महिलायें चिंतित थीं कि प्रभु ने भोजन नहीं किया। सूरज ढलते-ढलते वे चार-पाँच बार नये सिरे से रसोई बना चुकी थीं और हर बार सारा भोजन व्यर्थ हो गया था। न तो वे प्रभु को रखा हुआ भोजन खिला सकती थीं और न ही प्रभु के खाये बिना कोई भी अन्य व्यक्ति भोजन ग्रहण कर सकता था। राम को इन लोगों की व्यथा की चिंता थी किंतु क्या करते, भक्तों के उमड़ते समुद्र की लहरें कम होने का नाम ही नहीं ले रही थीं।

अंततः प्रत्यूष की सेना ने ही कहीं रोष प्रकट कर तो कहीं प्रभु के कल प्रातः से ही जागे होने और सम्पूर्ण दिवस से निराहार होने की व्यथा रो-रोकर उस जनसमुद्र को विदा होने के लिए विवश किया।

समुद्र के शांत होते-होते पुनः रात्रि का एक प्रहर व्यतीत हो चुका था। गाँव के लोग अब भी बड़ी संख्या में उपस्थित थे। उनका आग्रह था कि प्रभु भोजन प्राप्त कर शयन करें ... वे बस द्वार के बाहर बैठे उनका स्मरण करेंगे। पुनः ताजी रसोई बनी और प्रभु के साथ अन्य कुमारों ने भोग लगाया तब सभी उपस्थित लोगों ने प्रसाद पाया। एक-एक कौर प्रसाद बाहर उपस्थित ग्राम्यजनों ने भी प्राप्त किया। इस सबसे निपटते-निपटते रात्रि का दूसरा प्रहर भी बीत चुका था। आग्रह पूर्वक प्रभु को सुलाया गया। अब प्रभु के पैर दबाने वालों में होड़ लगी थी, बड़ी कठिनाई से राम उन्हें टाल पाए। भरत चकित से, और लक्ष्मण व शत्रुघ्न मुँह दाबे हँसते हुए यह सब लीला देख रहे थे।

लक्ष्मण और शत्रुघ्न को यहाँ अत्यंत आनंद आ रहा था। अयोध्या में प्रभु का ऐसा भावविभोर स्वागत-सत्कार भला कहाँ देखने को मिलता था। भरत भी मग्न थे विश्वास और आस्था का ऐसा अद्भुत प्रकटीकरण इससे पूर्व उन्होंने नहीं देखा था। इन सबके विपरीत राम भोर होते ही वहाँ से निकल लेना चाह रहे थे। उन्हें अब पिता और माताओं की अप्रसन्नता की चिंता हो रही थी। रात तो बातों में ही कट गयी, भोर होते ही राम ने निकलने का प्रयास भी किया, किंतु रात में वहाँ से विदा हुआ जनसमुद्र टल नहीं गया था ... उसने भी थोड़ी ही दूर जाकर डेरा डाल दिया था और मिल-बाँट कर साथ बाँधकर लाये सत्तू आदि का आहार ग्रहण किया था और फिर प्रभु का गुणगान करते हुए बातों ही बातों में रात काट दी थी।

सारे प्रयासों के बाद भी उस समुद्र को पार करने में साँझ हो ही गयी। अब रात्रि में भला प्रभु को कैसे इतनी दूर जाने दिया जा सकता था! जनसमुद्र के यह वचन देने पर कि कल प्रातः वे प्रभु का मार्ग रोकने का प्रयास नहीं करेंगे, कुमारों ने एक रात्रि और वहीं व्यतीत करने का सबका आग्रह स्वीकार कर लिया।

प्रान्त-प्रमुख भद्रमणि, प्रकरण निपटते ही एक तीव्रगामी अश्व पर सवार संदेशवाहक को सम्पूर्ण सूचना महामात्य और आमात्य सुमन्त तक पहुँचाने के लिए भेज ही चुके थे।

28- युधाजित का आगमन

दशरथ अत्यंत क्रोधित भी थे और व्यथित भी थे। युधाजित किसी भी समय आ सकते थे, प्रातः ही उनके आगमन की औपचारिक सूचना लेकर अग्रगामी दूत आ चुका था, किंतु चारों ही कुमारों का कहीं पता नहीं था। माताओं से बस इतना ही ज्ञात हुआ था कि कुमार विहार के लिए गए हैं किंतु कहाँ यह किसी को ज्ञात नहीं था।

कुमारों के विहार हेतु जाने की सूचना मिलने पर दशरथ की सबसे पहली प्रतिक्रिया तो संतोष मिश्रित हर्ष की ही थी। आखेट, विहार, विलास ये तो राजपुरुषों के व्यसन अथवा मनरंजन के सहज उपादान ... और यदि राजपुरुषों की भाषा में कहें तो आभूषण हुआ करते थे। अपने पुत्रों की जीवनचर्या देखकर कई बार दशरथ को चिंता भी होती थी कि वे कब राजपुरुषों के आचरण सीखेंगे! ऐसे में इस प्रकार अचानक विहार के लिए जाना उनके संतोष का कारण तो था ही। किंतु अब तक उन्हें आ जाना चाहिए था। भरत के युधाजित के साथ जाने में वे कोई विघ्न नहीं आने देना चाहते थे।

जाबालि और सुमन्त्र को भद्रमणि के द्वारा प्रेषित सूचना प्राप्त हो चुकी थी। वे दोनों हृदय से प्रसन्न थे किंतु अभी इस सूचना को गोपन रखे हुए थे और यथासंभव गोपन ही बनाये भी रखना चाहते थे। उन्हें बस राम की चिंता थी कि कहीं वे अपनी सत्यवादी प्रवृत्ति के चलते सब उगल न दें। किंतु युधाजित के आगमन के समाचार और उस समाचार को सुनकर दशरथ के मन की प्रसन्नता, उन्हें बड़ी हद तक संबल प्रदान कर रही थी। दशरथ सहज रहने का पूरा प्रयास कर रहे थे फिर भी अपने उत्साह को इन दोनों अनुभवी आमात्यों से छिपा नहीं पा रहे थे। दोनों को ही यह आभास हो गया था कि कुछ न कुछ ऐसा है अवश्य जिसका अभी उद्घाटन होना शेष है। असली पोटली महाराज ने कहीं अलग ही दबा रखी है। उन्हें बारम्बार उस दिन की सभा में पूर्व सेनापति और अब कूटचरों के कूट-प्रमुख, प्रमोद की उपस्थिति स्मरण हो रही थी। यह भी स्मरण हो रहा था कि किस प्रकार अंततः महाराज ने प्रमोद से एकान्त वार्ता करने के उद्देश्य से सबको एक प्रकार बलात ही जाने को विवश कर दिया था। वे दोनों इस रहस्य के उद्घाटन की प्रतीक्षा कर रहे थे।

युधाजित कुमारों से पूर्व ही आ गए।

दशरथ उनके सत्कार में व्यस्त हो गए।

कुमारों को आते ही मातुल के आगमन की सूचना प्राप्त हुई। यह भी ज्ञात हुआ कि सभी लोग माता कैकेयी के प्रासाद में ही हैं। वे सीधे वहीं चले गए।

कुमार जब प्रासाद में पहुँचे तो सभी बैठे वार्तालाप कर रहे थे।

कुमारों के प्रवेश करते ही दशरथ ने चिंता मिश्रित क्रोध में कुमारों से प्रश्नों की झड़ी लगा दी-

‘कहाँ चले गए थे चारों के चारों एकाएक, बिना किसी सूचना के? तुम्हें यह भी भान नहीं रहा कि यहाँ सबको कितनी चिंता हो रही होगी? ... और देखो तुम्हारे मातुल तुमसे मिलने के लिए आए हुए हैं, क्या सोच रहे होंगे ये तुम्हारे आचरण के विषय में? पहले तो कभी तुमने ऐसा नहीं किया ... अचानक ऐसा क्या कारण उपस्थित हो गया था जो तुम्हें जाना पड़ गया? तुम लोग राजकुमार हो ... इस प्रकार का आचरण तुम्हें शोभा नहीं देता’

एक ओर कुमार युधाजित को उचित रीति से प्रणाम कर अभिवादन कर रहे थे और युधाजित उन्हें जीभर के आशीष दे रहे थे दूसरी ओर दशरथ का प्रवचन अबाध चल रहा था। वे कुमारों से किसी उत्तर की अपेक्षा भी नहीं कर रहे थे, बस धाराप्रवाह प्रश्न किये जा रहे थे, उपदेश दिए जा रहे थे। अभिवादन और आशीष की औपचारिक प्रक्रिया से जैसे ही युधाजित निवृत्त हुए उन्होंने दशरथ के उस प्रवाह को नियंत्रित करने का प्रयास किया-

‘महाराज कैसी बातें कर रहे हैं आप भी ...’ युधाजित हँसते हुए बोले- ‘कुमार विहार के लिए ही तो गए थे तो इसमें अघटनीय क्या घट गया? आप अपनी युवावस्था को स्मरण कीजिए, ये बेचारे तो आपका दशांश भी विहार नहीं कर पाते होंगे!’

युधाजित के हस्तक्षेप पर एक क्षण तो दशरथ ने कुपित सी दृष्टि से उन्हें घूरा पर दूसरे ही क्षण अचानक ठठाकर हँस पड़े। हँसी रुकने पर बोले-

‘ये मूर्ख तो उसका सहस्त्रांश भी नहीं करते, इसी कारण तो मुझे चिंता हो रही थी। यदि ये जाते रहते होते तो कोई बात ही नहीं थी ... यह तो राजपुरुषोचित आचरण है!’ कहते-कहते वे पुनः हँस पड़े। मातायें पहले ही मुँह दबा कर हँस रही थीं।

‘तब तो आपको प्रसन्न होना चाहिए कि आपके पुत्र राजपुरुषों के आचरण सीख रहे हैं।’ कहते-कहते युधाजित ने भी उन्मुक्त हँसी बिखेरते हुए आगे जोड़ा- ‘... और विहार के लिए जाने वाले युवा-पुत्रों से क्या आप यह अपेक्षा करते हैं कि वे अपने विहार-विलास का विवरण अपने माता-पिता को दें आकर?’

साले-बहनोई का रिश्ता उस-समय भी उन्मुक्त परिहास की अनुमति देता था और फिर युधाजित कैकेयी के ज्येष्ठ भ्राता थे इसलिए वे दशरथ के भी गुरुजनों में गिनती रखते थे। वे उनपर ऐसा कटाक्ष कर सकते थे। इस कटाक्ष ने दशरथ को भी आनंदित ही किया और इस विषय में आगे किसी भी प्रकार के प्रश्नोत्तर का मार्ग पूर्णतः अवरुद्ध हो गया। वैसे भी लक्ष्मण और शत्रुघ्न स्वयं को सप्रयास आगे रखे हुए थे ताकि

यदि किसी प्रश्न का उत्तर देना ही पड़े तो वे दें, राम अथवा भरत न दें। राम तो कदापि न दें।

‘विश्राम किया?’ एकाएक विषय परिवर्तित करते हुए दशरथ ने पूछा।

‘अभी नहीं। मातुल के आगमन की सूचना पाकर हम लोग सीधे यहीं चले आए।’
प्रत्येक उत्तर देने के लिए आगे ही तैयार खड़े लक्ष्मण ने उत्तर दिया।

‘तो फिर विश्राम कर लो चारों लोग। ... और सुनो भरत! मातुल तुम्हें लिवाने आये हैं। तुम्हारे मातामह तुम्हें देखना चाहते हैं।’

‘जी!’ भरत ने संक्षिप्त सा उत्तर दिया।

‘आज विश्राम कर लो, कल तुम्हें केकय के लिए प्रस्थान करना होगा।’

‘जी!’

‘भ्राता आप अकेले जायेंगे केकय?’ बाहर निकलते हुए शत्रुघ्न ने भरत से प्रश्न किया।

‘चारों लोग चलो न!’ भरत ने प्रस्ताव किया।

‘पिताजी से अनुमति लेनी होगी। देखा नहीं तुम सब ने अभी, दो दिन के विहार के लिए ही चारों की अनुपस्थिति से वे कितने चिंतित थे। मातुल ने बचा लिया आज, अन्यथा ...’

‘क्या अन्यथा भ्राता, आप भी अनावश्यक चिंतित होते हैं।’ लक्ष्मण ने राम की बात बीच में ही काटते हुए कहा।

‘हाँ, पिताजी चिंतित इसलिए थे कि हम प्रथम बार गए थे ... परंतु वस्तुतः तो वे प्रसन्न ही थे कि हम लोगों ने भी ‘राजपुरुषोचित’ आचरण करना सीख लिया।’ कहते-कहते शत्रुघ्न हँस पड़े।

बाकी चारों भी हँस पड़े।

‘वैसे कुछ भी हो मैं तो जाऊँगा केकय, भ्राता भरत के साथ ...’ शत्रुघ्न ने निर्णयात्मक स्वर में कहा, फिर विनोद पूर्वक जोड़ा- ‘पिटू जो हूँ उनका।’

शत्रुघ्न की बात पर सब फिर हँस पड़े।

‘मुझे तो भ्राता राम के निर्णयानुसार ही करना पड़ेगा।’ लक्ष्मण ने हताशा का अभिनय करते हुए कहा- ‘मैं तो इनका पिटू हूँ।’

चारों के ठहाकों से वातावरण गूँज उठा।

दूसरे दिन भरत-माण्डवी और शत्रुघ्न-श्रुतकीर्ति युधाजित के साथ केकय के लिए प्रस्थान कर गए। भरत को तो जाना ही था, उन्हें ही लिवाने तो युधाजित आए थे अथवा ऐसे कहिए कि दशरथ ने स्वयं भूमिका गढ़कर उन्हें बुलवाया था। शत्रुघ्न को भी सहज ही उनके साथ जाने की अनुमति मिल गयी। दोनों के साथ उनकी

नवविवाहिता पत्नियों का जाना भी स्वाभाविक ही था, परंतु राम का अनुरोध दशरथ ने स्पष्ट रूप से अस्वीकार कर दिया। प्रत्यक्ष रूप में उनका तर्क था कि चारों कुमारों के जाने से अयोध्या सूनी हो जाएगी। किंतु वास्तव में तो भरत की अनुपस्थिति में उन्हें राम का राज्याभिषेक करना था, उन्हें जाने की अनुमति भला कैसे दे सकते थे वे? राम नहीं गए तो लक्ष्मण भी भला कैसे जा सकते थे! वे तो निरे बचपन में ही अपनी माता को वचन दे चुके थे कि कभी भी अपने बड़े भ्राता राम को अकेला नहीं छोड़ेंगे।

29- वनगमन की प्रस्तावना

जब तक युधाजित रहे, दशरथ स्वाभाविक था कि उनके साथ व्यस्त रहे। युधाजित विस्मित भी थे कि पूर्व में कभी महाराज उनके आगमन से इतना प्रसन्न नहीं हुए थे, किंतु फिर भी यह कोई चिन्ता का कारण तो था नहीं अतः उन्होंने इस पर कोई ध्यान नहीं दिया।

दशरथ भी नगर की सीमा तक इन पाँचों को विदा करने आये थे। वे अपने रथ पर थे, राम और लक्ष्मण भी साथ थे किंतु वे सदैव की भांति अपने अश्वों पर थे।

नगर की सीमा पर युधाजित ने अपना रथ रोक दिया और नीचे उतर कर दशरथ के रथ की ओर बढ़े। उनका रथ रुकते ही दशरथ ने भी अपने सारथी को रुकने का संकेत किया।

‘अच्छा महाराज! अब विदा दें हमें।’ कहते हुए युधाजित ने अपनी बाहें फैला दीं। साले-बहनोई एक दूसरे के आलिंगन में समा गए।

भरत और शत्रुघ्न ने भी उतर कर पिता के और राम के चरण स्पर्श कर विदाई ली। पहले दशरथ ने और फिर राम ने उन्हें सीने से लगा लिया। लक्ष्मण ने भी भरत से आशीष प्राप्त किया।

‘शीघ्र ही वापस भेज देना मेरे पुत्रों को!’ दशरथ ने अपने हृदय के उल्लास को दबाते हुए युधाजित से औपचारिक निवेदन किया।

‘ऐसी भी क्या शीघ्रता है महाराज! दो पुत्र तो आपके पास हैं ही, इन दो को कुछ दिन निर्विघ्न केकय के जीवन का आनन्द लेने दीजिए।’ कहकर युधाजित खुलकर हँस पड़े।

‘माता-पिता को अपने सभी पुत्रों की चिन्ता रहती है। इनके बिना राम और लक्ष्मण अधूरे ही रहेंगे।’ दशरथ ने भी हँसते हुए ही उत्तर दिया।

‘ठीक है-ठीक है। मैं मानता हूँ कि अयोध्या के कुमारों पर प्रथम अधिकार आपका ही है। जैसे ही आपका संदेश प्राप्त होगा हम इन्हें वापस अयोध्या भेजने की व्यवस्था कर देंगे। ... अब तो संतुष्ट?’

‘उचित है!’ दशरथ ने मुस्कुराते हुए उत्तर दिया।

‘किंतु, एक माह से पूर्व ऐसा कोई संदेश मत भेज दीजिएगा।’ युधाजित ने आलिंगन से अलग होकर अपने रथ की ओर मुड़ते हुए कहा।

‘चलिए, आपका यह आदेश स्वीकार है।’ दशरथ ने भी विनोद पूर्वक उत्तर दिया।

* * *

युधाजित और उनके साथ भरत-शत्रुघ्न के जाते ही दशरथ का हृदय प्रसन्नता से धड़कने लगा- अब राम के राज्याभिषेक के मार्ग में कोई बाधा नहीं थी। उनका मन चाह रहा था कि किसी से वे अपनी प्रसन्नता बाँटें किंतु यह संभव नहीं था। वे अपनी प्रसन्नता राज्याभिषेक की औपचारिक घोषणा के उपरान्त ही बाँट सकते थे। यह विचार आते ही उन्होंने निश्चय किया कि अभी गुरुदेव के पास चलें और राम के राज्याभिषेक के अपने निर्णय से अवगत कराते हुए, उनसे बस एक-दो दिवस के भीतर ही शुभ मुहूर्त निर्धारित करने का निवेदन करें।

गुरुदेव के आश्रम की ओर मुड़ने वाला मार्ग आने ही वाला था। वे उत्साह से उठ खड़े हुए। रथ से झाँक कर देखा, राम और लक्ष्मण के अश्व रथ के ठीक पीछे थे। उन्होंने उन्हें बराबर में आने का संकेत किया।

‘तुम लोग चलो ... मैं तनिक गुरुदेव से मिलकर आता हूँ।’

‘जी!’ राम ने पिता की आज्ञा बिना किसी प्रश्न के शिरोधार्य की।

‘रथ को गुरुदेव के आश्रम की ओर मोड़ लो।’ राम और लक्ष्मण के अश्व जब आगे बढ़ गए तो दशरथ ने सारथी को आदेश दिया। रथ गुरुदेव के आश्रम की ओर घूम गया।

रथ घूम गया किंतु अकस्मात् दशरथ के मन में नवीन प्रश्न ने जन्म लिया-

‘गुरुदेव से क्या कहूँगा? वे प्रश्न करेंगे कि भरत और शत्रुघ्न के जाते ही यह प्रश्न क्योंकर उठ खड़ा हुआ? यह निर्णय तो उनके जाने के पूर्व भी लिया जा सकता था, अथवा उनके आने की प्रतीक्षा की जा सकती है’

जटिल प्रश्न था। उन्हें एकाएक कोई समाधान नहीं सूझ रहा था।

‘रथ रोक लो तनिक।’ उन्होंने सारथी को आदेश दिया।

विस्मित से सारथी ने रथ रोक दिया। अपने विस्मय को शब्द देने का उसे अधिकार नहीं था।

‘वन की ओर ले चलो।’ दशरथ ने पुनः आदेश दिया।

सारथी ने रथ वन की ओर घुमा दिया। दशरथ अपने प्रश्न का उत्तर प्राप्त करने के लिए जूझ रहे थे।

अचानक रथ रुक गया।

‘महाराज इससे आगे रथ नहीं जा सकता।’ सारथी ने विनम्र स्वर में उन्हें सूचना दी।

सारथी का स्वर सुनकर दशरथ चौंक पड़े। सत्य ही इसके आगे रथ के जाने योग्य मार्ग नहीं था।

‘सरयू की ओर चलो।’ अगला आदेश हुआ।

एक प्रहर तक दशरथ यूँ ही निरुद्देश्य रथ को घुमाते रहे और अपने प्रश्न से जूझते रहे कि 'गुरुदेव से क्या कहा जाए। क्या बहाना बनाया जाए कि गुरुदेव को कोई शंका भी न हो और एक-दो दिन में ही राम का राज्याभिषेक भी सम्पन्न हो जाए ... फिर वे राम को सम्पूर्ण राजपाट सौंपकर पूर्णतः निःशंक होकर जीवन का आनंद लें। काश विधाता शीघ्र ही उनकी पुत्रवधुओं की गोद भर देता तो बस ... फिर उनकी कोई आकांक्षा शेष नहीं रहती, वे सब कुछ त्यागकर अपने पौत्रों के अनुचर बनकर जीवन का आनंद लेते। उनके पुत्र इतने समर्थ हैं कि राज्य की व्यवस्था सहज ही संभाल सकते हैं। किंतु ... बस, इस किंतु का उत्तर नहीं प्राप्त हो रहा था।

सूर्यदेव अस्ताचलगामी हो चले थे। अंततः वे वापस प्रासाद लौट आए।

तीनों महारानियाँ कैकेयी के प्रासाद में ही उपस्थित थीं। तीनों ही किंचित उदास थीं। तीनों ही भरत के गाम्भीर्य और शत्रुघ्न की चंचलता की चर्चाओं में व्यस्त थीं। दशरथ के लिए उनकी यह वार्ता बड़ी सहायक हुई। कुछ औपचारिक बातें कर वे स्नानादि के लिए चले गए। शयन से पूर्व स्नान और तत्पश्चात संध्या-पूजन उनकी दिनचर्या का अविभाज्य अंग था।

दशरथ जब तक स्नान और संध्या से निवृत्त हुए कौशल्या और सुमित्रा जा चुकी थीं।

संध्या से निवृत्त होने के उपरांत दशरथ ने भोजन किया और फिर उपवन में निकल गए। वे एकान्त में कैकेयी का सामना नहीं करना चाहते थे। उन्हें शंका थी के कैकेयी उनकी अन्यमनस्क मनस्थिति को अवश्य अनुभव कर लेगी और फिर कारण जानने का हठ करेगी। यद्यपि भरत और शत्रुघ्न के जाने के रूप में एक अच्छा बहाना था उनके पास, फिर भी उन्हें भय था कि अनजाने में उनके मुख से कुछ ऐसा न निकल जाए जिससे महारानी उनके मन में चल रहे अन्तर्द्वन्द्व का अनुमान लगा लें।

अपने चिन्तन में डूबे हुए उन्हें समय का कोई अनुमान ही नहीं रहा। कैकेयी एक बार आई भी उन्हें बुलाने, किन्तु उन्होंने बस इतना कहकर कि भरत और शत्रुघ्न के चले जाने के कारण उन्हें कुछ अच्छा नहीं लग रहा, उन्हें वापस भेज दिया।

अंततः उन्हें अपने प्रश्न का उत्तर मिल ही गया।

वे शांत मन से भीतर आए और फिर कैकेयी से भरत के विषय में बातें करते-करते सो गए।

* * *

प्रातःकाल दशरथ प्रसन्नमन उठे और नित्यकर्मों से निवृत्त होकर गुरुदेव से मिलने जाने का बताकर प्रासाद से निकल लिए।

गुरुदेव गौशाला में गौवों की सेवा कर रहे थे।

प्रणाम और आशीर्वाद की औपचारिकताओं के उपरांत गुरुदेव ने स्वतः ही कुटिया में चलने का प्रस्ताव किया। गौओं की व्यवस्था तो अन्य ऋषिगण देख ही रहे थे।

मार्ग में ही दशरथ ने अपने मन की बात कहने की भूमिका बाँधना आरम्भ कर दिया।

‘गुरुदेव! रात्रि में बहुत दिनों बाद पुनः पिताश्री ने स्वप्न में दर्शन दिए।’

‘अरे! किन्तु वे तो पितृऋण न चुकाने का उलाहना देने के लिए प्रकट होते थे, अब तो वह कारण ही नहीं रहा।’ गुरुदेव ने सहज भाव से कहा।

‘हाँ, वह कारण तो कुमारों के जन्म के साथ ही समाप्त हो गया। तभी इतने दिनों से वे स्वप्न में प्रकट नहीं हुए थे। किन्तु कल रात्रि में उन्होंने सर्वथा नवीन उलाहना दिया।’

‘क्या कहा उन्होंने?’

‘कह रहे थे कि दशरथ, कब तक तू सत्ता से चिपका रहेगा? सत्ता का मोह त्यागकर वानप्रस्थ क्यों नहीं ग्रहण करता?’

‘कह तो सही ही रहे थे महाराज अज!’ गुरुदेव ने मंद हास्य के साथ सहमति व्यक्त की।

‘आज प्रातः स्नान के उपरांत मैंने भी दर्पण में ध्यान से देखा, केशों में एक श्वेत लट दृष्टिगोचर होने लगी है।’ दशरथ ने भी मंद हास्य से आगे बढ़ने का मार्ग प्रशस्त किया।

गुरुदेव ने अपनी दृष्टि दशरथ के केशों की ओर उठाई, ध्यान से देखा और फिर सहमति व्यक्त की-

‘हाँ, हो तो रही है।’

‘तो अब क्या करणीय है गुरुदेव?’

‘इसमें मेरी सलाह की क्या आवश्यकता है, पिता के आदेश का पालन कीजिए। वैसे भी आप विलंब कर चुके हैं।’ गुरुदेव ने माँठी चुटकी ली।

दशरथ ने अंदर ही अंदर एक चैन की साँस ली। प्रकट में बोले-

‘रात्रि से ही मैं इस विषय पर मन्यन कर रहा हूँ गुरुदेव ... और जितना विचार करता हूँ उतना ही मेरा मत दृढ़ होता जा रहा है कि जितना शीघ्र आप मुहूर्त निकाल दें, उतना ही शीघ्र मैं राम का राज्याभिषेक कर समस्त दायित्व उसे सौंप दूँ।’

‘किन्तु अभी कल ही तो भरत और शत्रुघ्न के कथ गए हैं। उन्हें तो आ जाने दीजिए।’

‘नहीं गुरुदेव अब मैं प्रतीक्षा नहीं कर सकता। रात्रि में पिता से दृष्टि मिलाने का साहस नहीं हो रहा था मुझे। यदि पुनः वे स्वप्न में प्रकट हो गए तो मैं क्या मुँह दिखाऊँगा उन्हें।’

‘यह भी सही है। उन्होंने स्वयं तो तुम्हारे किशोरावस्था में पदार्पण करते ही तुम्हें सब सौंप दिया था।’

अब तक ये लोग कुटिया तक आ गए थे।

इन्हें कुटिया की ओर जाते देख कर एक मुनि-पुत्र स्व प्रेरित रूप से कुटिया तक दौड़ गया था। ये दोनों जब तक कुटिया में पहुँचते, इनके लिए भूमि पर कुशासन बिछे हुए थे।

दोनों व्यक्तियों ने आसन ग्रहण किये।

गुरुदेव ने बैठते ही आँखें मूँद लीं।

वशिष्ठ जैसे व्यक्तियों को कोई सूचना प्राप्त करने के लिए अभिलेखों को देखने की आवश्यकता नहीं होती थी। सब कुछ उनके मस्तिष्क में सुरक्षित होता था, बस उसे टटोलने की आवश्यकता होती थी। जो कुछ उनके मस्तिष्क में नहीं भी होता था, ध्यानावस्था में प्रविष्ट होकर उसे भी जानने में वे सक्षम थे।

‘एक माह बाद अत्यंत शुभ मुहूर्त है।’

‘गुरुदेव! ...’ दशरथ ने आर्तनाद सा किया- ‘एक माह तक प्रतीक्षा कैसे होगी?’

वशिष्ठ को दशरथ के हृदय में चल रही उथल-पुथल का पूरा अनुमान था। वे समझ रहे थे कि दशरथ की व्यग्रता का वास्तविक कारण क्या है। वे यह भी समझ रहे थे कि अब नारद की योजना को मूर्त-रूप देने का समय आ गया है। अब कैकेयी के बलिदान का समय आ गया है। फिर भी उन्होंने मात्र कुछ पल आनंद लेने के लिए अपनी सहज मंद-मंद स्मित के साथ कहा-

‘क्यों, एक माह की अविधि कोई अधिक तो नहीं होती!’

‘एक माह तक किस भांति मैं अपने दिवंगत पिता का सामना करूँगा?’

‘उसमें क्या कठिनाई है! जब आप महाराज अज को सूचित करेंगे कि आपने राम को समस्त सत्ता सौंप देने का निर्णय ले लिया है, बस उचित मुहूर्त की प्रतीक्षा है, तब वे निस्संदेह शीघ्रता करने का हठ नहीं करेंगे। इतना महत्वपूर्ण आयोजन शुभ मुहूर्त के बिना तो सम्पादित नहीं किया जा सकता! ... अपितु आप तो सहजता के साथ अब विलम्ब के लिए मुझे उत्तरदायी ठहरा सकते हैं। आप के सम्मुख विकल्प है कि अपने पिता से कहें कि गुरुदेव ने ही एक माह पश्चात् का मुहूर्त निश्चित किया है ... नक्षत्रों की चाल पर आपका कोई वश तो नहीं है!’

‘कृपया उपहास न करें गुरुदेव! कोई अत्यंत शीघ्र मुहूर्त निश्चित करें।’ दशरथ ने व्यग्रता से पुनः निवेदन किया।

‘ठीक है, जैसी आपकी इच्छा।’ कहते हुए गुरुदेव ने पुनः अपने नेत्र बन्द कर लिये।

कुछ ही क्षणों बाद उन्होंने नेत्र खोले और उसी भाँति मंद मुस्कान के साथ बोले-

‘तब तो कल का ही मुहूर्त सर्वश्रेष्ठ है। किन्तु इतनी शीघ्रता में कार्य उचित रूप से कैसे सम्पादित हो पायेगा?’

‘सब हो जाएगा गुरुदेव! इससे श्रेष्ठ तो कुछ हो ही नहीं सकता। मैं अभी व्यवस्थाओं में लग जाता हूँ।’ दशरथ ने उठने का प्रयास करते हुए कहा।

‘इतनी व्यग्रता भी उचित नहीं है महाराज! मन की इस अधीरता को नियंत्रित कीजिए सर्वप्रथम, और मेरी पूरी बात सुनिये। आपके आमात्य इतने कुशल हैं कि सारी व्यवस्था सँभाल लेंगे।’

दशरथ फिर बैठ गए।

‘अभी चन्द्रमा पुनर्वसु नक्षत्र में स्थित है। कल सूर्योदय से कुछ पूर्व वह पुष्य नक्षत्र में प्रवेश करेगा। पुष्य नक्षत्र में किए गए कार्य सदैव ही शुभ होते हैं।’ गुरुदेव ने आगे कहा।

‘जी गुरुदेव, मैंने भी सुना है ऐसा।’

‘किन्तु मैंने अभी ध्यान में आपके लिए कुछ अशुभ भी देखा है।’ अचानक गुरुदेव ने कहा।

गुरुदेव की बात सुनकर दशरथ कुछ चौंके अवश्य किंतु शीघ्र ही उन्होंने अपने मनोभावों को नियंत्रित कर लिया-

‘वह अशुभ क्या है गुरुदेव? राम का युवराज्याभिषेक सकुशल सम्पन्न होने के उपरांत मैं किसी भी अशुभ के लिए सहर्ष प्रस्तुत हूँ।’

‘आप पर अनिष्ट की छाया चल रही है। यह प्राणघातक भी हो सकती है। प्राणान्तक कष्टों का तो स्पष्ट योग है।’

‘ओह गुरुदेव! तब तो कल ही राम का राज्याभिषेक और भी आवश्यक है। राम को राज्य का सारा भार सौंपने के उपरांत मुझे मृत्यु का वरण करने में भी कोई कष्ट नहीं होगा।’

‘तब आप प्रस्थान करें और आयोजन की व्यवस्था करें। कल सूर्योदय के साथ ही यथाविधि राम के अभिषेक का अनुष्ठान आरम्भ हो जाएगा। आप अपने दायित्व सँभालें ... और मैं भी अपने दायित्वों के निर्वहन में लगता हूँ।’

‘जी गुरुदेव, तो अब अनुमति है?’

‘हाँ, दैव सब शुभ करें!’

‘एक निवेदन और है गुरुदेव!’ चलते-चलते दशरथ बोले।

‘वह भी कहिए!’ गुरुदेव मुस्कुराये।

‘एक या दो मुहूर्त उपरांत कृपया राजसभा को अपना आशीर्वाद देने का अनुग्रह करें। अनुष्ठान का विधान और आवश्यक सामग्री इत्यादि तो आप ही बतायेंगे!’

‘ठीक है, आ जाऊँगा।’

‘मैं किसी को भेज दूँगा आपको लिवाने के लिए।’

और दशरथ ने गुरुदेव की अनुमति लेकर राजसभा की ओर प्रस्थान किया।

दशरथ के आश्रम से प्रस्थान करते ही गुरुदेव ने एक **मुनिकुमार** को बुलाया और निर्देश दिया-

‘महारानी कैकेयी से जाकर मेरा नामोल्लेख करते हुए निवेदन करना कि अब समय आ गया है। आज रात्रि ही उन्हें देवर्षि को दिया हुआ अपना वचन पूर्ण करना है। उन्हें महाराज से अपने दोनों वर प्राप्त करने का आयोजन करना है।’

‘यदि वे पूछें कि कैसे वर, तो क्या कहना है गुरुदेव?’

‘वे कुछ नहीं पूछेंगी। ... और यदि पूछें भी तो कह देना कि गुरुदेव ने बस इतना ही कहा है। फिर भी यदि उन्हें कोई शंका हो तो अपराह्न मंथरा को आश्रम में भेज दें।’

‘जी गुरुदेव!’ मुनिकुमार उठने को उद्यत हुआ।

‘ध्यान रहे कि यह संदेश महारानी को एकांत में देना है। किसी भी तीसरे व्यक्ति को इसकी भनक तक नहीं लगनी चाहिए। स्वयं महाराज को भी! समझ गए?’

‘जी गुरुदेव!’

‘तो जाओ।’

उसके जाते ही गुरुदेव भी उठे और राज्याभिषेक हेतु व्यवस्थायें करने में प्रवृत्त हो गए।

30- अभिषेक की तैयारी

सभाभवन परिसर में दशरथ ने रथ के ठीक प्रकार से रुकने की भी प्रतीक्षा नहीं की, द्वार तक पहुँचते ही रथ से कूद पड़े। वार्धक्य का असर था, इसमें वे कुछ लड़खड़ा भी गए किंतु उन्होंने चिंता नहीं की और सभाभवन की ओर बढ़ चले।

महाराज को देखते ही सभाभवन के कर्मों और उपस्थित सैनिक सजग हो गए। आज महाराज समय से पूर्व ही आ गए थे। सभाभवन में आते समय सदैव उनके साथ सैनिकों की एक टुकड़ी रहती थी, आज वह भी नहीं थी। वे चकित तो हुए किंतु बिना कोई प्रश्न किये उनके स्वागत में तत्पर हो गए।

सभाभवन में अभी कुछ ही सभासद उपस्थित हो पाए थे। आमात्यगणों में अभी कोई भी नहीं आ पाया था।

एक सैनिक को बुलाकर दशरथ ने आदेश दिया-

‘जाओ और महामात्य और आमात्य सुमन्त्र जिस अवस्था में भी हों, उन्हें अपने साथ लेकर आओ। कहना यह मेरा आदेश है।’

सैनिक चला गया।

अब दशरथ ने सभाभवन के मुख्य कार्यपालक को बुलवाया। उसके उपस्थित होते ही उन्होंने आदेश दिया-

‘आज सभा की जितनी भी कार्यवाहियाँ पंजीकृत हैं सभी को निरस्त कर दो। आज ही नहीं आज से लेकर आगामी नौ ... नहीं दस दिनों तक की समस्त कार्यवाहियाँ निरस्त कर दो।’

मुख्य कार्यपालक भी चकित-विस्मित सा आदेश-पालन हेतु चला गया।

उपस्थित सभासद भी विस्मय से महाराज को देख रहे थे। उन्हें कुछ समझ नहीं आ रहा था किंतु साहस भी नहीं हो रहा था कुछ पूछने का। अंततः एक सभासद ने साहस कर, खड़े होकर हाथ जोड़कर निवेदन किया-

‘आज महाराज समय से पूर्व ही उपस्थित हो गए हैं और आज से आगे दस दिवस तक की समस्त कार्यवाहियाँ भी निरस्त करवा दी हैं। कुछ विशेष है क्या ...?’

सभासदों की आशा के विपरीत दशरथ मुस्कुराये।

‘विशेष नहीं, अत्यंत विशेष है!’

‘क्या महाराज ...?’ महाराज की मुस्कुराहट से प्रश्नकर्ता सभासद का साहस बढ़ गया।

‘अधीर क्यों होते हो, थोड़ा धैर्य धारण करो। महामात्य के आते ही सबके सम्मुख ही घोषणा होगी।’

‘जी महाराज, यही उचित होगा।’ उसने चापलूसी भरे स्वर में हाँ में हाँ मिलायी।

महाराज ने एक और सैनिक को बुलाया और आदेश दिया-

‘जाओ उद्घोषक को बुला लाओ, अविलम्ब।’

वह भी आदेश पालन हेतु चला गया। महाराज ने एक और सैनिक को बुलाया- ‘जाओ और नगर के शृंगार की व्यवस्था देखने वालों को बुला लाओ। ...और नगर में जितने भी माली हैं, सबको शीघ्र ही यहाँ उपस्थित होने का आदेश पहुँचाओ। अत्यंत शीघ्र जाओ ... उनके आने में विलंब हुआ तो तुम दंडित होगे।’

वह भी चला गया।

फिर उन्होंने एक और सैनिक को पूर्व-सेनापति प्रमोद को बुलाने भेज दिया।

सभासदों की उत्सुकता बढ़ती जा रही थी। वे परस्पर फुसफुसाकर अनुमान लगा रहे थे। सबके अनुमान अंततः एक ही बिन्दु पर केन्द्रित हो रहे थे- ‘महाराज के इतना प्रसन्न होने का एक ही कारण हो सकता है, कुमार राम का राज्याभिषेक!’

जाबालि और सुमन्त्र शीघ्र ही आ गए। उनके आने तक महाराज का एक-एक सैनिक को बुलाकर किसी न किसी काम के लिए भेजना और सभासदों का फुसफुसाना चलता रहा। अन्य सभासदों के आने का क्रम भी चलता रहा। कुछ अन्य आमात्यगण भी आ गए।

सभाभवन में प्रवेश करते समय जाबालि और सुमन्त्र दोनों के ही मुखमण्डल पर गहन चिन्ता की रेखायें घिरी हुई थीं, किंतु महाराज का प्रसन्न-वदन देखते ही वे रेखायें विलुप्त हो गयीं और दोनों ने एक-दूसरे की आँखों में देखा ... दोनों ही ने संतोष की साँस ली और महाराज के अभिवादन की औपचारिकताओं में लग गए।

औपचारिकताओं से निपटते ही दशरथ खड़े हुए और बोलना आरम्भ किया-

‘आप सभी लोग उत्सुक हो रहे होंगे कि आज क्या विशेष बात है? कहकर वे मुस्कराये, चारों ओर एक दृष्टि दौड़ाई फिर आगे जोड़ा- ‘मैं देख रहा हूँ, सभासदों में बड़ी देर से फुसफुसाहटें चल रही हैं। तो अब मैं अधिक प्रतीक्षा न करवाकर एक अत्यंत शुभ समाचार आप सबके साथ साझा कर रहा हूँ।’

दशरथ कुछ देर रुके। मुस्कराते हुए चारों ओर फिर दृष्टि दौड़ाई और फिर एक झटके से बोले-

‘कल, ठीक सूर्योदय के साथ ही, आप सबके प्रिय राजकुमार राम का राज्याभिषेक सम्पन्न होगा।’

सभाभवन युवराज राम के जयकारों से गूँज उठा। प्रत्येक व्यक्ति प्रसन्न था। राम को सभी हृदय से प्यार करते थे। हृदय से उनका सम्मान करते थे ... और उनमें प्रभु श्रीविष्णु की छवि तो देखते ही थे।

दशरथ ने अपने हाथ ऊपर उठाकर सबको शांत होने का संकेत किया और आगे बोले-

‘हमारे पास समय का पूर्णतया अभाव है। हम सबको अभी से अपने-अपने दायित्वों के निर्वहन में जुट जाना है। अतः आज की सभा इसी समय स्थगित की जाती है। कल से दस दिनों तक सभा स्थगित ही रहेगी। कल का दिवस राम के अभिषेक के नाम पर और उसके उपरांत नौ दिन इस उल्लासोत्सव के उपलक्ष्य में राज्य में पूर्ण अवकाश रहेगा। आप समस्त सभासदों से एक ही अपेक्षा है कि अभी से लग जायें और सम्पूर्ण राज्य में जहाँ तक इस शुभ समाचार को प्रसारित कर सकते हैं, करने में जुट जायें।

‘बस आमात्यों के अतिरिक्त अन्य सभी सभासद अब जा सकते हैं। ... कल सूर्योदय से पूर्व आप सभी राम के राज्याभिषेक में, यहीं ... इसी सभाभवन में सादर आमंत्रित हैं।’

कहकर दशरथ बैठ गए। सभासदों के लिए आदेश हो गया था। सब महाराज को प्रणाम कर एक-एक कर प्रस्थान करने लगे। सभी प्रसन्न थे और स्वयं ही प्रत्येक मिलने वाले को यह शुभ-समाचार सुनाना चाहते थे। प्रत्येक गली चौराहे में चीख-चीख कर इसकी उद्घोषणा करना चाहते थे।

‘महाराज! यह तो बहुप्रतीक्षित निर्णय था। यह मात्र हमारी ही नहीं सम्पूर्ण प्रजा की भावनाओं की अभिव्यक्ति है किंतु’ महाराज के आसन पर पुनः बैठते ही जाबालि ने कहना आरंभ किया।

‘क्या किंतु महामात्य? रुक क्यों गए, आज मैं अत्यंत प्रसन्न हूँ निस्संकोच कहिए जो भी कहना चाहते हों।’ दशरथ ने मुस्कुराते हुए उन्हें प्रोत्साहित किया।

‘किंतु इस प्रकार अकस्मात् महाराज ... इतने अल्प समय में तो हम अपने मित्र राष्ट्रीयों तक निमंत्रण भी नहीं भेज पायेंगे इस समारोह में भाग लेने के लिए!’

‘विवशता है महामात्य, गुरुदेव ने कल सूर्योदय काल का ही मुहूर्त निश्चित किया है। इसके उपरांत फिर कुछ माह तक मुहूर्त नहीं बनता है। मैंने पूर्व में आपसे उल्लेख नहीं किया किंतु पिताश्री नित्य रात्रि में स्वप्न देकर मुझसे आग्रह कर रहे हैं कि मैं इस दायित्व को शीघ्रातिशीघ्र निष्पादित कर उनके समान वानप्रस्थ ग्रहण करूँ। मैं उनकी आज्ञा नहीं टाल सकता ... फिर आप तो जानते हैं कि इस अवसर के लिए मैं स्वयं कितना उत्साहित था!’

‘आप ही नहीं महाराज, हम सभी उत्सुकता से इस अवसर की प्रतीक्षा कर रहे थे ... मात्र यही एक शंका है कि हम अपने मित्र नृपों को इस समारोह में आमंत्रित नहीं कर पायेंगे, विशेषकर केकय और मिथिला को। इस उत्सव में उनकी भी उपस्थिति से उत्सव की गरिमा और बढ़ जाती।’

‘महामात्य, अब छोड़िये भी इस विषय को, अपना ध्यान और अपनी ऊर्जा अभिषेक की व्यवस्थाओं में लगाइये।’

‘जैसी आज्ञा महाराज!’ जाबालि ने बात वहीं समाप्त कर दी।

अन्य आमात्यों का पता नहीं, किन्तु वे और सुमन्त्र तो वास्तविक कारण समझ ही रहे थे। महाराज को युधाजित और संभवतः भरत की ओर से भी अकारण भय था तभी उन्होंने भरत के जाते ही इस निर्णय की घोषणा की थी। राम के राज्याभिषेक का निर्णय तो दो दिन पूर्व भी लिया जा सकता था और युधाजित को इस आयोजन के लिए रोका भी जा सकता था। तब भरत और शत्रुघ्न भी समारोह में उपस्थित रहते।

प्रकट में किसी ने कुछ भी नहीं कहा। जाबालि अथवा सुमन्त्र ने उत्तर राज्य की घटनाओं का भी कोई उल्लेख नहीं किया। कल से तो राम स्वतः ही सर्वाधिकार सम्पन्न होने जा ही रहे थे।

सभी लोग व्यवस्थाओं की सूची बनाने और समस्त कार्यक्रम किस भांति सम्पन्न होंगे इस विषय में मंत्रणा में जुट गए। आमात्यों के सभाभवन में आने से पूर्व महाराज ने जिस-जिस को बुलवाया था, एक-एक कर सभी आते जा रहे थे। सबसे पहले आने वाले पूर्व सेनापति प्रमोद ही थे।

‘महाराज युवराज और युवराज्ञी को सूचना है।’ अचानक जाबालि ने प्रश्न किया।

‘अरे नहीं!’ दशरथ ने चौंकते हुए उत्तर दिया- ‘किंतु अभी भिजवाता हूँ। अपितु उसे यहीं बुलवाता हूँ।’

दशरथ का उत्तर सुनते ही जाबालि ने मुस्कुराते हुए एक सैनिक को संकेत किया और राम को बुला लाने का आदेश दिया।

‘अरे, रथ लेकर जाओ। उसका रथ तो पता नहीं कहाँ होगा ... वह तो अश्वारूढ़ होकर ही चल देगा। अब वह सम्राट् होने जा रहा है, उसे अपनी और कोशल की गरिमा का ध्यान रखना पड़ेगा।’ दशरथ ने टोका।

सैनिक अनुमति लेकर जाने लगा। वह द्वार तक पहुँचा ही होगा कि दशरथ ने पीछे से पुकारा-

‘रुको, तुम रहने दो। आमात्य सुमन्त्र यह दायित्व आप निर्वहन कीजिए। किसी सैनिक की बात को संभव है वह गंभीरता से न ले।’

आज्ञानुसार सुमन्त्र राम को लिवाने चले गए।

‘महामात्य! एक कार्य आपको ही करना उचित होगा।’

‘आज्ञा दीजिए महाराज!’

‘गुरुदेव को सादर लेकर आने का दायित्व आप ही निर्वहन कीजिए। सम्पूर्ण विधि तो वही बतायेंगे। न तो विधि-विधान में और न ही भव्यता में कोई न्यूनता रहनी चाहिए।’

‘जी महाराज, सब कुछ अयोध्या की गरिमानुकूल भव्य ही नहीं भव्यतम होगा। आप निश्चिंत रहें!’ कहते हुए प्रस्थान को तत्पर जाबालि उठ खड़े हुए।

‘और देखिए, किसी को वामदेव जी को बुलाने के लिए भी भेज दीजिए। और मार्ग में स्वयं भी विचार करते जाइयेगा कि क्या-क्या व्यवस्थायें की जानी हैं। आप पर बहुत बड़ा दायित्व है इस समारोह में!’

‘जी महाराज।’ कहने के साथ ही जाबालि ने एक अन्य आमात्य राष्ट्रवर्धन को साथ आने का संकेत किया और उनके साथ तीव्रता से बाहर निकल गए।

‘अरे आमात्य धृष्टि! आप देखिए तनिक, युवराज की गरिमा के अनुकूल एक भव्य सिंहासन यहाँ ठीक मेरे सिंहासन की बगल में डलवाने की व्यवस्था कीजिए। अब राम किसी भी आसन पर कैसे बैठ सकता है?’

धृष्टि उचित व्यवस्था में लग गए।

‘अरे वो उद्घोषण वाले, साज-सज्जा वाले ... और शेष सब जिनको बुलवाया था, आ गए?’ दशरथ ने एक सैनिक को बुलाकर प्रश्न किया।

‘जी महाराज, सब आ गए हैं और बाहर आपके आदेश की प्रतीक्षा कर रहे हैं।’ सैनिक ने हाथ जोड़कर उत्तर दिया।

‘भेज दो सबको भीतर।’

दशरथ उन सबके साथ व्यस्त हो गए।

थोड़ी ही देर में गुरुदेव और वामदेव भी आ गए।

प्रणाम और आशीर्वाद की औपचारिकताओं के उपरांत दशरथ सीधे मुख्य विषय पर आए-

‘गुरुदेव आप और वामदेव जी आवश्यक सामग्री की सूची बनवा दीजिए, ताकि व्यवस्था करते समय कोई वस्तु छूट न जाए।’

‘सम्यक!’ वशिष्ठ ने कहा और आमात्य जयन्त और विजय को संकेत किया सूची बनाने के लिए।

गुरुदेव ने बोलना आरम्भ किया-

‘सुवर्ण आदि रत्न, देवपूजन की सामग्री, सब प्रकार की औषधियाँ, श्वेत पुष्पों की मालायें, खील, अलग-अलग पाँच पात्रों में मधु और घृत, नवीन वस्त्र, रथ, समस्त

प्रकार के अस्त्र-शस्त्र, चतुरंगिणी सेना, उत्तम लक्षणों से युक्त हाथी, चमरी गाय की पूँछ के बालों से बने हुए दो व्यजन, ध्वज, श्वेत छत्र, अग्नि के समान दैदीप्यमान सौ स्वर्ण कलश, सुवर्ण मढ़े सींगों वाला एक साँड, एक समूचा व्याघ्रचर्म ... और भी यदि कुछ भूल रहा होगा तो मैं बताता रहूँगा।’

‘आप दोनों लोग इस समस्त सामग्री की व्यवस्था कर रात्रि का अंतिम प्रहर आरम्भ होने से पूर्व ही यहाँ यज्ञशाला में पहुँचवा दीजिए।’ दशरथ ने दोनों आमात्यों को निवेदन के रूप में आदेश दिया।

‘और महाराज ...’ गुरुदेव पुनः बोले- ‘रात्रि में ही नगर के समस्त द्वार चन्दन और पुष्प-मालाओं से अलंकृत करवा दीजिए तथा प्रत्येक द्वार पर सुगन्धित धूप भी सुलगवा दीजिए।’

‘जी गुरुदेव, यह कार्य आरम्भ हो गया है।’

‘... और एक लक्ष ब्राह्मणों के भोजन हेतु उत्तम रसोई की व्यवस्था करवाइये।’

‘आमात्य सुराष्ट्र और आमात्य अकोप यह व्यवस्था आप दोनों देखिये।’ दशरथ ने आदेश दिया।

‘जी महाराज!’ दोनों आमात्यों ने आदेश स्वीकार किया- ‘किन्तु सुयोग्य ब्राह्मणों को निमंत्रित करने का दायित्व वामदेव जी यदि स्वीकार कर लें तो ...’

वामदेव ने उनके वाक्य पूरा करने से पूर्व ही सहमति में सिर हिला दिया।

‘तो महाराज हमें अनुमति दें, लम्बी व्यवस्था है।’ दोनों आमात्यों ने अनुमति चाही। महाराज ने अनुमति दे दी।

‘ब्राह्मणों के लिए दक्षिणा और वस्त्रादि ...’ गुरुदेव ने आगे बताया।

यह व्यवस्था दशरथ ने आमात्य धर्मपाल को सौंप दी।

‘नगर के सभी भवनों पर पताकायें, राजमार्गों पर छिड़काव ...’

‘इन व्यवस्थाओं पर भी कार्य आरम्भ हो गया है।’

‘मंगल-गान और नृत्य हेतु निपुण गायक, वादक और नर्तकियाँ ...’

‘हो जाएगा गुरुदेव!’ आमात्य सुयज्ञ ने उत्तर दिया।

‘नगर के सभी देवालयों, चैत्यवृक्षों और चौराहों के जितने भी देवता हैं सभी के पूजन, नैवेद्य और दक्षिणा की व्यवस्था।’

आमात्य काश्यप और गौतम ने यह दायित्व स्वीकार कर लिया।

यह क्रम चलता रहा ... चलता रहा ... तभी आमात्य धृष्टि के निर्देशन में कुछ सेवक एक भव्य सिंहासन लेकर आते दिखाई दिए। उन्हें देखते ही दशरथ उठ खड़े हुए और एक ओर आकर खड़े हो गये। शेष सब ने भी महाराज का अनुसरण किया।

दशरथ ने स्वयं अपने निर्देशन में ठीक अपने सिंहासन की बगल में उस सिंहासन को स्थापित करवाया।

पुनः सबने अपने-अपने आसन ग्रहण किये और योजना पर विचार-विमर्श आरम्भ हो गया।

तभी बाहर रथ के रुकने का स्वर हुआ। सब राम की प्रतीक्षा कर ही रहे थे। सबकी उत्सुक दृष्टि सभाभवन के द्वार की ओर उठ गयी।

कुछ ही पलों में द्वार पर राम प्रकट हुए। सभी आमात्य और वामदेव उनके स्वागत में उठ खड़े हुए और उनकी अगवानी करने के लिए द्वार की ओर बढ़ चले। दशरथ और गुरुदेव भी अपने आसनों पर खड़े हो गये।

राम आज इस विशिष्ट स्वागत को देखकर विस्मित थे। उन्होंने विनम्रता पूर्वक आमात्यों का अभिवादन स्वीकार करते हुए यथासंभव प्रयास किया कि इस विस्मय के चिन्ह उनके मुख पर दृष्टिगोचर न होने पायें।

राम ने सिंहासन के निकट पहुँच कर पिता और गुरुदेव को यथायोग्य प्रणाम किया और आदेश की प्रतीक्षा में खड़े हो गये।

‘आकर यहाँ स्थान ग्रहण करो, हमारे पार्श्व में।’ दशरथ ने राम का हाथ पकड़ते हुए स्नेह से खींचा।

राम हतबुद्धि से खिंचे चले आए। यह आसन तो पहले नहीं हुआ करता था, यह कब पड़ गया? अकस्मात उनके मन में विचार आया। किंतु उन्होंने कहा कुछ नहीं चुपचाप निर्दिष्ट सिंहासन पर बैठ गये और प्रतीक्षा करने लगे।

‘तुम्हें याद है, एक दिन तुमने निवेदन किया था कि तुम लोगों को भी कुछ दायित्व सौंपे जायें?’ दशरथ ने मंद स्मित के साथ प्रश्न किया।

राम ने सहमति में सिर हिला दिया।

‘तो अपने नवीन दायित्व को सँभालने के लिए तत्पर हो जाओ।’

‘किंतु दायित्व क्या है पिताजी?’ विस्मित राम ने जिज्ञासा प्रकट की।

‘कल सूर्य देव की प्रथम रश्मियाँ तुम्हारा अभिषेक करेंगी। कल से तुम विधिवत अयोध्या के सम्राट् होगे!’ दशरथ ने राम के सम्मुख रहस्य उजागर किया।

‘किंतु अकस्मात पिताजी ... ?’ राम के मुख से बरबस निकल पड़ा। वे चकित थे, अभी कितने दिन हुए थे जब पिताजी ने उन्हें कोई भी औपचारिक दायित्व सौंपने से स्पष्ट मना कर दिया था। उस दिन विनोद में ही कहा गया पिता का कथन उन्हें बरबस स्मरण हो आया और अनायास उनके कपोल आरक्त हो उठे।

‘गुरुदेव ने कल का ही मुहूर्त निश्चित किया है। कल के उपरांत दीर्घ अवधि तक कोई उत्तम मुहूर्त नहीं है, और मैं अब प्रतीक्षा नहीं कर सकता। तुम्हारे गोलोकवासी

पितामह महाराज नित्य मुझे स्वप्न में वानप्रस्थ में प्रवृत्त होने का आदेश दे रहे हैं।’

‘जी!’ राम के मुख से बस इतना ही निकल पाया।

उसके बाद उत्साहित दशरथ, देर तक राम को राजनीति के उपदेश देते रहे और राम उन्हें आत्मसात् करते रहे।

भोजन का समय कब का व्यतीत हो चुका था किंतु आज उल्लास और उत्साह में किसी को भी क्षुधा पीड़ित नहीं कर रही थी। फिर भी किसी आमाल्य के संकेत पर अथवा स्व प्रेरणा से, सभाभवन के कर्मचारियों ने सभी के लिए वहीं स्वल्पाहार प्रस्तुत कर दिया।

स्वल्पाहार चलता रहा और दशरथ के उपदेश भी चलते रहे।

तदुपरांत राम को वापस जाने की अनुमति मिल गयी।

* * *

कौशल्या के प्रासाद में सादगी रची-बसी थी। कैकेयी से विवाह के उपरांत जैसे-जैसे दशरथ उनसे विरक्त होते गए, उन्होंने अपने पद और मर्यादा के लिए किसी भी प्रकार का क्लेश उत्पन्न करने के स्थान पर स्वयं को वैराग्य के पथ पर अग्रसर कर लिया था। उनके प्रासाद में भव्यता के प्रदर्शन के लिए कोई स्थान नहीं था। उस विशाल प्रासाद का एक बहुत छोटा सा भाग ही वे अपने उपयोग में लाती थीं। अपने और अपने पुत्र के लिए भोजन उन्होंने सदैव ही स्वयं बनाने को प्राथमिकता दी थी। अब तो सुघड़ सहयोगिनी के रूप में उन्हें सीता भी प्राप्त हो गयी थी। स्वयं सीता को भी पितृगृह से ही अपने कार्य स्वयं ही करने का अभ्यास था। एक महाराजिन थी, किंतु उसे कोई कार्य प्रायः तभी होता था जब महाराज का वहाँ आगमन होता था। सम्पूर्ण प्रासाद के रख-रखाव के लिए बहुत सारे दास-दासी थे, किन्तु उस भाग में, जिसका कौशल्या उपयोग करती थीं, मात्र तीन ही दासियाँ थीं और उनके पास भी प्रातःकाल साफ-सफाई के अतिरिक्त, सारे दिन प्रायः कोई कार्य नहीं होता था करने के लिए। अतः प्रातःकाल के अपने दायित्वों से निवृत्त होने के उपरांत कोई एक ही इधर रहती थी अन्य प्रायः दासियों के पास शेष भाग में चली जाती थीं।

राम और सीता नित्य की भाँति आज भी अपनी प्रातःकालीन नित्य-क्रियाओं से निवृत्त होने के उपरांत यथा समय आ गए थे। थोड़ी ही देर में लक्ष्मण भी आ गए और फिर मध्याह्न भोजन के ठीक बाद ही, नित्य की भाँति दोनों विहार के लिए निकल गए। प्रासाद में मात्र वे दोनों सास-बहुयें ही बच रही थीं।

राम और लक्ष्मण जैसे ही थोड़ी दूर निकले होंगे कि राम को खोजते हुए सुमन्त आ पहुँचे। सुमन्त ने जब यह बताया कि महाराज ने राम को ही बुलाया है तो राम के साथ चलने को कहने पर भी लक्ष्मण स्वतः ही रुक गए।

लक्ष्मण अनमने से अकेले मार्ग पर चले जा रहे थे कि अचानक उनका ध्यान राह चलते व्यक्तियों की बातों पर चला गया। राम के राज्याभिषेक की चर्चा हो रही थी। वस्तुतः सभासदों ने अपने दायित्व का भलीभाँति निर्वहन आरम्भ कर दिया था। वे जो भी मिल रहा था उससे इस विषय में चर्चा करते चले जा रहे थे, फलतः हवाओं के पंखों पर चढ़कर कानोंकान चर्चा सारे नगर में फैलती चली जा रही थी।

तभी एक सभासद स्वयं उधर से ही आ निकला। लक्ष्मण को देखते ही उसने रुककर प्रणाम किया और प्रश्न किया-

‘कुमार, क्या सूचना प्राप्त हुई?’

‘कुछ-चर्चा सुनाई तो पड़ी है अभी-अभी, किंतु अब आप स्पष्ट रूप में विस्तार से समझाइये।’ लक्ष्मण के लिए भी उस सभासद से अधिक उपयुक्त और कौन हो सकता था वस्तुस्थिति से अवगत होने के लिए!

उस सभासद ने सभाभवन में सभासदों की उपस्थिति में हुआ सारा घटनाक्रम विस्तार से कह सुनाया।

सुनते ही, लक्ष्मण के लिए अपनी भावनाओं पर नियंत्रण रखना असंभव हो गया। वे उल्टे पाँव वापस आये और सुमित्रा से लिपट गए और शुभ समाचार कह सुनाया।

सुनते ही सुमित्रा सन्न रह गयी। बरबस उसकी आँखें गीली हो गयीं।

सुमित्रा की आँखों में आँसू देखकर लक्ष्मण और उर्मिला व्यथित हो उठे। तब सुमित्रा ने ही बड़े प्रयास से किसी भाँति होंठों पर मुस्कान लाते हुए बात सँभाली और उन्हें समझाया कि ये तो प्रसन्नता के अश्रु हैं।

लक्ष्मण और उर्मिला अविलम्ब माता कौशल्या को यह शुभ समाचार देना चाहते थे। सुमित्रा के लिए भी स्वयं को रोक पाना संभव नहीं था। वह तो स्वयं इस समय कौशल्या के पास होना चाहती थी। वस्तुतः वह कौशल्या के पास भी होना चाहती थी और कैकेयी के पास भी। वह समझ रही थी कि उसकी दोनों बड़ी बहनों को इस समय उसके सहारे की आवश्यकता है किंतु कैकेयी के पास जाना संभव नहीं था। इस समय उसके कक्ष में, कौशल्या अथवा सुमित्रा किसी की भी उपस्थिति, अकारण संदेह का कारण बन सकती थी। उसे यही उचित लगा कि कैकेयी को व्यथा के ये क्षण अकेले ही जीने दिया जाए। कैकेयी की दृढ़ता पर उसे विश्वास करना ही था। ... तो वह बस कौशल्या को सँभालने उनके प्रासाद में दौड़ी चली आई।

लक्ष्मण उन दोनों को प्रासाद के द्वार पर ही छोड़कर राम को लेने के लिए वापस दौड़ गए। उर्मिला और सुमित्रा भीतर गयीं। उन्होंने सीता को यह शुभ समाचार सुनाया। समाचार सुनते ही सीता का हृदय हुलस उठा, वह दौड़ कर सुमित्रा के पैरों

में झुक गयी किंतु सुमित्रा ने उसे बीच में ही थाम कर छाती से भींच लिया। जल्द ही उसने सीता को अपने से अलग किया और पूछा-

‘जीजी कहाँ हैं?’

‘मंदिर में। अभी सूचित करती हूँ उन्हें भी।’ सीता मंदिर की ओर दौड़ने को हुई किंतु सुमित्रा ने रोक दिया-

‘तू रहने दे! तू उर्मिला के साथ बैठ, मैं स्वयं उन्हें यह शुभ समाचार सुनाती हूँ।’ सुमित्रा सीता का अधिक देर तक सामना नहीं करना चाहती थी।

सुमित्रा भीतर घुसी और कौशल्या से चिपट गयी। दोनों के आँसू बाँध तोड़ कर बह निकले।

‘जीजी! हमारे राम के राज्याभिषेक की औपचारिक घोषणा हो गयी है।’

‘हो गयी?’ कौशल्या के मुख से निकला स्वर अजीब सा था, जैसे किसी गहरे कुये से आ रहा हो- ‘देखते हैं, मेरा राम कहाँ का युवराज बनता है ... अयोध्या का अथवा बीहड़ वनों का!’ कहती हुई कौशल्या सिसक उठी। सुमित्रा भी सिसक उठी।

किंतु सुमित्रा ने अत्यंत शीघ्र स्वयं को संयत किया। कौशल्या को भी ढाढस देती हुई बोली-

‘जीजी, यदि हम ही इस प्रकार व्यथित होंगी तो सीता और उर्मिला का क्या होगा? स्वयं पर नियंत्रण कीजिए। हमें चौदह वर्ष काटने हैं अभी इसी प्रकार। अश्रुओं को बहने के लिए अभी अनेक अवसर प्राप्त होंगे।’

‘हाँ सो तो है।’ कहकर कौशल्या ने आँचल से आँसू पोंछ लिए।

‘कुछ देर पहले मंथरा आई थी।’ कौशल्या ने सुमित्रा को अपनी ओर की सूचना दी।

‘वह क्या बता गयी?’ सुमित्रा ने पूछा।

‘उसे तब तक औपचारिक घोषणा के विषय में ज्ञात नहीं था। उसे कैकेयी ने ही भेजा था। प्रातःकाल ही कैकेयी के पास एक मुनिकुमार गुरुदेव का संदेश दे गया है कि आज रात्रि में ही उसे महाराज से अपने दोनों वर प्राप्त करने हैं।’

‘ओहSS!’ सुमित्रा के मुख से निकला।

‘दीदी हम तीनों को ही ज्ञात था कि एक न एक दिन यह होना ही है, किंतु देखिये, जब वह क्षण आया है तो हम कितनी अधीर हो रही हैं!’ सुमित्रा ने दीर्घ निःश्वास छोड़ते हुए भरे गले से कहा।

कौशल्या अब भी सिसक रही थीं। किसी प्रकार वे हिचकियों से डूबे स्वर में बोलीं-

‘मंथरा ने जब से मुझे सूचना दी है, मेरे आँसू रुक ही नहीं रहे हैं। सभी प्रकार से मन को समझाने का प्रयास कर चुकी हूँ किंतु ... बस सीता ये आँसू न देख ले, इसी

भय से पाठ के बहाने यहाँ अपने शिव के चरणों में बैठ गयी हूँ। क्या पता, वे कुछ चमत्कार कर ही दें ... और राम का वनगमन टल जाये।’

‘आप भी जानती हैं ... मैं भी जानती हूँ कि ऐसा नहीं हो सकता। स्वयं विधाता का ही तो रचा हुआ खेल है यह सब। बस यही सोच कर मन को समझाने का प्रयास करती हूँ कि क्या पता जन-चर्चा सत्य ही हो ... हमारे राम के रूप में स्वयं श्रीविष्णु ने ही रक्षों के विनाश हेतु अवतार लिया हो!’

इस स्थिति में भी एक उदास सी मुस्कुराहट एक पल के लिए कौशल्या को होठों पर प्रकट हुई और फिर धीरे-धीरे मुरझा गयी।

‘बस यही एक दिलासा दे सकती हैं हम अपने मन को, कि हम स्वयं श्रीविष्णु की मातायें हैं।’

देर तक दोनों परस्पर एक-दूसरे को इसी प्रकार दिलासा देती रहीं।

तभी बाहर कुछ हलचल का आभास हुआ।

* * *

वापसी में राम के रथ के लिए मार्ग पर आगे बढ़ना कठिन हो रहा था। अब तक उनके राज्याभिषेक का समाचार सम्पूर्ण नगर में फैल चुका था। समस्त नगरवासी अत्यंत उत्साह में थे और राजप्रासाद परिसर में भागे चले आ रहे थे। सभाभवन से लेकर राम के प्रासाद और कौशल्या के प्रासाद तक के मार्गों पर भीड़ जमा होती जा रही थी। रक्षकों के लिए इस भीड़ को सँभालना कठिन होता जा रहा था। राम को देखकर ये नागरिक अपने उत्साह पर नियंत्रण नहीं कर पाये। राम ने वैसे भी कभी नगरवासियों के सम्मुख स्वयं को विशिष्ट दिखलाने का प्रयास नहीं किया था। वे उनसे सदैव सहजभाव से, उनमें से एक बनकर ही मिलते आए थे। इस कारण प्रजा भी उनमें और अपने में कोई भेद नहीं समझती थी। वह तो उनपर न्योछावर होने को हर पल तत्पर रहती थी। फिर आज उन्हीं राम के जीवन के इतने महत्वपूर्ण दिन वह हर्षातिरेक से पागल क्यों न हो उठती! राम का राज्याभिषेक सबको ऐसे ही प्रतीत हो रहा था मानो स्वयं उनका अभिषेक हो रहा हो।

प्रजा का अभिवादन स्वीकार करते-करते राम का रथ रेंगता हुआ किसी प्रकार कौशल्या के प्रासाद तक पहुँच ही गया। लक्ष्मण प्रासाद के द्वार पर ही उनकी प्रतीक्षा कर रहे थे। राम को देखते ही वे दौड़कर उनसे लिपट गए।

‘चलिये मातायें भी प्रतीक्षा कर रही हैं।’ लक्ष्मण ने राम से अलग होते हुए कहा। उनकी प्रसन्नता की सीमा नहीं थी। स्थाणु आश्रम में राम द्वारा दिये गये संकेत इस समय उन्हें विस्मृत हो चुके थे अथवा उन्हें अभी यह आभास नहीं हो पाया था कि उन संकेतों के अनुरूप प्रस्थान का अवसर उपस्थित हो गया है।

* * *

‘माता कहाँ हैं?’ राम ने कक्ष में प्रवेश करते ही सीता से प्रश्न किया।
सीता और उर्मिला दोनों ही आपस में बातें कर रही थीं और साथ ही माताओं के पूजाकक्ष से बाहर निकलने की प्रतीक्षा भी कर रही थीं।

राम को देखते ही सीता ने अपने सलज्ज नयन उठाते हुए उन्हें बधाई दी-

‘राज्याभिषेक की बधाई आर्यपुत्र!’

‘आपको भी साम्राज्ञी बनने की बधाई!’

‘सीता तो आपकी क्रीतदासी है युवराज! उसका जो भी सम्मान है आपके प्रताप के कारण ही है।’ सीता ने पुनः सलज्ज स्वर में कहा।

‘जीजी मुझे भी तो अवसर दें बधाई देने का!’ उर्मिला ने विनोद पूर्वक हस्तक्षेप किया।

‘तो दे न, किसने रोका है तुझे?’

उर्मिला ने भी बधाई दी ... दोनों को। लक्ष्मण मुस्कुराते हुए सब देख रहे थे। पता नहीं क्यों आज उन्होंने हस्तक्षेप नहीं किया।

‘किंतु मैंने माता के विषय में प्रश्न किया था, वे कक्ष में भी नहीं दिख रहीं और मार्ग में भी नहीं मिलीं?’ बधाई के लेन-देन के उपरान्त राम ने अपना प्रश्न दोहराया।

‘माता और छोटी माता दोनों ही मन्दिर में हैं, बड़ी देर से। हम भी उनके बाहर आने की ही प्रतीक्षा कर रही हैं।’ सीता ने उत्तर दिया।

‘चलो लक्ष्मण उधर ही चलते हैं। हम भी प्रभु शिव का आशीर्वाद ले लेंगे।’

इन लोगों के आने की आहट सुनकर दोनों माताओं ने स्वयं को संयत कर लिया था। सुमित्रा ने मन्दिर के द्वार पर ही राम का स्वागत किया-

‘आओ पुत्र! बधाई हो राज्याभिषेक की!’

‘यह आप सब गुरुजनों के आशीर्वाद का प्रतिफल है माता।’ राम ने विनम्र स्वर में कहा और सुमित्रा के चरणों में झुकने लगे। सुमित्रा ने उन्हें बीच में ही थाम लिया और बोली-

‘सर्वप्रथम प्रभु का आशीष लो वत्स!’

राम ने मंदिर में प्रवेश किया।

‘तुम भी आओ सीता। विवाह के उपरान्त प्रभु सपत्नीक ही पूजा स्वीकार करते हैं।’ सुमित्रा ने सीता को आमंत्रित किया।

सीता ने भी आदेश का पालन किया। दोनों ने विधिपूर्वक शिव की मूर्ति के चरणों में शीश रखकर आभार प्रकट किया। फिर कुछ पल वे आँखें बन्द किए, हाथ जोड़े और सिर झुकाये कुछ मंत्र बुदबुदाते रहे।

शिव के बाद दोनों ने ही पहले कौशल्या और फिर सुमित्रा का आशीर्वाद लिया।

‘चलिये माँ, कक्ष में चलते हैं।’ राम ने आग्रह किया।

‘तुम लोग चलो, मैंने आज प्रभु की विशेष प्रार्थना का व्रत लिया है।’ कौशल्या ने टाल दिया।

राम, सीता, लक्ष्मण और उर्मिला वापस कक्ष में आ गए और सामान्य वार्तालाप में लग गए। अचानक राम ने सीता से प्रश्न किया-

‘क्या विशेष व्रत कर रही हैं माता?’

‘उन्होंने मुझे भी कुछ नहीं बताया। बस मंदिर में किसी एकान्त साधना में लगी हैं। जब से छोटी माँ आयी हैं, वे भी उन्हीं के साथ हैं।’

‘अरे आपके राज्याभिषेक के संबंध में ही कुछ व्रत होगा। प्रभु को धन्यवाद कर रही होंगी और उनसे कल के समस्त कार्यक्रम निर्विघ्न सम्पन्न कराने की प्रार्थना कर रही होंगी।’ लक्ष्मण ने सबकी उत्कंठा को शांत करने का प्रयास किया। यद्यपि वे स्वयं भी उत्कंठित थे। उन्हें स्वयं भी समझ नहीं आ रहा था कि दोनों मातायें किस विशेष पूजा में व्यस्त हैं और उन सबको उस पूजा से दूर रखने का प्रयास क्यों कर रही हैं?

तभी बाहर ‘महाराज की जय हो! ... महाराज की जय हो!!’ का कोलाहल सुनकर सभी चौंक पड़े।

‘क्या, पिताजी का आगमन हो रहा है?’ राम ने व्यग्र हो उठे स्वर में जैसे अपने से ही प्रश्न किया।

‘प्रतीत तो ऐसा ही होता है।’ लक्ष्मण ने उत्तर दिया।

इसके साथ ही चारों उठ खड़े हुए और तीव्र गति से द्वार की ओर बढ़ चले।

कौशल्या, अपने दुखण्डे प्रासाद के दूसरे खण्ड के ही पीछे के भाग को प्रयोग में लाती थीं। नीचे का पूरा खंड खाली पड़ा था जिसका अधिकांश भाग प्रायः बन्द ही रहता था। मात्र प्रासाद के बाहरी भाग में स्थित अतिथि-कक्ष ही, भले ही उसका कभी उपयोग न होता हो, सदैव प्रयोग के लिए व्यवस्थित रहता था। अतिथि कक्ष की सज्जा सदैव राजमहलों की भव्यता के अनुरूप ही की जाती थी।

सीढ़ियों से नीचे उतरते ही सुमन्त्र आते हुए दिखाई दिये। उन्हें देखते ही राम ने प्रश्न किया-

‘पिताजी का आगमन हुआ है क्या आमाल्यवर?’

‘हाँ युवराज, महाराज पधारे हैं और अतिथि-कक्ष में आपकी प्रतीक्षा कर रहे हैं। मैं तो आपको बुलाने ही आ रहा था।’

सभी अतिथि-कक्ष की ओर बढ़ चले।

सबसे आगे-आगे राम ने घुटनों के बल बैठ कर पिता के चरणों में मस्तक झुकाकर प्रणाम किया, दशरथ ने उन्हें हृदय से आशीर्वाद दिया।

राम के बाद सीता और फिर लक्ष्मण और उर्मिला ने भी यही क्रिया दोहराई।

‘आदेश करें पिताजी!’ राम ने विनम्रता से कहा।

‘कुछ बातें तुम्हें समझाने को शेष रह गयी थीं। किंतु पहले चारों बैठो।’ दशरथ ने अपनी साँसों को स्थिर करने का प्रयास करते हुए कहा।

चारों बैठ गए। और दशरथ के बोलने की प्रतीक्षा करने लगे।

‘राम, अब मैं सत्य ही वृद्ध हो गया हूँ।’ जब साँसे सुस्थिर हो गयीं तो दशरथ बोले।

‘कैसी बात करते हैं पिताजी, आप अभी भी पूर्णरूपेण युवा हैं।’ लक्ष्मण ने किंचित लड़ियाते हुए सांत्वना के स्वर में विरोध किया।

‘देखा नहीं अभी तुमने ...’ दशरथ हँसते हुए बोले- ‘अभी किस प्रकार से मैंने अपने श्वास-प्रश्वास पर नियंत्रण खो दिया था।

‘आज प्रातःकाल से ही आप कितना श्रम कर रहे हैं, क्या हमें ज्ञात नहीं! इतने श्रम से तो कोई युवा भी इसी भांति श्रमित हो सकता है।’ लक्ष्मण ने फिर पिता को आश्वस्त करने का प्रयास किया। उनकी बातों पर सीता और उर्मिला बरबस मुँह छुपाकर मुस्कुरा उठीं।

‘क्या कहना चाह रहे हो वस्तुतः तुम? इतने श्रम से तो कोई युवा भी इसी भांति श्रमित हो सकता है का तात्पर्य तो यही हुआ कि मैं युवा नहीं रहा अब!’ हँसते हुए दशरथ ने लक्ष्मण पर कटाक्ष किया। परन्तु इसके तुरन्त बाद इस विनोद-वार्ता को समाप्त करते हुए जोड़ा- ‘किन्तु अब तुम अपनी वाकपटुता दिखाना बन्द करो और मुझे राम से आवश्यक वार्ता करने दो। उचित होगा कि तुम लोग यहाँ से प्रस्थान करो अन्यथा तुम अपने स्वभाववश हस्तक्षेप करते ही रहोगे। मेरे पास आज समय का अभाव है, कल के बाद देखूँगा तुम्हारा वाक्चातुर्य!’

एकबारगी तो सब हतप्रभ रह गए किंतु फिर चुपचाप उठे और ऊपर चले गए।

अब दशरथ और राम ही कक्ष में शेष थे। सुमंत्र पहले ही बाहर जा चुके थे।

‘राम मेरी बातों को गम्भीरता से ग्रहण करना।’ दशरथ ने कहना आरम्भ किया- ‘इधर सत्य ही वृद्धावस्था के कारण मेरी ऊर्जा को ग्रहण लग गया है, अतः श्रेयस्कर है कि मैं राज्य का दायित्व तुम्हें सौंप कर अवकाश प्राप्त करूँ। स्वर्गीय पिताश्री भी स्वप्न में मुझे बारम्बार यही आदेश दे रहे हैं। उनका आदेश टालना मेरे लिए संभव नहीं है। उन्होंने तो मैं जब बहुत छोटा था तभी सब मुझे सौंप दिया था। दूसरी ओर तुम सब प्रकार से योग्य हो। प्रजा की तुम पर अगाध आस्था है। कोई कारण नहीं है कि मैं अब तुम्हें दायित्व सौंपने में विलम्ब करूँ। मुझे विश्वास है कि तुम स्वयं को

इक्ष्वाकु-कुल का सर्वश्रेष्ठ नृप सिद्ध करोगे।' दशरथ कुछ पल साँस लेने के लिए रुके। आज अत्यंत दीर्घकाल के उपरांत वे प्रातः से ही भयंकर रूप से व्यस्त रहे थे।

‘सब आप गुरुजनों के आशीर्वाद का सुफल है पिताजी।' दशरथ को रुकते देखकर राम ने विनम्रता से कहा।

‘निश्चय ही ऐसा सुयोग्य पुत्र प्राप्त करना पितरों और दैव के आशीर्वाद से ही संभव होता है।'।

राम कुछ नहीं बोले। बोलने को था ही नहीं, अपनी प्रशंसा सुनकर वे स्वभावतः ही संकुचित हो उठते थे।

‘एकमात्र पिता की आज्ञा ही कारण नहीं है मेरे इस अकस्मात निर्णय के पीछे। कल ही वार्तालाप में गुरुदेव ने बताया कि नक्षत्रों की गति इस समय मेरे विपरीत है। यह प्राणघातक भी हो सकती है ...'।

‘ऐसी अशुभ बातें क्यों कर रहे हैं पिताजी?' राम ने व्यथित होकर, अपने स्वभाव के विपरीत बीच में ही उनकी बात काटते हुए कहा।

‘मुझे कहने दो, बाधा मत दो। यह मैं अपनी ओर से नहीं कह रहा, यह काल की गति कह रही है। यह गुरुदेव कह रहे हैं और तुम जानते हो कि गुरुदेव का आकलन असत्य नहीं हो सकता। अतः यही श्रेयस्कर है कि मैं अपने सामने तुम्हारा अभिषेक कर दूँ ताकि भविष्य में किसी भी प्रकार का कोई गतिरोध न उत्पन्न हो सके। तुम ही अयोध्या के उत्तराधिकारी हो और तुम ही सर्वाधिक योग्य हो। राज्य का और प्रजा का भी कल्याण तुम्हारे ही हाथों में सर्वाधिक सुरक्षित है। मुझे विश्वास है कि तुम हमारे महान इक्ष्वाकु वंश की यशोगाथा में नवीन अध्याय जोड़ने में सक्षम हो ...'।

दशरथ देर तक इसी प्रकार राम को समझाते रहे, आशीर्वाद देते रहे, उपदेश देते रहे। राम सुनते रहे, गुनते रहे। किंतु वे बड़ी हद तक यह समझने में असमर्थ थे कि पिता यह सब उनसे क्यों कह रहे हैं, विशेष कर स्वयं अपने विषय में वे सारी अशुभ बातें।

दूसरी ओर दशरथ के मन का चोर संभवतः राम को सफाई दे रहा था। उन्हें भरत और शत्रुघ्न की अनुपस्थिति में ऐसे आकस्मिक ढंग से लिये गए निर्णय की आवश्यकता और सार्थकता के प्रति आश्वस्त करने का प्रयास कर रहा था।

‘अच्छा अब मैं चलता हूँ ... और तुम भी अब सीता सहित अपने प्रासाद की ओर प्रस्थान करो। इसी समय से तुम दोनों को उपवास रखना है। तुम अभिषेक सम्पूर्ण होने तक कोई आहार ग्रहण नहीं करोगे। अपने प्रासाद में जाते ही तुम दोनों प्रभु का स्मरण-पूजन कर शांतचित्त से भूमि पर कुश की शैया पर शयन करना ... साथ ही रात्रि में पूर्ण संयम का आचरण करना। प्रातःकाल सूर्यादय से पूर्व ही रथ तुम्हें लेने आ

जाएगा। ... अब तुम जाओ और वधू सहित अपने प्रासाद में जाने को प्रस्तुत हो जाओ।' कहते हुए दशरथ एकाएक उठ खड़े हुए।

‘अरे पिताजी, माता से भेंट नहीं करेंगे?’ दशरथ को एकाएक प्रस्थान हेतु उद्यत देखकर राम ने विस्मय से पूछा।

‘नहीं समय भी नहीं है और सीढ़ियाँ चढ़ने में अब वृद्धावस्था के कारण मुझे कष्ट भी होता है। तुम भी शीघ्रता करो और मुझे भी करने दो। रात्रि में ही सारी व्यवस्था सम्पन्न करनी है और मैं सब कुछ अपनी देखरेख में ही करना चाहता हूँ।’

‘तब आपने व्यर्थ यहाँ आने का कष्ट किया, मुझे ही बुलवा लिया होता!’

‘ऐसा संभव था, किंतु वहाँ तुमसे ऐसी शांति से एकान्त-वार्ता का अवसर कहाँ उपलब्ध होता? ... अच्छा! यशस्वी भव!’ कहते हुए दशरथ द्वार की ओर बढ़ चले।

राम ने जब ऊपर जाकर माता को सब कुछ बताया तो उन्होंने सहर्ष उन्हें और सीता को जाने की अनुमति दे दी। उन्हें संतोष था कि अब उन्हें बलात् प्रसन्नता का अभिनय नहीं करना पड़ेगा।

राम-सीता और लक्ष्मण-उर्मिला अपने-अपने प्रासाद की ओर चले गए।

कौशल्या और सुमित्रा सम्पूर्ण रात्रि उसी मंदिर में बैठीं प्रभु से प्रार्थना करती रहीं, आने वाले घटनाचक्र को सहने की शक्ति देने की याचना करती रहीं और कैकेयी की व्यथा के विषय में चर्चा करती रहीं।

31- वनगमन की प्रस्तावना

कैकेयी को जैसे ही गुरुदेव का संदेश प्राप्त हुआ, उसे ऐसा प्रतीत हुआ मानो भूचाल आ गया हो। बड़ी कठिनाई से वह स्वयं को चकराकर गिरने से सँभाल पाई। उसने मंथरा को बुलाया और कौशल्या तक सूचना पहुँचाने का दायित्व सौंपकर स्वयं को एक कक्ष में बन्द कर लिया।

उसे समझ नहीं आ रहा था कि क्या करे, क्या न करे। इस अप्रिय कर्तव्य को किस प्रकार निभाये? बारम्बार उसे प्रतीत हो रहा था कि वह यह नहीं कर पायेगी। और गुरुदेव ने भी तो अधूरी सूचना भेजी थी। किस आधार पर वह एकाएक महाराज से वरदान माँग बैठे! सारा दिन उसकी कुछ भी खाने-पीने की इच्छा नहीं हुई। दासियाँ पूछने आईं भी किंतु उसने अपने कक्ष का द्वार ही नहीं खोला, न ही कोई उत्तर दिया। मंथरा भी कौशल्या के यहाँ से लौटने के बाद बहुत देर तक उसके कक्ष के द्वार पर बैठी रही, तब जाकर कहीं कैकेयी ने उसके लिए द्वार खोला। फिर भी इस बीच मंथरा भोजन ग्रहण कर चुकी थी। उसे राम से स्नेह था किंतु उससे अधिक उसे भरत से स्नेह था ... और सबसे अधिक रक्षों से घृणा थी। आने वाले घटनाचक्र को लेकर वह तो अतिशय प्रसन्न ही थी। उसे तो मात्र एक ही कष्ट था कि कैकेयी अन्न-जल त्यागे पड़ी थी। कैकेयी बारम्बार यही कह रही थी कि वह यह नहीं कर पायेगी और मंथरा उसे समझा रही थी कि नहीं, उसे यह करना ही होगा, भले ही इसमें उसे कितना भी कष्ट हो, भले ही इसके परिणाम कुछ भी हों। कैकेयी निरंतर रो रही थी किंतु मंथरा दृढ़ थी। वह उसके रुदन को अनदेखा कर निरंतर उसे प्रेरित कर रही थी।

इस बीच सारे नगर में राम के राज्याभिषेक की चर्चा फैल गयी थी किंतु कैकेयी अभी भी इससे अनभिज्ञ थी। उसके कक्ष में उपस्थित मंथरा भी तो अनभिज्ञ थी। उनके मध्य तो यही विकराल प्रश्न तैर रहा था कि गुरुदेव द्वारा बताये गए वरदान महाराज से माँगे जायें तो किस आधार पर।

दासियों को सूर्यास्त तक सूचना प्राप्त हो गयी थी किंतु उनके सम्मुख प्रश्न यह था कि महारानी की ऐसी कुपित अवस्था में उन तक यह शुभ सूचना पहुँचाये तो कौन? मंथरा भी तो कक्ष के भीतर थी। किसी का साहस नहीं हो रहा था द्वार खटखटाने का। रात्रि के प्रथम प्रहर में मंथरा बाहर निकली तो उसे दासियों ने बताया। सूचना सुनकर मंथरा चौंक पड़ी। सूर्योदय के साथ ही राम का राज्याभिषेक आरंभ हो जाएगा। रात्रि का एक प्रहर व्यतीत होने वाला है और कैकेयी के प्रासाद में महाराज का आगमन अभी तक नहीं हुआ है। नित्य तो समय से ही आ जाते थे। आज पता नहीं आयेंगे भी

अथवा नहीं। यदि महाराज नहीं आए तो? यह विकट प्रश्न उसके सामने मुँह बाये खड़ा हो गया। यदि शीघ्र ही महाराज नहीं आए तो उसके सारे स्वप्न बिखर जायेंगे। राम का अभिषेक होने के बाद उनका एकाकी रक्षों के नाश के लिए जाना कैसे संभव हो पाएगा? भरत का अयोध्या का उत्तराधिकारी बनना कैसे संभव हो पाएगा?

उसने सूचना की सत्यता जाँचने के लिए, धड़कते हृदय से प्रासाद की छत पर चढ़कर चारों ओर दृष्टि घुमाई। उसने जो कुछ देखा, वह उसकी धड़कन और बढ़ाने के लिए पर्याप्त था। दुलहन की तरह सजी अयोध्या जगमग-जगमग कर रही थी। दूर मार्गों पर अभी भी नागरिकों का प्रसन्न कोलाहल सुनाई पड़ रहा था। ऐसा प्रतीत हो रहा था जैसे आज अयोध्या में रात्रि का आगमन हुआ ही नहीं हो।

वह नीचे उतर आई और कैकेयी को सारी सूचना दी। कैकेयी के हृदय में एक गहरी टीस उठी। इतना सब कुछ हो गया और उसे कोई सूचना ही नहीं दी गयी। महाराज ने अपने आप मान लिया कि वह राम का अनिष्ट चाहती है। वह और व्यथित हो उठी। व्यथा के मारे वह अपने केश नोचने लगी। आभूषण उतार कर फेंकने लगी। विक्षिप्त जैसी अवस्था हो गयी उसकी। सारे दिन की भूखी-प्यासी कैकेयी इस आघात को नहीं सह पाई ... बेसुध होकर वहीं भूमि पर पसर गयी।

बड़ी कठिनाई से मन्थरा ने उसे सँभाला। उसने कैकेयी को समझाया कि यह तो उसके लिए स्वर्ण-अवसर है। महाराज का राम के प्रति उसके स्नेह पर यह स्पष्ट संदेह ही तो उसे इस समय दोनों वर माँगने का अवसर प्रदान कर रहा है। बस किसी प्रकार एक बार महाराज आ जायें ...। मन्थरा महाराज के इस व्यवहार के प्रति कैकेयी के रोष की आग में निरंतर घी डालती रही ताकि वह मंद न होने पाए। उसे सफलता भी मिल रही थी।

अब कैकेयी व्यथित होकर और मन्थरा उत्सुकता से महाराज के आने की प्रतीक्षा करने लगी। कैकेयी मना रही थी कि महाराज आयें ही नहीं तो वह इस अप्रिय कर्तव्य के निर्वहन से बच जाए। महाराज के प्रति उसका रोष बढ़ता जा रहा था किंतु राम के प्रति कठोर होने के लिए उसका हृदय अब भी स्वीकृति नहीं दे रहा था। दूसरी ओर मन्थरा मना रही थी कि महाराज शीघ्र ही आयें, यदि वे नहीं आए तब कोई मार्ग नहीं था राम का अभिषेक रोकने का। तब कोई मार्ग नहीं था राम को रक्षों के दलन हेतु एकाकी दक्षिणावर्त भेजने का!

किंतु राम का रावण के दलन हेतु जाना तो स्वयं विधाता की ही इच्छा थी, महाराज आते कैसे नहीं! रात्रि का दूसरा प्रहर जब व्यतीत होने को था, तब दशरथ का कैकेयी के प्रासाद में आगमन हुआ।

प्रासाद में पसरा मौन देखकर दशरथ हतप्रभ थे। वे तो मन में यह सोचते हुए आए थे कि उन्होंने कैकेयी को परास्त कर दिया है। उन्होंने उसे किसी भी प्रकार का षड़यन्त्र रचने का कोई अवसर प्रदान नहीं किया है। अब रात्रि के इस दूसरे प्रहर में सूचना प्राप्त होने पर वह कर भी क्या पाएगी। सूर्योदय के साथ तो राम का अभिषेक आरम्भ ही हो जाएगा। वह अब चाहकर भी युधाजित तक कोई संदेश नहीं भेज पाएगी। उसे हँसकर इसे स्वीकार करना ही होगा।

दशरथ कैकेयी के कक्ष में पहुँचे। वहाँ भी सन्नाटा पसरा था। ऐसा तो पहले कभी नहीं हुआ था? रात्रि के इस प्रहर में उसके कहीं जाने का प्रश्न ही नहीं उठता था! उन्हें कुछ भी समझ नहीं आ रहा था। वैसे भी इस समय थकावट के कारण उनका बुरा हाल था।

अंततः उन्होंने एक दासी को बुलाया। दासी बुरी तरह सहमी हुई थी। वह घबराई हुई आई और हाथ जोड़कर खड़ी हो गयी।

‘महारानी कहाँ हैं?’ दशरथ ने प्रश्न किया।

‘महाराज’ दासी के मुख से बोल नहीं निकल रहा था।

‘शीघ्र उत्तर दे अन्यथा ...’ थके हुए दशरथ को अचानक ही क्रोध आ गया। महाराज के क्रोध ने दासी को और सहमा दिया। किसी प्रकार उसके मुख से निकला-

‘म... म... महारानी तो आज प्रातः से ही कोपभवन में हैं।’

‘कोपभवन में? यह कौन सा भवन हुआ?’

‘प्रातः आपके प्रस्थान के कुछ काल उपरांत ही उन्होंने स्वयं को उधर एक कक्ष में बन्द कर लिया है। तब से द्वार ही नहीं खोला है ... कुछ खाया-पिया भी नहीं है।’

‘और मंथरा, वह कहाँ है?’

‘वह भी महारानी के साथ उसी कक्ष में है।’

दशरथ को कुछ समझ नहीं आ रहा था। कैकेयी तो कभी ऐसा विक्षिप्तों जैसा आचरण नहीं करती थी।

‘उन्हें राम के अभिषेक के विषय में सूचना है?’ कुछ सोच कर दशरथ ने दासी से प्रश्न किया।

‘हमारा साहस ही नहीं हुआ उन्हें सूचना देने का। वे तो प्रातः से ही द्वार खटकाने पर भी कोई उत्तर नहीं दे रही हैं।’

‘तात्पर्य नहीं है सूचना?’

‘अब है सम्भवतः महाराज!’

‘तुझे सीधे से एक बार में सारी बात बताना नहीं आता क्या? अथवा जीवन से तेरा मोह छूट गया है?’ दशरथ क्रोधावेश में चीख पड़े।

‘म... महाराज! क्षमा करें। अभी कुछ काल पूर्व ही मंथरा कक्ष से बाहर आई थी तो हमने उसे सूचना दे दी थी। अब हमें नहीं ज्ञात कि उसने महारानी जी को सूचना दी है अथवा नहीं।’

‘किस कक्ष में हैं महारानी? ... चल मार्ग दिखा।’ दशरथ ने आदेश दिया।

आगे-आगे दासी और उसके पीछे-पीछे दशरथ उस कक्ष में पहुँचे जहाँ कैकेयी ने स्वयं को बंद कर रखा था। दशरथ के पुकारने पर अस्तव्यस्त मंथरा ने द्वार खोला। दशरथ ने उसे एक ओर धकेलते हुए भीतर प्रवेश किया। प्रवेश करते ही वे और घबरा उठे। कैकेयी अर्द्धविक्षिप्त सी भूमि पर पड़ी थी। उसके वस्त्र अस्तव्यस्त थे, केश बिखरे हुए थे, आभूषण चारों ओर छितराये हुए थे।

कुछ देर दशरथ किंकर्तव्यविमूढ़ से खड़े रहे। थकान उन पर पूरी तरह हावी हो रही थी। आँखें खोलने में भी कष्ट हो रहा था। कुछ काल उपरांत ही उन्हें पुनः स्नानादि से निवृत्त होकर राम के अभिषेक के लिए जाना था। वे कुछ क्षण अपने शरीर को विश्राम देना चाहते थे ... किंतु अब तो वह भी संभव नहीं प्रतीत हो रहा था।

अंततः वे भी भूमि पर ही कैकेयी की बगल में बैठ गए और उसके कंधे को हिलाते हुए धीरे से पुकारा-

‘महारानी! महारानी!!’

दशरथ के हाथ का स्पर्श पाते ही कैकेयी बिफर पड़ी-

‘मत स्पर्श कीजिए मुझे। मैं तो एक दासी से भी गयी-बीती हूँ, मत पुकारिए मुझे महारानी।’

‘महारानी, हुआ क्या है? कुछ बताइये तो। हम तो आपको अत्यंत शुभ समाचार देने आए थे किंतु आप तो ...’

‘हाँ, मैं तो विक्षिप्त हो गयी हूँ। मैं तो’ कैकेयी ने वाक्य अधूरा छोड़ दिया और विलाप करने लगी।

‘महारानी! कृपया शांत होकर हमें कुछ बतायें, अन्यथा हम कैसे समझ पायेंगे आपकी व्यथा को?’

‘कैकेयी की व्यथा की चिंता किसे है यहाँ!’

‘हमें है महारानी, आप बताइये तो।’

‘क्या बताऊँ मैं? जिस समाचार की सूचना सारी अयोध्या को है, उसकी सूचना एकमात्र कैकेयी को ही नहीं है ... यही चिंता है आपको कैकेयी की? यही उपलब्धि है

कैकेयी की निष्ठा की? इतना ही सम्मान है कैकेयी का आपकी दृष्टि में?’ कैकेयी उसी भांति विलाप करती हुई चीखी।

दशरथ तो हतप्रभ थे ही, मंथरा भी हतप्रभ थी। उसे विश्वास ही नहीं हो रहा था कि यह वही कैकेयी है! कैकेयी सचमुच विक्षिप्त हो गयी थी। विक्षिप्तावस्था में ही वह, वह सब कहे जा रही थी जो कुछ कहना उसे स्वयं को कुछ काल पूर्व तक असंभव प्रतीत हो रहा था।

‘महारानी!’ दशरथ भी हताश हो उठे, उन्होंने आर्तनाद किया।

‘मत कहिये मुझे महारानी। मेरा सम्मान तो यहाँ एक दासी के बराबर भी नहीं है।’

‘ऐसा नहीं है महारानी! दशरथ की दृष्टि में आपका कितना सम्मान है यह किसी से छिपा नहीं है। आपको हमारे ऊपर इस प्रकार का लांछन लगाना शोभा नहीं देता ...’

‘यह लांछन नहीं है, यही सत्य है।’

‘महारानी!!’

‘यदि आपका कथन सत्य है तो क्या आपको स्मरण है कि आपने शम्बर युद्ध के समय कैकेयी को दो वरदान देने का वचन दिया था।’

एकाएक दशरथ नहीं समझे किंतु दूसरे ही क्षण उन्हें सब कुछ स्मरण हो आया। वे बोल पड़े-

‘हाँ महारानी, दशरथ को स्मरण है और आपके वे दोनों वरदान आज भी उसके पास सुरक्षित हैं ... आपने ही कहा था ऐसा।’

‘यदि ऐसा है तो मुझे आज चाहिए वे दोनों वरदान, बोलिये प्रदान करेंगे?’

‘अवश्य, यदि दशरथ की सामर्थ्य में हुआ तो वह आपके इच्छित वरदान अवश्य प्रदान करेगा। आप माँगिए तो ...’

‘इस प्रकार नहीं!’

‘तो किस प्रकार?’ दशरथ अब भी असमंजस में थे- ‘क्या आपको दशरथ के कथन पर अविश्वास है? क्या आपको रघुकुल की रीति पर अविश्वास है?’

‘मुझे इस समय आपका रघुकुल की रीति पर प्रवचन नहीं सुनना। मुझे मात्र मेरे दोनों वरदानों से प्रयोजन है।’

‘तो माँगिए भी तो ... कहिए तो कि आप क्या चाहती हैं!’ दशरथ व्यग्रता से बोले। वे किसी भी भांति इस अप्रिय प्रसंग का पटाक्षेप करना चाहते थे।

‘ऐसे नहीं!’

‘तो यही बताइये कैसे?’

‘त्रिवाचा (तीन बार संकल्प करना) कीजिए!’

‘किया।’

‘स्पष्ट रूप से कहकर कीजिए।’

‘इक्ष्वाकुवंशी, अजपुत्र, अयोध्या नरेश दशरथ संकल्प करता है कि आपके इच्छित वरदान, यदि उसकी सामर्थ्य में हुए तो आपको प्रदान करेगा।’

‘अभी।’

‘यदि संभव हुआ तो!’

‘संभव है।’

‘यदि संभव है तो अभी प्रदान करेगा।’

‘त्रिवाचा ...’

दशरथ ने तीन बार पूरा संकल्प दोहराया।

‘अब माँगिये तो वरदान ...’ दशरथ व्यग्रता से बोले।

‘कैकेयी प्रथम वर यह माँगती है कि अयोध्या का राज्य उत्तराधिकार में उसके पुत्र भरत को प्रदान किया जाए।’ कैकेयी ने उसी विक्षिप्तावस्था में अपना पहला वरदान माँग लिया।

दशरथ की छाती में एकाएक तीव्र पीड़ा उठी किंतु उसे दबाते हुए वे बोले-

‘महारानी यह क्या माँग रही हैं आप? आपको ज्ञात है कि कुछ काल उपरांत ही राम का अभिषेक होना निश्चित है! घोषणा हो चुकी है, सभी प्रतीक्षा कर रहे हैं।’

‘कुछ काल बाद ही है न, हो तो नहीं गया?’ कैकेयी विद्रूप से बोली- ‘और फिर जो सूचना सर्वप्रथम कैकेयी को प्राप्त होनी चाहिए थी वह उसे अब दे रहे हैं आप ? ... वह भी विवशता में। किंतु अब इस विषय में तर्क से कोई लाभ नहीं। मुझे मात्र इतना बताइये कि आप मेरा इच्छित वरदान मुझे प्रदान कर रहे हैं अथवा नहीं? ध्यान रखिएगा ... आप अपने कुल का नाम लेकर संकल्प कर चुके हैं ... त्रिवाचा कर चुके हैं। अब यदि आप वचनभंग करते हैं तो एकमेव आप ही नहीं आपके समस्त पूर्वज भी आपके कारण रौरव नर्क भोगेंगे।’

‘महारानी आप इतनी क्रूर कैसे हो सकती हैं?’

‘यदि अपना दाय माँगना क्रूरता है तो हाँ मैं क्रूर हूँ। किन्तु आप स्वयं के लिए क्या कहेंगे जिन्होंने अकारण मेरे साथ, मेरे पुत्र के साथ छल किया है?’

‘मैंने कोई छल नहीं किया महारानी आपके साथ। मेरी विवशता थी इस प्रकार अकस्मात् राम का अभिषेक करना। गुरुदेव ने बताया कि’

‘मुझे नहीं जानना कि आपके गुरुदेव ने आपको क्या बताया। मुझे मात्र इतना ज्ञात है कि राम के अभिषेक के ठीक पूर्व मेरे पुत्र को राज्य से बाहर भेज दिया गया, क्योंकि वह राज्य का वास्तविक उत्तराधिकारी था। क्योंकि यही संविदा हुई थी मेरे विवाह के समय। ... और स्वयं मुझे भी पूर्णतः अंधकार में रखा गया। यदि आपके

मन में कोई दुर्भावना नहीं थी, तो ऐसा क्यों किया? क्यों इतने महत्वपूर्ण अवसर पर संबंधियों को कोई सूचना नहीं दी गयी? न कैकेयी के भाइयों को, न ही सुमित्रा के भाइयों को और न ही महाराज जनक और महाराज कुशध्वज को? जबकि संकाश्या तो अयोध्या से दूरवर्ती भी नहीं है! महाराज कुशध्वज तो सहज ही उपस्थित हो सकते थे?’

‘जो आप सोच रही हैं, वैसा कुछ भी नहीं है महारानी...’ दशरथ ने सफाई देनी चाही किंतु कैकेयी ने उनकी बात बीच में ही काट दी-

‘अपने तर्क अपने पास रखिए महाराज! मुझे इस समय अन्य किसी भी तथ्य से कोई प्रयोजन नहीं है, मुझे मात्र अपने वरदानों से प्रयोजन है ... स्पष्ट कहिए, आप मुझे मेरे इच्छित वरदान दे रहे हैं अथवा नहीं?’

‘महारानी, कुछ भी अन्य माँग लीजिए किन्तु राम के राज्याभिषेक में व्यवधान मत डालिए इस समय, इस वृद्ध की याचना स्वीकार कर उपकार कीजिए।’

‘मैंने कहा न मुझे किसी भी अन्य विषय से कोई प्रयोजन नहीं है इस समय। मुझे मात्र यह बताइये कि आप मेरे पुत्र को, भरत को राज्य देने हेतु तत्पर हैं अथवा नहीं?’

दशरथ विवश थे। वे अपने कुल की आन को नहीं त्याग सकते थे। अपने पूर्वजों की ख्याति मिट्टी में नहीं मिला सकते थे, अपने पूर्वजों के रौरव नरक भोगने का कारण नहीं बन सकते थे। अपनी सारी शक्ति सँजोकर किसी भाँति बोले-

‘यदि आपकी ऐसी ही इच्छा है तो ऐसा ही सही! किसी को बुलाइये ताकि कुछ ही समय में आरम्भ होने वाले आयोजन को स्थगित किया जा सके। दशरथ में इतनी सामर्थ्य नहीं है कि वह स्वयं जाकर ऐसी घोषणा कर सके।’

‘इतनी शीघ्रता भी क्या है महाराज?’ कैकेयी विद्रूप से बोली- ‘अभी तो दूसरा वरदान शेष है। वह भी तो माँगने दीजिए मुझे।’

‘माँगिए, वह भी माँगिये। दशरथ भी तो देखे कि दूसरा क्या आघात देना चाहती हैं आप!’

‘किंतु अभी आपने प्रथम वरदान के लिए हाँ कहाँ कहा है? भरत को राज्य देने का वचन तो दीजिए।’

‘दिया! दशरथ वचन देता है कि आपको दिए गए वरदान के अनुरूप, भरत के आते ही उसका राज्याभिषेक किया जाएगा।’

‘उचित है महाराज! अब दूसरा वरदान।’

‘कहिए, शीघ्र ही कहिए। जो भी वङ्गापात करना है शीघ्र ही कीजिए।’

‘राम को वल्कल वस्त्रों में चौदह वर्ष का वनवास, दण्डकारण्य में।’

दशरथ के हृदय की पीड़ा एकाएक अत्यंत तीव्र हो गयी। उनका स्वयं पर से नियंत्रण छूट गया। उनकी आँखें मुँदने लगीं। बड़े कष्ट से किसी प्रकार स्वेद-स्नात उनके मुख से शब्द निकले-

‘कुलटा! आज क्या तू दशरथ के प्राण ही लेने का निश्चय किए बैठी है? सीधे ही कटार क्यों नहीं उतार देती उसके हृदय में, वह तेरे सम्मुख विवश पड़ा है।’ क्रोधावेश में दशरथ एकाएक वाणी की मर्यादा भूल गए। वे कैकेयी के लिए खुलकर अपशब्दों का प्रयोग करने लगे, जो इससे पूर्व उन्होंने किसी के लिए भी, कभी नहीं किया था।

‘आपको मुझे जो भी अपशब्द कहने हों, जीभर कह लीजिएगा। किंतु मुझे मेरा दूसरा वरदान प्रदान कीजिए। एतत्संबंधी आदेश निर्गत कीजिए अथवा स्वीकार कीजिए कि इक्ष्वाकुवंशी अपने वचनों का आदर करना नहीं जानते। वे बात का धनी होने का मात्र ढोंग करते हैं।’

‘राम ने तेरा क्या बिगाड़ा है कुलच्छिनी? वह तो तेरा कितना सम्मान करता है! तू भी तो आज तक उससे कितना स्नेह का प्रदर्शन करती थी, वह सब क्या तेरा ढोंग मात्र था?’ दशरथ की वाणी उनका साथ नहीं दे रही थी। उनके शब्द अटक-अटक कर निकल रहे थे ... अस्पष्ट निकल रहे थे। उनका सारा शरीर पसीने से लथपथ हो चुका था। किंतु कैकेयी इस समय अपने आपे में नहीं थी। ऐसा प्रतीत होता था जैसे कोई दुरात्मा उसके शरीर में प्रवेश कर गयी हो। वह दशरथ की दशा को अनदेखा कर बोल पड़ी-

‘महाराज तर्क नहीं कीजिए, मुझे मेरा वरदान प्रदान करते हैं अथवा अपने कुल की मर्यादा को धूलि-धूसरित करते हैं?’

‘क्या राम को उसके अधिकार से वंचित करके ही तुझे संतोष नहीं है प्रेतिनी! अब क्यों उस बेचारे को वनवास देना चाहती है? वह भी थोड़े-बहुत समय के लिए नहीं पूरे चौदह वर्षों के लिए? फिर दण्डकवन में ही क्यों, क्या तुझे ज्ञात नहीं कि वहाँ राक्षसों का कैसा घोर आतंक व्याप्त है? ... और... और आर्यों के लिए विन्ध्य की सीमा पार करना वर्जित है? क्या तू निश्चित ही राम के प्राणों की प्यासी हो गयी है हत्यारिन?’

‘मुझे मात्र ‘हाँ’ अथवा ‘न’ में उत्तर दीजिए- आप मुझे इच्छित वरदान प्रदान कर रहे हैं अथवा नहीं?’

‘तूने आज क्या वैधव्य का वरण करने का ही निर्णय ले लिया है कुलटा? तुझे तो मैं ऐसी नहीं समझता था। मैंने तो तेरे कारण ही कभी कौशल्या को उनके पद के योग्य सम्मान नहीं दिया। तेरे ही कारण मैंने कभी सुमित्रा को उसका अधिकार नहीं दिया।’

‘महाराज आप विषय से भटक रहे हैं।’

‘मैं विषय से भटक नहीं रहा, सीधे-सीधे मेरे प्राण ही क्यों नहीं माँग लेती? राम को छोड़ दे उसके स्थान पर दशरथ वनवास ग्रहण करने को सहर्ष तत्पर है।’

कैसे छोड़ देती कैकेयी। राम का वनवास ही तो दैव का प्रयोजन था। वह पूरी निर्ममता से बोल पड़ी-

‘मुझे राम के लिए चौदह वर्ष के दंडकारण्य में वनवास के अतिरिक्त कुछ भी स्वीकार नहीं है। भले ही एक बार आप भरत को राज्य देना अस्वीकार कर दें किंतु राम के वनवास से कोई समझौता कैकेयी को स्वीकार नहीं है।’

‘तुझे क्या अनुमान नहीं है, तेरा यह वरदान निश्चित ही मेरे प्राण ले लेगा?’

‘महाराज मैं इस समय कोई भी अनुमान लगाने की स्थिति में नहीं हूँ। मुझे राम के लिए चौदह वर्ष का वनवास चाहिए। भले ही इसके लिए आप मुझसे मेरा सब कुछ छीन लें।’

यह तर्क-वितर्क देर तक चलता रहा। दशरथ सभी प्रकार से कैकेयी को समझाने का प्रयास करते रहे किंतु कैकेयी भी विक्षिप्त सी अपनी माँगों पर अडिग थी। यहाँ तक कि सूर्योदय का समय निकट आ गया। अंततः दशरथ को हामी भरनी ही पड़ी। हाँ कहने के साथ ही वे अचेत हो गए।

* * *

उधर सभाभवन के यज्ञमंडप में गुरुदेव वशिष्ठ सहित सभी आमात्य जुट चुके थे। सारी सामग्री व्यवस्थित रख दी गयी थी। भारी संख्या में प्रजा भी एकत्र हो चुकी थी। राम और दशरथ की जय-जयकार का कोलाहल समस्त दिशाओं को गुंजायमान किए था। प्रतीक्षा थी तो बस स्वयं दशरथ के आगमन की। वे आ जायें तो राम और सीता को भी बुलवाया जाए और अभिषेक का अनुष्ठान आरंभ किया जाए।

दशरथ को विलंब होते देख वशिष्ठ ने सुमंत्र को आज्ञा दी कि वे जाकर देखें और महाराज को लिवा लायें। आमात्यों में सुमंत्र ही ऐसे थे जो निस्संकोच बिना किसी बाधा के अंतःपुर में भी जा सकते थे।

सुमंत्र जब कैकेयी के प्रासाद में पहुँचे तो दासियों का म्लान मुख देख कर उन्हें भी अचंभा हुआ। अतीव हर्ष के इस अवसर पर इन दासियों के मुख पर यह विषाद सा क्यों छाया हुआ है? इनके नेत्र लाल क्यों हैं? इन्हें देखकर ऐसा क्यों प्रतीत हो रहा है कि ये सम्पूर्ण रात्रि रोती ही रही हैं? ... और सम्पूर्ण प्रासाद में यह अबूझ सा सन्नाटा क्यों व्याप्त है? इन्हीं प्रश्नों से जूझते हुए वे दासियों द्वारा इंगित कक्ष तक पहुँचे।

कक्ष का द्वार खुला हुआ था। उन्होंने बाहर से ही इक्ष्वाकु वंश का प्रशस्तिगान करते हुए महाराज को पुकारा।

‘भीतर आ जाइये!’ भीतर से कैकेयी का स्वर सुनाई पड़ा।

सुमन्त्र ने भीतर प्रवेश किया। महाराज भूमि पर ही अस्तव्यस्त अवस्था में सोये पड़े थे। वैसी ही अवस्था में महारानी कैकेयी भी एक ओर बैठी थीं।

सुमन्त्र को कुछ समझ नहीं आया। उन्होंने महारानी को प्रणाम किया और महाराज को पुकारते हुए उनसे जागने का निवेदन करने लगे। सुमन्त्र को अभी यह समझ नहीं आया था कि महाराज अर्द्धमूर्च्छित अवस्था में हैं। महाराज के कान उनकी बातें सुन तो रहे हैं किन्तु मस्तिष्क उन्हें समझने की अवस्था में नहीं है। वे तो यही सोच रहे थे कि महाराज अभी तक सो ही रहे हैं।

जब दशरथ पर उनकी पुकारों का कोई प्रभाव नहीं पड़ा तो सुमन्त्र ने कैकेयी से ही निवेदन किया-

‘महारानी जी! आप ही जगाइये महाराज को। गुरुदेव ने अविलम्ब बुला लाने का आदेश दिया है, मुहूर्त निकला जा रहा है।’

‘आमात्य जी! आपके महाराज आज हर्ष की अधिकता के कारण सम्पूर्ण रात्रि सो नहीं पाए हैं। बस अभी इन्हें तनिक सी झपकी लगी है। इस समय इन्हें उठा पाना मेरे अथवा आपके वश में नहीं है।’

‘किंतु महारानी जी मुहूर्त निकला जा रहा है। यज्ञशाला में सभी लोग व्यग्रता से महाराज की प्रतीक्षा कर रहे हैं। महाराज पहुँचें तो युवराज राम और युवराज्ञी सीता को भी बुलाया जाए, वे भी अब तक तैयार होकर प्रतीक्षा कर रहे होंगे।’

‘तब एक ही मार्ग है- आप युवराज राम को यहीं बुला लाइये। उनकी पुकार पर ही ये उठ पायेंगे।’

‘किंतु महारानी जी! मुझे इसकी अनुमति नहीं है।’

‘अपने महाराज से ही पूछ लीजिए।’ कैकेयी ने परामर्श दिया। उसे प्रतीति हो रही थी कि राम का नाम ही इस अर्द्धमूर्च्छित अवस्था में महाराज की चेतना को स्पर्श कर पाएगा। वही हुआ भी, राम का नाम सुनते ही दशरथ ने अनजाने ही अस्फुट स्वर में उत्तर दिया-

‘हाँ, राम ... राम को बुलाओ।’

‘जैसी आज्ञा महाराज की!’ कहते हुए सुमन्त्र प्रणाम कर राम को लिवाने चले गए।

राम और सीता तो पूर्णरूप से तैयार होकर, अभिषेक के अनुष्ठान हेतु यज्ञशाला जाने के लिए प्रतीक्षारत ही थे। उन्हें आघात लगा जब सुमन्त्र ने आकर अकेले राम को कैकेयी के प्रासाद चलने को कहा। राम सोचने लगे कि क्या कारण हो सकता है? अभी तक पिताजी माता के प्रासाद में क्या कर रहे हैं? किंतु पिता की आज्ञा पर प्रश्न उपस्थित करना उनका स्वभाव नहीं था, वे चुपचाप सुमन्त्र के साथ चल दिये।

जैसे ही ये लोग प्रासाद से बाहर निकले लक्ष्मण भी आ गए। राम ने उन्हें भी अपने साथ ले लिया। मार्ग में जुटी प्रजाजनों की भीड़ के हर्षनाद और राम के दर्शनों की उत्कट लालसा के चलते रथ अपनी गति से नहीं चल पा रहा था। राम रथ से ही प्रजाजनों का अभिवादन स्वीकार कर रहे थे।

जब तक राम का रथ कैकेयी के प्रासाद तक पहुँचा, महाराज के आगमन में होते विलम्ब से चिंतित अनेक सभासद भी विलम्ब के विषय में जानकारी प्राप्त करने के उद्देश्य से कैकेयी के प्रासाद के बाहर जुट गए थे। राम को आता देख उनमें हलचल मच गयी। राम के जयकारे लगने लगे। सबको शांत कर किसी भाँति राम और लक्ष्मण ने सुमन्त्र के साथ प्रासाद में प्रवेश किया। लक्ष्मण को अचानक कल का स्मरण हो आया जब पिता ने राजसभा में राम को अकेले ही बुलाया था। उन्होंने सोचा संभव है आज भी पिता ऐसा ही चाहते हों, वे रथ रुकवाकर वहीं उतर गए और सभासदों का अभिवादन स्वीकार करने लगे।

अब तक दशरथ ने स्वयं को किसी सीमा तक सँभाल लिया था। उनकी छाती में उठी तीव्र पीड़ा भी कुछ शांत हो गई थी। वे उठकर एक कुशासन पर बैठ गए। उनके सामने ही कैकेयी बैठी थीं। राम ने प्रवेश करते ही यथाविधि दोनों को प्रणाम किया। दोनों ने आशीर्वाद दिया किंतु राम को स्पष्ट प्रतीत हुआ कि आशीर्वाद में वह उष्णता नहीं है जो सदैव होती थी। राम ने सदैव देखा था कि यदि पिता किसी उलझन में भी होते थे, तो भी उन्हें देखते ही वे खिल उठते थे, किंतु आज ऐसा नहीं हुआ था। उन्होंने यन्त्रवत अपना हाथ राम के सिर पर रखा और यन्त्रवत ही वह हाथ फिर नीचे लटक गया। उनके मुख से आशीर्वाद का कोई शब्द उच्चरित नहीं हुआ।

जब दशरथ कुछ नहीं बोले तो राम ने कैकेयी से ही पूछा-

‘माता! क्या कारण है? पिताजी को तो अब तक यज्ञशाला में उपस्थित होना चाहिये था, किंतु ये तो विषादग्रस्त से अभी यहीं बैठे हैं। मुझे भी यज्ञशाला के स्थान पर यहीं बुलवा लिया है। कोई आपात-स्थिति उत्पन्न हो गयी है क्या?’

‘हाँ आपत स्थिति ही उपस्थित हुई है।’ कैकेयी ने संक्षिप्त उत्तर दिया। उसे समझ नहीं आ रहा था कि राम से सब किस प्रकार कहे।

पिताजी कुशल से तो हैं? आप दोनों ही लोग व्यथित प्रतीत हो रहे हैं, ऐसा प्रतीत हो रहा है जैसे अभी यहाँ कोई अप्रिय प्रसंग घटित हुआ है।’ राम ने पुनः जिज्ञासा व्यक्त की।

यह कैकेयी के लिए सबसे कठिन क्षण थे। दशरथ से कठोर वचन कहना उतना दुष्कर नहीं था किंतु राम से ... ! राम को तो वह अपने हृदय की समस्त गहराइयों से स्नेह करती थी। राम था ही ऐसा, उसके सम्पर्क में आने वाला कोई भी व्यक्ति उससे

प्यार किए बिना रह ही नहीं सकता था। सम्पूर्ण आर्यावर्त का आमजन यों ही नहीं उसे श्रीविष्णु के सप्तम अवतार के रूप में पूजता था! ... परंतु कर्तव्य का निर्वहन तो करना ही था। अब तो वह इतना आगे बढ़ आई थी कि वापसी के सारे मार्ग अवरुद्ध हो चुके थे।

‘हाँ राम! तुम्हारा अनुमान ठीक ही है। तुम इन्हें अत्यंत प्रिय हो इसलिए ये तुम्हारे सम्मुख कुछ कह नहीं पा रहे हैं। वस्तुतः अत्यंत अप्रिय प्रसंग घटित हुआ है यहाँ।’

‘तो माता, आप ही मुझे वस्तुस्थिति से अवगत कराइये।’

‘इन्होंने पहले तो मुझे प्रसन्नतापूर्वक दो वरदान दिये किंतु अब अपने कुल की प्रतिष्ठा को धूलि-धूसरित करते हुए उनसे फिर जाना चाह रहे हैं।’

‘किंतु माता, वे वरदान क्या हैं? क्या वे मुझसे संबंधित हैं।’

‘हाँ वत्स, उनमें से एक तुमसे ही सम्बन्धित है। अथवा सत्य कहूँ तो दोनों ही तुमसे सम्बन्धित हैं।’

‘तो बताइये माता, मैं पिताजी का वचन कदापि मिथ्या नहीं होने दूँगा। यह इक्ष्वाकुवंशी राम का वचन है आपसे।’

‘इक्ष्वाकुवंशी तो तुम्हारे पिता भी हैं, किंतु फिर भी ये अपने वचन से डिग रहे हैं। वरदान देकर अब उन्हें उलट देने की इच्छा रखते हैं।’

‘आपने अभी बताया कि वे अप्रिय वरदान मुझसे सम्बन्धित हैं। कदाचित् ये मुझसे अपने अगाध स्नेह के कारण उन्हें उलटना चाह रहे हैं। किन्तु माता मैं ऐसा नहीं होने दूँगा। मैं पिता के वचन की रक्षा के लिए कुछ भी करने को सहर्ष तत्पर हूँ। आप मात्र आदेश करें कि मुझे क्या त्याग करना है।’

‘सोच लो राम, कहीं ऐसा न हो कि तुम भी अपने पिता के कष्ट को अनुभव कर बाद में वचन से पलट जाओ। इनका प्रिय करने के लिए सत्य का त्याग कर दो। ये इस समय की अपनी हताश मानसिक स्थिति में तुम्हें सत्य के विपरीत आचरण करने का आदेश दे बैठें और इनके आदेश से बँधे तुम भी सत्य का अपमान कर बैठो ... ध्यान रखना सत्य संसार में सर्वाधिक महत्वपूर्ण होता है।’

‘आप विश्वास रखें माता, राम के होते हुए सत्य का अपमान नहीं होने पाएगा। आप निस्संकोच कहें, सत्य कितना भी अप्रिय होगा, राम उसकी रक्षा करेगा। राम, पिता के वचनों की रक्षा करेगा।’

‘तुम दृढ़प्रतिज्ञ हो इसके लिए।’

‘हाँ माता! राम दृढ़प्रतिज्ञ है।’

‘तो सुनो ...’ अपने हृदय को कठोर करते हुए कैकेयी ने कहा- ‘शम्बर युद्ध के समय अपनी प्राण-रक्षा करने पर तुम्हारे पिता ने मुझे दो वरदान देने का वचन दिया

था। मैंने वे दोनों वरदान इनके पास सुरक्षित रख छोड़े थे। आज जब इन्होंने प्रतिज्ञापूर्वक मुझे वरदान माँगने की अनुमति दी तो मैंने वे वरदान माँग लिए।’

‘वरदान क्या हैं माता? मुझे मात्र यह बताइये, और यह बताइये कि मुझे क्या करना है। मैं कदापि पिताजी के वचन मिथ्या नहीं होने दूँगा।’

‘एक बार पुनः विचार लो राम! ऐसा न हो कि अप्रिय वचनों को सुनकर तुम भी डिग जाओ और एक बार पुनः इक्ष्वाकु कुल की मर्यादा भंग हो जाए।’

‘माता, आप लोगों की गोद में खेलकर ही राम इतना बड़ा हुआ है ...’ कहते हुए राम मुस्कुराए- ‘क्या उसे इतना भी नहीं ज्ञात कि आप यदि राम के लिए कुछ अप्रिय भी कहेंगी, तो उसमें भी कहीं न कहीं आपके राम का हित ही अन्तर्निहित होगा। आप निशंक कहें।’

राम की बात सुनकर कैकेयी का हृदय मानों फट पड़ा- इतना विश्वास है राम को उसपर, और वह राम के लिए क्या माँगने जा रही है। बड़ी कठिनाई से उसने अपने आँसुओं को ढुलकने से रोका और बोली-

‘प्रथम वर तो तुम्हारे अनुज भरत के लिए राज्य है। अयोध्या का सार्वभौम सम्राट् राम नहीं भरत होगा।’

‘इतनी सी बात माता?’ राम फिर मुस्कुराए- ‘भरत और राम में क्या कोई अंतर समझती हैं आप। आपका कथन स्वीकार है, भरत ही अयोध्या का सार्वभौम सम्राट् होगा। ... दूसरा वर माता ...?’ राम ने मुस्कुराते हुए अपने नेत्र पुनः कैकेयी की ओर उठाए।

अचानक दशरथ को जैसे चेत हुआ हो, वे चिल्ला पड़े-

‘आगे मत सुनो पुत्र। इस कुलघातिनी की बातें सुनने योग्य नहीं हैं। तुम अपने पिता के वचनों को मिथ्या हो जाने दो। तुम समर्थ हो, अयोध्या के राज्य पर बलात् अधिकार कर लो। मैं तुम्हें आदेश देता हूँ।’

‘सुन लिया राम!’ कैकेयी ने विषाद और उपहास से मिले-जुले स्वर में कहा।

‘आप दूसरा वरदान बताइए माता!’

कैकेयी के नेत्र हठात् राम की अविचलित मुद्रा की ओर उठ गए। मेरा राम तो अब भी मुस्कुरा रहा है। धन्य हैं जीजी, जिन्होंने ऐसे पुत्र को जन्म दिया।

‘माता, विचलित क्यों हो रही हैं, कहिए तो ... आप विश्वास रखें राम पिता के वचनों को मिथ्या नहीं होने देगा।’

कैकेयी कहना चाहती थी कि मुझे विश्वास है तुम पर पुत्र परंतु किस मुँह से कहूँ; किंतु यह कहने का अवसर नहीं था। प्रकट में वह बोली-

‘दूसरा वरदान है कि तुम आज ही वल्कल धारण कर चौदह वर्ष के लिए दण्डकारण्य में वनवास हेतु प्रस्थान करो। आज से तुम्हारा निवास अयोध्या का राजप्रासाद नहीं दुर्गम वन होंगे।’ इतनी देर से कैकेयी अपनी भावनाओं पर नियंत्रण किए हुए थी। इतना कहते-कहते वह नियंत्रण थोड़ा सा विचलित हो ही गया। उसकी आँखों की कोरें गीली हो ही गयीं।

राम के मस्तिष्क में बिजली सी कौंधी। जब से उन्हें अपने अभिषेक की सूचना मिली थी, तभी से वे सोच रहे थे कि यह क्या घटित होने जा रहा है? गुरुदेव वशिष्ठ और ब्रह्मर्षि विश्वामित्र दोनों ने ही तो इसके विपरीत संकेत दिए थे? क्या उनके संकेत भी मिथ्या हो सकते हैं?

कैकेयी के कथन से राम का संदेह मिट गया। गुरुओं के संकेत मिथ्या नहीं थे। मंद हास्य उनके होंठों पर खेलने को आतुर हो उठा किंतु उन्होंने बलात् उसे रोक लिया और संयत स्वर में बोले-

‘स्वीकार है माता! राम अभी प्रस्थान के लिए उद्यत होता है। अनुमति हो तो अन्य दोनों माताओं से अनुमति और आशीष प्राप्त कर ले।’

‘अनुमति है पुत्र!’ कैकेयी के मुख से इतना ही निकला।

दशरथ पुनः अचेत हो गये थे। वे अब राम को रोकने की स्थिति में नहीं थे।

‘तो अनुमति दें माता!’ राम ने हाथ जोड़कर कैकेयी से अनुमति माँगी।

‘यशस्वी भव!’ कैकेयी बस इतना ही बोल पायी।

फिर राम अचेत पिता के चरणों में झुकते हुए बुदबुदाए-

‘पिता जी, राम को क्षमा कर दीजिएगा, वह आपके आदेश की अवहेलना कर रहा है। किंतु वह विवश है, आपके वचनों की रक्षा करना भी तो उसीका कर्तव्य है।’

राम चले गए। उनके जाते ही कैकेयी पछाड़ खा कर गिर पड़ी।

अब तक द्वार की ओट में छिपी खड़ी मंथरा ने दौड़कर उसे सँभाला। मंथरा के कक्ष में प्रवेश करते ही असमंजस में सहमी सी खड़ी अन्य दासियाँ भी दौड़ पड़ीं।

* * *

बाहर लक्ष्मण अन्य सभासदों के साथ प्रतीक्षारत थे। राम को अकेले बाहर निकलते देख सभी चकित हो गए। क्या कारण है, क्या महाराज अचानक अस्वस्थ हो गए हैं? सबके मन में इसी प्रकार की आशंकाएँ कुलबुलाने लगीं। उत्तर पाने के लिए सभी की उत्सुक दृष्टि राम के मुख पर टिकी थी।

राम की मुख-मुद्रा गंभीर थी, इसे लक्ष्मण ने भी लक्ष्य किया। वे राम से प्रश्न करने को उद्यत हुए किंतु वे कुछ बोलते उससे पूर्व ही राम ने उनका हाथ दाब दिया। यह संकेत था शांत रहने का। सभासदों से राम इतना ही बोले-

‘आप लोग कृपापूर्वक अपने-अपने घर जायें। महाराज अस्वस्थ हैं, अभिषेक का अनुष्ठान स्थगित हो गया है।’

इतना कह कर राम लक्ष्मण का हाथ थामे हुए रथ पर चढ़ गए।

‘माता कौशल्या के प्रासाद में।’ उन्होंने सारथी की प्रश्नवाचक दृष्टि को संक्षिप्त सा उत्तर दिया।

* * *

महाराज और राम को अनावश्यक विलंब होते देख यज्ञशाला में सभी बेचैन थे। यह सूचना वहाँ पहुँच चुकी थी कि महाराज महारानी कैकेयी के प्रासाद में हैं और राम को भी वहीं बुलवाया गया है। उत्सुक भीड़ धीरे-धीरे उधर ही बढ़ने लगी। गुरुदेव और सुमन्त्र भी इस भीड़ के साथ थे। अन्य आमात्यगणों को उन्होंने वहीं यज्ञशाला में ही रोक दिया था।

इस भीड़ में गुरुदेव के अतिरिक्त सभी व्यग्र थे। गुरुदेव को आभास था कि क्या हुआ होगा, उन्होंने ही तो कैकेयी को कर्तव्य-पालन के लिए प्रेरित किया था।

मार्ग में ही उन्हें उधर से उदास से आते हुए सभासद मिल गए। उनसे सूचना मिली कि महाराज के अस्वस्थ होने के कारण अनुष्ठान स्थगित हो गया है। सभी को लग रहा था कि इस सूचना में कुछ भेद है, किंतु यह सूचना स्वयं राम ने दी थी। उन पर अविश्वास करना भी संभव नहीं था।

गुरुदेव ने सभी को राम के निर्देशानुसार अपने-अपने निवास की ओर प्रस्थान करने का आदेश दे दिया और स्वयं कौशल्या के प्रासाद की ओर बढ़ चले।

* * *

राम प्रासाद के द्वार पर रथ से उतर कर सीधे भीतर प्रवेश कर गए। वे अभी भी लक्ष्मण का हाथ थामे थे। लक्ष्मण उनके इस आचरण पर अचंभित थे। वे उनसे अनेक प्रश्न करना चाहते थे, किंतु विवश उनके पीछे घिसटते से चले जा रहे थे।

कौशल्या और सुमित्रा अभी भी मंदिर में ही थीं।

‘माता! आपके प्रभु ने आपकी विनती नहीं स्वीकार की है, उन्होंने आपके राम के लिए कुछ और ही भूमिका निर्धारित कर रखी थी संभवतः।’ मंदिर के द्वार से ही राम ने कौशल्या को पुकारते हुए कहा।

राम के शब्द कौशल्या और सुमित्रा के सीने में बाण के समान उतरते चले गए। सब कुछ पहले से जानते हुए भी दोनों का हृदय बैठ गया। राम तो इस प्रकार कभी नहीं बोलता था। अवश्य ही नियति ने अपना कार्य कर दिया है, सोचती हुई दोनों हड़बड़ाकर बाहर निकल आयीं।

राम के शब्द लक्ष्मण की समझ में भी नहीं आए थे, किंतु वे अभी मौन थे। अचानक उनका चुलबुलापन कहीं छिप गया था।

बाहर निकलते ही कौशल्या ने हठात् राम को अपने वक्ष में भींच लिया और व्यग्रता से प्रश्न किया-

‘क्या हुआ? ऐसे अशुभ वचन क्यों बोल रहा है?’

‘माता, पिता ने राज्य भरत को देने का निर्णय किया है और मेरे लिए वल्कल धारण कर चौदह वर्ष के वनवास का आदेश हुआ है।’

‘क्या?’ कौशल्या सहन नहीं कर पायीं। कल से रुके हुए उनके आँसुओं का बाँध टूट ही गया। सुमित्रा के आँसुओं ने भी अब नियंत्रण अस्वीकार कर दिया।

‘हुआ क्या? पूरी बात बता।’ कौशल्या ने सिसकते हुए प्रश्न किया।

राम ने सम्पूर्ण प्रकरण कह सुनाया।

कौशल्या और सुमित्रा के लिए अब पूछने को बचा ही क्या था। कैकेयी अपने कर्तव्य का निर्वहन कर चुकी थी। कैसे किया होगा उसने अपने हृदय को इतना कठोर? दोनों यही सोच रही थीं।

लक्ष्मण अवाक् से खड़े थे।

‘लक्ष्मण!’ अचानक राम बोले।

‘जी भ्राता!’ राम का स्वर सुनकर लक्ष्मण सचेत हुए। अभी तक तो उन्हें समझ ही नहीं आ रहा था कि यह सब हो क्या रहा है।

‘जाओ तनिक सीता को तो लिवा लाओ। जाने से पूर्व उससे भी तो विदा लेनी होगी।’

‘कोई कहीं नहीं जाएगा भ्राता। लक्ष्मण ऐसा अनैतिक निर्णय कदापि स्वीकार नहीं कर सकता।’

‘लक्ष्मण! पिता के वचनों की मर्यादा रखना पुत्र का कर्तव्य है। अतः ...’

‘आप बँधे होंगे मर्यादा से ...’ लक्ष्मण राम की बात काटते हुए आवेश में बोले- ‘किंतु लक्ष्मण ऐसी किसी मर्यादा को स्वीकार नहीं करता जो अन्याय की पक्षधर हो।’

‘यह अन्याय नहीं है। अयोध्या के राज्य पर भरत, लक्ष्मण और शत्रुघ्न का भी उतना ही अधिकार है जितना राम का। तो क्या अंतर पड़ जाएगा यदि राम के स्थान पर भरत का अभिषेक होता है?’

‘नहीं भ्राता, राज्य पर बड़े पुत्र का ही अधिकार होता है। फिर भी, भ्राता भरत को राज्य मिल जाए मुझे एक बार सह्य है, किंतु तब पिता के वचनों की मर्यादा का निर्वाह करना भी उन्हीं का कर्तव्य होगा। पिताजी का दूसरा आदेश लक्ष्मण कदापि स्वीकार नहीं कर सकता। भले ही इसके लिए उसे सबसे युद्ध ही क्यों न करना पड़े।’

‘लक्ष्मण!!’ राम ने लक्ष्मण को समझाना चाहा।

‘नहीं भ्राता, यदि पिताजी ने अपना निर्णय नहीं परिवर्तित किया तो लक्ष्मण एकाकी ही अयोध्या की समस्त सेना को पराजित कर बलपूर्वक राज्य को अधिग्रहीत करने में समर्थ है।’

‘अनर्गल प्रलाप मत करो लक्ष्मण।’

‘यह अनर्गल प्रलाप नहीं है भ्राता, यही सत्यता है।’

‘नहीं, हमारा कर्तव्य राज्य की रक्षा करना है, राज्य से युद्ध करना नहीं।’

‘हमारा कर्तव्य अनीति का विरोध करना भी है भ्राता। पिताजी अनीति के सहयोगी हो रहे हैं।’

‘नहीं पिताजी अपने वचन से बँधे हुए हैं। तुम शांत हो जाओ ... यह तुम्हारे लिए राम का, तुम्हारे अग्रज का आदेश है।’

अंततः लक्ष्मण शांत हुए किंतु सहजता से नहीं। राम को बहुत प्रयास करना पड़ा, बहुत समझाना पड़ा, और स्थाणु-आश्रम की घटनाओं का संकेत भी देना पड़ा।

‘ठीक है भ्राता, जब आप स्वयं ही इस अनैतिक आदेश की रक्षा करने का निर्णय कर चुके हैं तब लक्ष्मण कर भी क्या सकता है!’ लक्ष्मण ने हताशा से कहा। फिर आगे जोड़ा- ‘तो क्या आप यहीं से प्रस्थान करेंगे?’ ऐसा प्रतीत हो रहा था जैसे वे मन ही मन कुछ संकल्प कर रहे हों।

‘हाँ!’ राम ने संक्षिप्त सा उत्तर दिया।

‘ठीक है, किंतु उससे पूर्व मुझे मँझली माँ से कुछ प्रश्न करने हैं। तदुपरान्त मैं भाभी को लेकर आता हूँ।’

‘नहीं, तुम ऐसा कदापि नहीं करोगे।’ राम का स्वर अनायास कठोर हो गया था।

लक्ष्मण एक बार पुनः चौंक पड़े। राम तो ऐसे स्वर में कभी नहीं बोलते थे?

‘ठीक है।’ लक्ष्मण ने विवश से स्वर में उत्तर दिया और चले गए।

‘माता, मैं अपनी वेशभूषा परिवर्तित करके आता हूँ।’ राम ने कौशल्या से कहा और वे भी भीतर चले गए। उन्हें करना ही क्या था, आभूषण और राजसी वस्त्र उतार कर रखने थे और उनके स्थान पर साधारण से गैरिक वस्त्र धारण करने थे। उन्हें पता था कि वे माता के यहाँ कहाँ उपलब्ध हैं।

कौशल्या के लिए बोलने को कुछ था ही नहीं।

कुछ ही पलों में राम अपनी वेशभूषा परिवर्तित कर आ गए। उन्हें इस वेश में देखकर दोनों माताओं के हृदय और तीव्र विलाप करने लगे। दोनों की ही हिचकियाँ बँधी हुई थीं। दोनों के ही मुख से शब्द नहीं निकल रहे थे।

तभी गुरुदेव और सुमन्त्र भी आ गए।

‘गुरुदेव! नियति अपना खेल खेल गयी।’

‘महारानी! क्या पहले भी कभी कोई नियति से विजयी हुआ है कि हम ही हो जाते?’

सब मौन सीता और लक्ष्मण के आगमन की प्रतीक्षा करने लगे।

* * *

सम्पूर्ण नगर में अब तक यह समाचार प्रसारित हो गया था कि अचानक राम को वनवास का आदेश हुआ है। सब व्यथित थे और व्यथा में अपने-अपने अनुसार अनुमान लगा रहे थे। कोई दशरथ को अपशब्द कह रहा था तो कोई कैकेयी को कोस रहा था। कौशल्या के प्रासाद के बाहर जैसे सारा नगर उमड़ा पड़ रहा था।

* * *

लक्ष्मण भी आ गए। उनके साथ सीता और उर्मिला भी थीं। सभी विस्मित हो उठे जब देखा कि लक्ष्मण भी किसी मुनिकुमार की सी वेशभूषा में हैं।

‘यह क्या है लक्ष्मण, तुमने यह क्या किया है?’

‘जो आदेश आपके लिए है वह लक्ष्मण के लिए भी है।’

‘यह तुम क्या कह रहे हो? पिता का आदेश मात्र मेरे लिए ही है।’

‘आप यह कैसे सोच सकते हैं कि लक्ष्मण आपसे पृथक है?’

‘मेरा आशय यह कदापि नहीं था। हम चारों भाइयों में कोई अन्तर नहीं है। किंतु इस समय वनगमन का आदेश मात्र मेरे लिए ही है।’

‘नहीं लक्ष्मण आपसे अभिन्न है।’

‘लक्ष्मण! पिताजी अत्यंत व्यथित हैं। भरत और शत्रुघ्न भी यहाँ हैं नहीं। यहाँ सबकी देखभाल करने के लिए तुम्हारा यहाँ रहना आवश्यक है।’

‘मुझे कुछ नहीं ज्ञात। मुझे मात्र इतना ज्ञान है कि लक्ष्मण वहीं रहेगा जहाँ राम होंगे।’

‘लक्ष्मण!’ राम का स्वर कुछ तीव्र हो गया।

‘भ्राता! आप व्यर्थ प्रयास कर रहे हैं। आपका एक आदेश मैं स्वीकार कर चुका हूँ किंतु अपने इस निर्णय के विषय में मैं न तो किसी का परामर्श मानने को तत्पर हूँ न ही किसी का आदेश ... चाहे वह आपका ही क्यों न हो।’

‘यहाँ की परिस्थिति को समझने का प्रयास करो लक्ष्मण!’ राम ने हताशा में अपना सिर झटका।

‘भ्राता आप भलीभाँति जानते हैं कि लक्ष्मण को आपके साथ जाना ही है, फिर व्यर्थ मुझे रोकने में समय और अपनी ऊर्जा क्यों व्यय कर रहे हैं। स्मरण रखिए कि स्वयं नियति ने लक्ष्मण को आपके साथ बाँध रखा है।’ लक्ष्मण ने गुरु-गंभीर स्वर में कहा।

लक्ष्मण के शब्दों का निहितार्थ राम के अतिरिक्त कोई नहीं समझा था। किसी को क्या पता था कि लक्ष्मण और राम दोनों ही नारद की सम्पूर्ण योजना से परिचित हैं, और इस संदर्भ में उनकी स्वयं श्रीविष्णु से भेंट भी हो चुकी है और आशीर्वाद स्वरूप अनेक दिव्यास्त्र भी प्राप्त हो चुके हैं।

‘लक्ष्मण! राम उचित ही कह रहा है।’ कौशल्या ने भी प्रयास किया।

‘माता कृपया ऐसा कुछ न कहें जिसकी आपके लक्ष्मण को अवहेलना करनी पड़े। उस पर माता के आदेश का निरादर करने का कलंक लगे।’

कौशल्या निरुत्तर हो गयीं।

तभी सीता भी अपने आभूषण उतारने लगीं।

‘सीते! तुम यह क्या कर रही हो?’ चकित राम ने प्रश्न किया।

‘कोई भी अनुष्ठान पत्नी के बिना पूरा नहीं होता। पत्नी, पति की अर्द्धांगिनी होती है। सीता के बिना आपका वनगमन अधूरा ही रहेगा। आप का अर्द्धांग यदि यहाँ राजसी सुख भोगता रहेगा तो आपका वचन कैसे पूर्ण हो सकता है?’

‘नहीं ऐसा नहीं हो सकता।’

‘ऐसा ही होगा, सीता भी आपके साथ ही जायेगी।’

‘सीता! क्यों हठ कर रही हो।’

‘यह हठ ही इस समय सीता का कर्तव्य है।’

‘गुरुदेव! आप ही समझाइये इसे।’ सीता के हठ से विवश राम ने गुरुदेव की ओर देखा।

किंतु गुरुदेव को तो नारद के वचन स्मरण हो रहे थे- सीता रावण की पुत्री है और रावण के कुल के सम्पूर्ण विनाश का कारण बनेगी। तो रावण के विनाश के कारण को वे रावण के द्वार तक जाने से कैसे रोक सकते थे।

‘सीता उचित ही कह रही है राम। पत्नी पति की अर्द्धांगिनी होती है। उसकी शोभा पति के साथ ही होती है। यदि तुम्हें वनवास का आदेश हुआ है तो सीता का भी तुम्हारे साथ ही जाना उचित है।’

राम विवश हो गए। इस परिस्थिति में भी सीता के मुख पर संतोष भरी स्मित खेल गयी।

‘ठीक है पुत्री, तू भी राम के साथ जा सकती है। पत्नी का कर्तव्य है सुख-दुःख सभी में समान भाव से पति का साथ निभाना। किंतु तू अयोध्या की कुलवधू है। तुझे निराभरण मैं नहीं देख सकूँगी। यह कुलदेवता का भी अपमान होगा।’ गुरुदेव की सहमति देख, भरी आँखों से, विवश कौशल्या ने कहा।

‘महारानी उचित कह रही हैं पुत्री।’ गुरुदेव ने भी समर्थन किया- ‘तेरा निराभरण जाना कदापि उचित नहीं है। फिर तेरे ये आभूषण अयोध्या की सम्पत्ति नहीं हैं, ये तेरा स्त्री धन हैं। इन्हें कोई तुझसे नहीं छीन सकता। तू इन आभूषणों को धारण किए हुए ही अपने पति का साथ देगी। फिर यह भी तो सोच, किसी विपत्ति में ये आभूषण कितना साथ दे सकते हैं तुम लोगों का!’

‘किंतु गुरुदेव ...!’ सीता ने कुछ कहना चाहा।

‘कोई किंतु-परन्तु नहीं। यह हम सबका आदेश है।’ गुरुदेव ने सीता की बात बीच में ही काट दी।

‘तो फिर प्रस्थान की अनुमति दें माता।’ सीता और लक्ष्मण के हठ को अंततः स्वीकार करते हुए राम ने अनुमति माँगी।

राम के इतना कहते ही उर्मिला भी लक्ष्मण की बगल में आकर खड़ी हो गयी- ‘मैं भी चल रही हूँ साथ में।’

‘नहीं उर्मिला! यदि तुम भी हमारे साथ चलोगी तो यहाँ माताओं का ध्यान कौन रखेगा?’ लक्ष्मण ने उर्मिला के हठ को स्पष्ट नकार दिया।

‘क्यों भला? मेरा दायित्व नहीं है सुख-दुःख में समान भाव से अपने पति का साथ निभाना?’

‘भाभी भ्राता के साथ जा रही हैं क्योंकि वे उनकी अर्द्धांगिनी हैं ...’

‘मैं भी तो आपकी अर्द्धांगिनी हूँ।’ लक्ष्मण की बात काटती हुई उर्मिला बोल पड़ी।

‘किंतु मुझे वन जाने का आदेश नहीं हुआ है। मैं तो अपने भ्राता और भाभी की सेवा और सुरक्षा के लिए उनके साथ जा रहा हूँ और अपनी अनुपस्थिति में माताओं की सेवा और सुरक्षा का दायित्व तुम्हें सौंपकर जा रहा हूँ। ... भ्राता के वनगमन के उपरांत पिताजी और माताओं की सेवा और सुरक्षा का दायित्व अब मेरा ही है और मेरी अर्द्धांगिनी होने के नाते वह तुम्हारा भी दायित्व है। मैं अपने दोनों दायित्वों का निर्वहन एक साथ नहीं कर सकता। मैं या तो इस संकटकाल में भ्राता और भाभी की सेवा कर सकता हूँ या फिर यहाँ रहकर पिताजी और माताओं की सेवा कर सकता हूँ। इस स्थिति में मेरी अर्द्धांगिनी होने के नाते मेरे दायित्वों को बँटाना तुम्हारा दायित्व है। अतः तुम्हारा यहाँ रहना ही उचित है।’

उर्मिला ने बहुत सारे तर्क किए किंतु अंततः सबने मिलकर उसे माताओं की सेवा करने हेतु रुकने के लिए मना ही लिया।

राम, सीता और लक्ष्मण सबसे विदा लेकर चलने के लिए उद्यत हुए। सामग्री के रूप में उनके पास मात्र उनके धनुष, बाणों से भरे तूणीर और कमर में बँधी कटारें ही थीं। इनके अतिरिक्त एक कुठार (कुल्हाड़ी) थी और एक पोटली जिसमें सुमित्रा ने

सीता के बदलने के लिए कुछ वस्त्र बाँध दिए थे। पोटली लक्ष्मण ने अपने कंधे पर टाँग ली और कुठार हाथ में उठा ली।

‘सुमन्त!’ एकाएक गुरुदेव बोले।

‘आदेश गुरुदेव!’

‘राम को अभिषेक हेतु लाने का दायित्व तुम्हें सौंपा गया था, अब इन्हें अयोध्या की सीमा तक पहुँचाने का अप्रिय दायित्व भी तुम्हीं निर्वहन करो।’

‘जैसी आज्ञा गुरुदेव!’

‘गुरुदेव! एक निवेदन है।’ चलते-चलते राम पुनः एकबार गुरु वशिष्ठ से सम्बोधित हुए।

‘कहो पुत्र!’

‘आज ही किसी तीव्रगामी संदेशवाहक को केकय भेज दिजिएगा, भरत को लिवा लाने के लिए। ताकि पिताजी के प्रथम वचन का भी सम्यक निर्वाह हो सके।’

‘निश्चित रहो वत्स!’

32- प्रस्थान

कौशल्या के प्रासाद के बाहर जैसे जन-समुद्र हिलोरें मार रहा था। जैसे सारा नगर वहीं एकत्र हो गया था। प्रत्येक नगरवासी व्यग्र था जानने को कि वस्तुतः हो क्या रहा है? क्या राम सत्य ही वनवास ग्रहण कर रहे हैं?

राम और लक्ष्मण के राजसी भूषा त्याग कर किसी वनवासी के रूप में प्रासाद से बाहर आते ही समस्त उपस्थित जनों को भयंकर आघात लगा। और यह क्या उनके साथ स्वयं सीता भी हैं। इक्ष्वाकु वंश की कुलवधू! अयोध्या की राजलक्ष्मी की प्रतीक! कोशल के सम्मान का प्रतिबिम्ब ... वह भी इनके साथ जा रही हैं क्या? क्या सच में ही महाराज की मति मारी गयी है, जो यह सब होने दे रहे हैं?

प्रस्थान से पूर्व राम एक बार पुनः कैकेयी के प्रासाद की ओर बढ़ चले, पिता से विदा लेने हेतु। वहाँ दशरथ ने उन्हें अनेक प्रकार से समझाने का प्रयास किया। उनके साथ चतुरंगिणी सेना, आमोद-प्रमोद और विलास की विशाल सामग्री, दास-दासियों का पूरा दल, अपनी विक्रय सामग्री से लदी बैलगाड़ियों के साथ बड़ी संख्या में कुशल वणिक और ... और भी बहुत कुछ भेजने का प्रस्ताव किया। इतना सब कुछ कि जहाँ भी राम जाते वहाँ वन में ही एक सम्पूर्ण नगर बस जाता और राम सहजता से एक युवराज के समान ही अपना वनवास का समय व्यतीत कर सकते। किंतु कैकेयी के साथ ही स्वयं राम ने भी इसे स्वीकार नहीं किया और दशरथ व कैकेयी दोनों को प्रणाम निवेदित कर विदा लेकर वनगमन हेतु निकल पड़े।

राम के निकलते ही दशरथ पुनः पछाड़ खाकर गिर पड़े।

अब तक अयोध्या में हाहाकार मच चुका था। बड़ी कठिनाई से सुमन्त रथ को आगे बढ़ा पा रहे थे। राम कुछ नहीं बोल रहे थे, बस रथ पर हाथ जोड़े खड़े सबका अभिवादन स्वीकार कर रहे थे। बीच-बीच में राम के नाम के जयकारे भी लगने लगते थे तो कभी-कभी दशरथ को कोसने वाले नारे भी आकाश को छेदने लगते थे, तब राम को उच्च स्वर में लोगों को शांत करने का प्रयास करना पड़ता था। किंतु वह प्रयास बहुत लाभदायी तो नहीं हो रहा था। प्रजा का प्रत्येक व्यक्ति इस अनपेक्षित घटनाक्रम से व्यथित था, आक्रोशित भी था और अपने-अपने स्तर से, अपने अपने तरीके से इसका प्रतिरोध करने का प्रयास भी कर रहा था।

आज पहली बार ऐसा हुआ था कि दशरथ की उप-पत्नियाँ भी मार्ग पर निकल आई थीं, अन्यथा उनका तो उस परिसर से निकलना मात्र विशेष उत्सवों पर ही, किसी सजावट की वस्तु की भांति ही होता था। राम ने उनके शुष्क हो चुके हृदयों में भी

वात्सल्य का पौधा पुनः रोप दिया था। आज पहली बार वे भी खुलकर दशरथ और कैकेयी के प्रति अपना रोष व्यक्त कर रही थीं।

* * *

व्याकुल प्रजा-जनों की भीड़ में स्थान बनाता हुआ रथ धीरे-धीरे सरकता रहा। जितने भी युवा रथ में इधर-उधर लटक सकते थे लटके हुए सुमंत्र से और राम से भी, रथ को रोकने की प्रार्थना कर रहे थे।

मार्ग में पड़ने वाले घरों की छतों पर इतनी महिलायें, बच्चे और वृद्ध टँगे थे कि लगता था कहीं छत टूटकर गिर ही न पड़े।

इसी तरह जूझते हुए तीव्रगामी अश्वों से जुता वह रथ चींटी की भाँति रेंगता हुआ, रात्रि होते-होते मात्र तमसा के तट तक पहुँच पाया। निश्चय हुआ कि वहीं रात्रि विश्राम किया जाएगा। आसपास के निवासी राम की उपस्थित के विषय में सुनते ही दौड़कर आ गए। सब राम-सीता-लक्ष्मण के लिए कुछ न कुछ स्वादिष्ट भोज्य पदार्थ भी लाए थे, किंतु राम ने विनम्रता से मना कर दिया। लक्ष्मण और सुमन्त्र इधर-उधर पेड़ों से कुछ फल बटोर लाए, राम ने उन्हीं का आहार किया और तमसा का जल पीकर शयन का प्रयास करने लगे। लक्ष्मण और सुमंत्र भी राम के ही विषय में बतियाने लगे।

रथ के साथ लटके लोग, रथ के साथ दौड़ते आते लोग और स्थानीय लोग तो थे ही। पीछे-पीछे आने वालों के जत्थे के जत्थे चले ही आ रहे थे। सबका एक ही उद्देश्य था कि किसी भी भाँति राम को मना लें, वे यहीं से वापस लौट चलें, परंतु राम को सोता जानकर चुप रहे। बड़ी संख्या में ऐसे लोग भी थे जो किसी भी स्थिति में भी राम का साथ छोड़ना ही नहीं चाहते थे। राम को सोया देखकर वे सब भी वहीं तमसा के तट पर लेट गए। उस बालुकाराशि में एक छोटा-मोटा नगर बस गया। शीतल समीर ने सारे थकित व व्यथित जनों को धीरे से अनचाहे ही निद्रा की गोद में जाने को विवश कर दिया।

रात्रि का तीसरा प्रहर आरंभ होते-होते राम उठ बैठे। उन्होंने चारों ओर दृष्टि दौड़ाई, सारे लोग सो रहे थे।

राम ने सुमन्त्र को जगाया और चुपचाप रथ तैयार करने का आदेश दिया। सुमंत्र जब तक रथ तैयार करते, उन्होंने सीता और लक्ष्मण को भी जगा दिया। उसी समय उन्होंने नदी पार की ओर आगे बढ़ चले।

प्रातः काल जब लोग उठे तो राम को न पाकर ठगे से रह गए। उन्होंने भी तमसा को पार कर रथ की लीक के सहारे राम को खोजने का बहुत प्रयास किया किंतु राम

तब तक बहुत दूर निकल चुके थे। अब इन सबके पास निराश लौटने के सिवा कोई चारा नहीं था।

दूसरे दिन राम के रथ ने दक्षिण कोशल को पार किया। फिर वेदश्रुति, गोमती और स्यन्दिका नदियों को पार किया और अंततः गंगा के तटवर्ती शृंगवेरपुर पर पहुँच गए। शृंगवेरपुर का निषाद शासक गुह राम का पुराना मित्र था। राम के आगमन की सूचना मिलते ही वह बन्धु-बान्धवों सहित आ पहुँचा।

गुह को आता देख राम ने पहचानकर बाहें फैला दीं और दोनों प्रगाढ़ आलिंगन में समा गए। राम की वेशभूषा देखकर गुह को अत्यंत क्लेश हुआ। उसने निवेदन किया-

‘प्रभु, आपने क्या गुह को पराया मान लिया जो यहाँ निर्जन तट पर पड़े हैं?’

‘नहीं मित्र! मुझे पिता ने वनवास का आदेश दिया है, मैं नगर में प्रवास नहीं कर सकता।’

‘वनवास का आदेश आपको अयोध्या से हुआ होगा, गुह का सम्पूर्ण राज्य भी आपका ही है। आप निःशंक शृंगवेरपुर पर शासन कीजिए। गुह आपके सेवक के रूप में सदैव तत्पर रहेगा।’

‘मित्र! ...’ राम हँसे- ‘राम अपने पिता के वचन की रक्षा के लिए वनवास हेतु निकला है। राज्य, वह चाहे अयोध्या हो अथवा शृंगवेरपुर, वन कदापि नहीं हो सकता।’

‘किंतु आप अयोध्या से निष्कासित हैं, गुह के राज्य से नहीं।’ कहते हुए गुह ने राम का हाथ थाम लिया और खींचता हुआ बोला- ‘आप मेरे साथ तत्काल चलिए। आपको कोई असुविधा नहीं होगी। गुह का, छोटा ही सही, प्रासाद होते हुए आप यहाँ निर्जन वन में निवास नहीं कर सकते।’

‘मैं निष्कासित तो अयोध्या से भी नहीं हूँ मित्र, मुझे मेरे पिता ने वनवास का आदेश दिया है और उनके वचनों की रक्षा करना मेरा दायित्व है। नगर में प्रवेश कर मैं उनके वचनों को मिथ्या किस प्रकार कर सकता हूँ?’

‘प्रभु ऐसा कैसे संभव है? मार्ग में अनेक नगर-गाँव-बस्तियाँ पड़ेंगी, उनमें प्रवेश तो आपको करना ही पड़ेगा। उसी भाँति शृंगवेरपुर भी आपके मार्ग में पड़ रहा है। आप मेरे साथ चलकर रात्रि भर विश्राम कीजिए, प्रातः क्या करना है, उसपर प्रातः ही विचार कर लेंगे।’

‘नहीं मित्र! दिवस के समय किसी कार्य से बस्ती में प्रवेश संभव है अथवा मार्ग में यदि नगर पड़ जाये तो उससे होकर जाया जा सकता है किंतु रात्रि-विश्राम हेतु नगर में ठहरना सर्वथा मर्यादा का उल्लंघन होगा। अतः मुझे क्षमा करें।’

गुह ने सभी प्रयास किए किंतु राम ने उसके साथ नगर में जाना स्वीकार नहीं किया। तब गुह ने अपने साथ आए व्यक्तियों में से कुछ को वहीं पर्याप्त सुरुचिपूर्ण भोज्य सामग्री ले आने का आदेश दिया। किंतु राम ने उसमें भी तत्काल बाधा दी-

‘मित्र, मेरी बात को अपनी उपेक्षा मत समझना, न ही इसे अन्यथा लेना। वस्तुतः वनवासी का भोजन मात्र वन में सहज प्राप्त सामग्री, कन्दमूल फल इत्यादि ही होता है। हम लोग तुम्हारी पाकशाला में बना अन्न स्वीकार नहीं कर सकते। तुम मात्र सुमन्त जी और रथ के इन अश्वों के भोजन का प्रबंध कर दो।’

गुह के समस्त प्रयास विफल हो गए। अंततः उसने वही किया जैसा राम का आदेश था। राम ने आज भी लक्ष्मण द्वारा आस-पास के वृक्षों से लाए गए फलों का ही आहार प्राप्त किया।

आहार से निवृत्त होकर राम ने गुह से कहा-

‘मित्र, यदि संभव हो सके तो थोड़े से बड़-वृक्ष के दुग्ध का प्रबंध करवा दो।’

गुह ने अपने एक व्यक्ति की ओर देखा। वह बिना कुछ कहे चला गया और थोड़ी ही देर में बड़ का दूध लेकर आ गया। राम ने उसे लेकर अपने केशों पर मला। उनके केश तपस्वियों की जटाओं के समान रूखे हो गए तो उन्होंने उन्हें जटाओं के समान ही सिर पर लपेट लिया। राम की देखादेखी लक्ष्मण ने भी यही क्रिया दोहरायी।

‘मित्र जब तपस्वी का बाना धारण ही किया है तो पूरा होना चाहिए न।’

गुह कुछ नहीं बोला किंतु उसकी आँखें बोल रही थीं कि उसे यह कृत्य पसंद नहीं आया है।

रात वहीं गंगा की बालुका-राशि पर लेटे-लेटे, कुछ सोते-कुछ जागते व्यतीत हुई। गुह और कुछ अन्य व्यक्ति सारी रात इनके साथ ही रहे।

प्रातःकाल राम ने सुमन्त को वहीं से वापस लौट जाने का आदेश दिया और गुह द्वारा उपलब्ध करायी गयी नौका से चौड़े पाट वाली, पुण्यसलिला गंगा को पार कर वत्सदेश (प्रयाग) में प्रवेश किया और वन का मार्ग पकड़कर आगे बढ़ चले।

‘भ्राता!’ ऐसा नहीं प्रतीत होता कि हमारे शरीर अकर्मण्य होते चले जा रहे हैं?’ मार्ग में लक्ष्मण ने नाटकीय स्वर में प्रश्न किया।

‘निरंतर हम लोग पाँव-पाँव चले जा रहे हैं और आप कह रहे हैं कि शरीर अकर्मण्य होते जा रहे हैं?’ सीता ने आश्चर्य से प्रति-प्रश्न किया।

‘नहीं भाभी! मात्र चलने भर से शरीर का पर्याप्त व्यायाम नहीं हो पाता। आलस्य शरीर को जकड़ने लगता है।’

‘तो आप क्या करना चाह रहे हैं।’ लक्ष्मण की बात सुनकर सीता इस स्थिति में भी हँस पड़ी- ‘वानरों की भाँति वृक्षाटन करना?’

‘सच में मैं यही चाह रहा हूँ भाभी।’

राम को लक्ष्मण की इस प्रकार की चंचल प्रवृत्ति का बचपन से ही अभ्यास था। वे बस मुस्कुराते हुए चलते रहे। भाई पर कोई प्रतिक्रिया होती न देख लक्ष्मण इस बार सीधे उनसे ही सम्बोधित हुए-

‘आइये न भ्राता, मृगया द्वारा इस आलस्य का उपचार करते हैं।’

‘और तुम्हारी भाभी को यहाँ वन में असुरक्षित छोड़ दें?’

‘यह कुठार मुझे दे दीजिए, मैं अपनी सुरक्षा स्वयं कर लूँगी।’ लक्ष्मण कुछ कहते उससे पूर्व ही सीता ने विश्वास भरे स्वर में उत्तर दिया।

‘इन वस्त्रों में?’ राम ने आशंका व्यक्त की।

‘हाँ भाभी, हम जानते हैं कि आप शस्त्र-संचालन में निपुण हैं, किंतु इन वस्त्रों में आवश्यकता पड़ने पर भागना अथवा चपलता से अपने स्थान पर ही गतिमान होना कदापि संभव नहीं होगा।’

‘यह तो है, ... किंतु आप लोग तो आसपास ही रहेंगे?’

‘सो तो रहेंगे। परंतु फिर भी ...’ राम अब भी आशंकित थे।

‘तो मैं किसी ऊँचे वृक्ष पर चढ़ जाती हूँ। कहीं भागने की आवश्यकता ही नहीं रहेगी।’

‘चढ़ पायेंगी।’

‘आपकी शंका अभी निर्मूल करती हूँ।’ सीता उत्साह से हँसते हुए बोलीं। फिर जोड़ा- ‘अब वन में कुलवधू बनकर तो रहा नहीं जा सकेगा।’

उन्होंने लक्ष्मण से कुठार लेकर अपनी धोती की कमर में पीछे की ओर घुरस ली। पल्लू को भी खींच कर कमर में घुरसा, फिर पास ही के एक पेड़ की एक डाल को उछलकर पकड़ लिया और लटक गयीं। फिर कुछ ही क्षणों में वे एक ऊँची डाल के ऊपर बैठी थीं। अब कुठार उनके हाथों में थी। उन्होंने खेल-खेल में ही बगल की एक पतली डाल पर भरपूर वार किया, डाल कटकर नीचे जा गिरी।

‘कल से मैं भी धोती आप लोगों की भाँति ही लाँग लगाकर बाँधा करूँगी।’ उन्होंने हँसते हुए कहा। वे अपने प्रदर्शन से संतुष्ट थीं। इस कुलवधू के जीवन ने उनकी चपलता को कुंद नहीं किया था।

राम और लक्ष्मण दोनों आश्चर्य से उनका यह प्रदर्शन देखते रहे।

‘जाइये अब आप दोनों निःशंक होकर मृगया के लिए जा सकते हैं।’

दोनों भाइयों ने कुछ देर वन में मृगया का आनंद लिया। सीता के कहने के बाद भी राम पूर्णतः निश्चित नहीं हो पाए थे। थोड़ी देर में ही वे बोले-

‘पर्याप्त हो गया लक्ष्मण, अब लौट चलते हैं। सीता एकाकी होंगी, इस वन में उन्हें अधिक काल तक एकाकी छोड़ना उचित नहीं है।’

‘किंतु भ्राता, अभी तो हमने मृगया की भी नहीं है? ऐसा कीजिए, आप चलिये, मैं भी शीघ्र ही आता हूँ।’

‘यदि तुम यही चाहते हो तो ठीक है। किंतु अधिक विलम्ब मत करना और अधिक दूर तक भी मत जाना।’ लक्ष्मण को सावधान कर राम लौट आए।

राम जब लौटे तो सीता ने वृक्ष के नीचे फलों का ढेर लगा दिया था। राम को आता देखकर वे भी नीचे उतर आयीं।

‘लीजिये, आपके आहार की व्यवस्था कर दी मैंने।’ सीता ने इठलाकर कहा- ‘किंतु लक्ष्मण कहाँ हैं?’

‘लक्ष्मण का मन मृगया से इतनी शीघ्र कहाँ भरता है!’

‘तो किसका आखेट किया आपने?’ एक फल राम की ओर बढ़ाते हुए सीता ने प्रश्न किया।

‘किसी का नहीं।’ राम ने सहज भाव से उत्तर दिया- ‘मात्र अपने क्रीड़ा-विलास हेतु निरीह पशुओं पर प्रहार करने का कोई अर्थ नहीं है और कोई हिंस्र पशु मिला ही नहीं। लक्ष्मण को यदि कोई मिल गया तो वे करके आते होंगे।’

लक्ष्मण शीघ्र ही नहीं लौटे। उन्हें दो मुहूर्त का समय लग ही गया। इस बीच खाली बैठे राम और सीता वनवास की अवधि कहाँ और कैसे व्यतीत करेंगे इस पर विचार करते रहे। इस विचार-विमर्श का निष्कर्ष यह निकला कि यद्यपि पिताजी की आज्ञानुसार अंततः तो दण्डकारण्य में ही विश्राम करना है किंतु यदि मार्ग में पड़ने वाले समस्त ऋषि-आश्रमों में रुकते हुए ऋषियों का आशीर्वाद लेते हुए चला जाए तो उचित होगा। भविष्य में ऐसा अवसर पता नहीं प्राप्त हो अथवा नहीं, यह अवसर मिला है तो इसका सदुपयोग किया जाए। इस क्रम में निश्चित हुआ कि आगे गंगा-यमुना के संगम पर महर्षि भरद्वाज का आश्रम है, वहीं से आरम्भ किया जाए और वहीं महर्षि से आगे के आश्रमों की जानकारी ले ली जाए।

लक्ष्मण जब लौटे तो स्वेद-स्नात थे। उनके आते ही राम ने व्यग्रता से प्रश्न किया-

‘तुमने तो शीघ्र ही लौटने के लिए कहा था, यह शीघ्र है? दो मुहूर्त से अधिक का ही समय व्यतीत हो गया है। हमें अभी आगे भी जाना है।’

‘भ्राता! क्रोधित क्यों होते हैं?’ लक्ष्मण ने अपने स्वाभाविक खिलंदड़े पन से धनुष उतार कर पेड़ से टिकाते हुए कहा- ‘हमें अब चौदह वर्ष मात्र समय ही तो व्यतीत करना है, शीघ्रता अथवा विलंब से क्या अंतर पड़ता है?’

‘तब भी समय का ध्यान रखना तो आवश्यक है।’

‘अब छोड़िये भी ...,’ सीता ने हस्तक्षेप किया- ‘बैठो, थक गए होंगे, पहले विश्राम करो और कुछ आहार पाओ।’

लक्ष्मण बैठ गए।

‘आप लोगों ने ग्रहण किया?’ उन्होंने प्रश्न किया।

‘ये सामने पड़े छिलके क्या कह रहे हैं?’ सीता ने हँसते हुए प्रतिप्रश्न किया। सीता के साथ सभी हँस पड़े।

बैठे-बैठे राम ने अचानक पुनः लक्ष्मण को वापस लौट जाने के लिए समझाना आरम्भ कर दिया। यद्यपि वे भलीभाँति जानते थे कि लक्ष्मण का उनके साथ जाना नियति ने निश्चित किया है, किंतु फिर भी स्नेहवश वे लक्ष्मण को संकटों से दूर ही रखना चाहते थे। किंतु लक्ष्मण इसके लिए कदापि प्रस्तुत नहीं थे। वे इस विपत्तिकाल में राम का साथ छोड़ने की सोच भी नहीं सकते थे, और फिर अभी तो यह वन-जीवन उन्हें रास ही आ रहा था। यह जीवन बहुत कुछ गुरुकुल जीवन जैसा ही था अपितु उससे भी श्रेष्ठ, वर्जनाओं से मुक्त, उन्मुक्त; तब भला लक्ष्मण को रास क्यों नहीं आता! राम कहते रहे, लक्ष्मण निर्लिप्त भाव से फलों को उदरस्थ करते हुए सुनते रहे जैसे राम उनसे नहीं किसी और से कह रहे हों। फल समाप्त करते ही वे उठे और बोले-

‘चलें भ्राता?’

‘मैं इतने समय से तुम्हें कुछ समझाने का प्रयास कर रहा था ...?’

‘धृष्टता क्षमा भ्राता, किंतु निरर्थक कर रहे थे। आइये आगे बढ़ें, उठिये भाभी।’

सीता लक्ष्मण की निर्लिप्त भंगिमा देख-देख कर पहले ही मुस्कुरा रही थीं, उनके इस उत्तर पर खुलकर हँस पड़ीं। बोलीं -

‘अब व्यर्थ श्रम मत कीजिएगा हम दोनों में से किसी को भी समझाने में।’

अब दुर्गम वन-प्रांत आरंभ हो गया था। यहाँ हिंस्र वन्य-पशुओं का मिल जाना स्वाभाविक था अतः राम ने तीनों लोगों के चलने का क्रम निर्धारित किया ताकि सीता की सुरक्षा सुनिश्चित की जा सके। आगे-आगे लक्ष्मण, बीच में सीता और पीछे स्वयं राम।

रात्रि होने पर पुनः वहीं वृक्षों से प्राप्त फलों का आहार किया और वहीं लक्ष्मण द्वारा घास और पत्तों से निर्मित शैया पर शयन किया। एक दिन और व्यतीत हो गया था।

दूसरे दिन, जब तक ये तीनों यात्री महर्षि भरद्वाज के आश्रम में पहुँचे, सन्ध्या का आगमन हो गया था। ऋषिवर ने उनसे वनवास की अवधि अपने आश्रम में ही व्यतीत करने का आग्रह किया किंतु राम ने विनम्रता से उनका आग्रह अस्वीकार कर दिया-

‘ऋषिवर!’ रामने कहा- ‘आपका परामर्श उचित है किंतु यह क्षेत्र कोशल से अधिक दूर नहीं है। कुछ ही समय में अयोध्यावासियों को हमारे यहाँ होने की सूचना मिल जाएगी और वे हमें लिवाने यहाँ भी आ जायेंगे। मैं वनवास की अवधि पूर्ण होने से पूर्व अयोध्या कदापि नहीं लौट सकता।’

‘तो क्या हुआ, अयोध्यावासी आ ही तो जायेंगे, बलात् तो आपको नहीं खारच ले जायेंगे!’ भरद्वाज हँसे और आगे बोले- ‘जब वे अयोध्या में आपको नहीं रोक पाए तो यह आश्रम तो फिर भी अत्यंत दूरस्थ है।’

‘किंतु ऋषिवर, अयोध्यावासियों के बारम्बार आगमन से वृथा ही आश्रम की शांति भंग होगी ... और बारम्बार प्रजा के आग्रह को अस्वीकार करने में मुझे भी क्लेश होगा और प्रजाजनों को भी। फिर पिताकी आज्ञानुसार वनवास की अवधि हमें दण्डकारण्य में व्यतीत करनी है। आप मार्ग के विषय में हमारा मार्गदर्शन करें ... इस प्रकार कि हम मार्ग में अधिकाधिक ऋषिगणों का आशीर्वाद भी प्राप्त कर सकें। आप ही इस संबंध में हमें उचित परामर्श दे सकते हैं।’

‘तब तो योग्य यही होगा कि आप लोग सर्वप्रथम चित्रकूट के लिए प्रस्थान करें। उस मनोरम क्षेत्र में अनेक ऋषियों के आश्रम हैं। वहीं महर्षि वाल्मीकि का भी आश्रम है। कुछ काल वहाँ रुककर सभी ऋषियों का आशीर्वाद लें। आगे अत्रि मुनि का आश्रम है, वहाँ अत्रि मुनि और देवी अनुसूया का आशीर्वाद लें और तब आगे दण्डकारण्य के लिए प्रस्थान करें।’

प्रातःकाल भरद्वाज ने तीनों यात्रियों को भरपूर आशीर्वाद दिया और चित्रकूट तक का मार्ग समझा दिया।

यात्रा पुनः आरंभ हो गयी।

चलते-चलते ये लोग यमुना के तट पर पहुँच गए। प्रश्न उठा कि नदी किस भाँति पार की जाए। राम और लक्ष्मण के लिए यह कोई कठिन कार्य नहीं था। कठिन सीता के लिए भी नहीं था, किंतु अब वे इक्ष्वाकु वंश की कुलवधू थीं, नदी-संतरण उनके परिधान और कुलवधू की मर्यादा के अनुकूल नहीं था। फिर भी सीता को स्वयं पर विश्वास था कि वे सहजता से यमुना को पार कर सकती हैं परंतु राम ने उन्हें ऐसा दुस्साहस करने की अनुमति नहीं दी। तब?

इस तब का हल कोई कठिन नहीं था। दोनों भाइयों ने परस्पर थोड़ा सा परामर्श किया और फिर सीता को वहीं रुकने को कह वन की ओर बढ़ गए। तट पर बचीं सीता हाथ जोड़कर यमुना माता की प्रार्थना करने में तल्लीन हो गयीं। वे जब से अयोध्या से निकली थीं तभी से मार्ग में पड़ने वाले प्रत्येक छोटे-बड़े देवस्थान, प्रत्येक

महत्वपूर्ण वृक्ष, प्रत्येक नदी से हाथ जोड़कर सबकी कुशलता के लिए प्रार्थना करती चली आ रही थीं।

राम और लक्ष्मण कुछ ही देर में ढेर सारी लकड़ियों, बाँस और लताओं से लदे-फँदे लौट आए। दोनों ने लाई हुई टहनियों और बाँसों को लताओं से बाँधकर एक बेड़ा सा तैयार किया। उस बेड़े पर खस की घास बिछा दी और उसके ऊपर जामुन की पतली-पतनी टहनियाँ और बेंत बिछाकर सुविधाजनक आसन तैयार कर दिया। दोनों ने ही एक-एक लम्बा बाँस पतवार के रूप में ले लिया। नौका तैयार थी। तीनों उस पर सवार हुए। धार के बीच में पहुँच कर सीता ने पुनः यमुना से कुशलता की प्रार्थना की और मनौती माँगी।

यमुना पार कर, बेड़ा वहीं छोड़कर वे लोग आगे बढ़े। थोड़ी ही दूर पर उन्हें वह श्याम-वट मिल गया जिसका उल्लेख महर्षि भरद्वाज ने किया था। सीता ने इस वट से भी अपनी प्रार्थना दोहरायी।

साँझ हो आयी थी। लक्ष्मण आगे बढ़ना चाहते थे किंतु राम ने निश्चय किया कि इस समय सीता के साथ आगे बढ़ना उचित नहीं होगा। वन में रात्रि व्यतीत करना अकारण संकट को आमंत्रण देना ही होगा। फलतः तीनों ने वन से फल बटोरे और वापस यमुना के तट पर लौट आए। वहीं बैठकर लाए हुए फलों का आहार किया। बेड़ा वहीं तट पर पड़ा ही हुआ था। सीता के लेटने के लिए वह पर्याप्त था। लक्ष्मण ने उनसे आग्रह भी किया कि वे उस बेड़े के बिछौने पर सो जायें किंतु सीता ने अकेले उस पर लेटना स्वीकार नहीं किया। तीनों ने ही बालुका के नर्म-शीतल बिछौने पर, सतर्क किंतु फिर भी चैन की नींद ली। दोनों ही बला-अतिबला के प्रभाव से इतने समर्थ थे कि सुषुप्तावस्था में भी किसी भी संकट का आभास उन्हें तुरंत हो जाता और वे जाग जाते।

परंतु कोई संकट नहीं आया, रात्रि निर्विघ्न व्यतीत हुई।

33- चित्रकूट

सीता ने आज धोती लांगदार विधि से ही बाँधी थी। इस विधि से पल्लू थोड़ा छोटा अवश्य पड़ रहा था किंतु अब उनके पति और देवर उनकी शारीरिक चपलता पर प्रश्नचिह्न नहीं उपस्थित कर सकते थे। निरीह अथवा अबला समझा जाना उन्हें स्वीकार नहीं था। सासों के सामने लज्जा और मर्यादा का भान उनकी इस मनस्थिति को कुछ शिथिल कर देता था किंतु यहाँ वन में ऐसी कोई विवशता नहीं थी ... यहाँ तो वैसे भी निरीह बनकर निर्वाह संभव नहीं था। यमुना में स्नान के उपरांत जब वे पेड़ की ओट से वस्त्र परिवर्तन कर वापस आईं तो राम उन्हें देख कर मुस्कुरा दिए।

‘यह आवश्यक था।’ उनकी मुस्कुराहट को लक्ष्य कर सीता किंचित लजा गयीं और सफाई दी।

‘मैंने कब विरोध किया। इस प्रकार धोती बाँधकर तो आप और भी सुन्दर दिख रही हैं।’

‘वनवास में आपने ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन करने की प्रतिज्ञा की है।’ सीता ने तिर्यक दृष्टि से निहारते हुए उत्तर दिया।

‘स्मरण है मुझे, किंतु उस व्रत में विधाता की निपुणता की प्रशंसा करना वर्जित तो नहीं है।’

‘विधाता की निपुणता की ही प्रशंसा कीजिए। इस क्षेत्र में विधाता ने सम्पूर्ण मनोयोग से अपने नैपुण्य का प्रदर्शन किया भी है, किन्तु पत्नी पर मोहित दृष्टि डालना वर्जित है। यह दृष्टि मन में विकार उत्पन्न कर देगी।’ सीता ने चिढ़ाया।

‘मेरे मन में अथवा आपके?’ राम ने भी कटाक्षपूर्ण प्रश्न किया।

सीता ने मुस्कुराते हुए मुँह फिरा लिया और धीरे से बोलीं-

‘दोनों के ही।’

‘नहीं, मुझे विश्वास है, स्वयं पर भी और आप पर भी। आइये अब प्रस्थान हेतु तत्पर हों अन्यथा सूर्यदेव तपने लगेंगे।’

तीनों यात्री आगे की यात्रा पर बढ़ चले।

चित्रकूट पर्वत निस्संदेह अत्यंत सुरम्य प्रदेश था। यह भले ही मिथिला के निकट के पर्वतों जितना ऊँचा और हिमाच्छादित नहीं था किंतु इसकी प्राकृतिक सुन्दरता किसी भी भाँति वहाँ से कम नहीं थी। सम्पूर्ण प्रदेश सघन वनों से ढँका हुआ था। थोड़ी-थोड़ी दूरी पर अनेक ऋषियों के छोटे-बड़े आश्रम थे। सभी आश्रमों के मध्य में सबसे बड़ा आश्रम महर्षि वाल्मीकि का आश्रम था। महर्षि वाल्मीकि ही इन समस्त आश्रमों के

सम्मिलित रूप से कुलपति थे। पास ही में मंदाकिनी नदी प्रवाहित हो रही थी। कुछ काल निवास के लिए तीनों को ही वह स्थान सर्वथा योग्य प्रतीत हुआ। तीनों यात्री आश्रमों के कुलपति महर्षि वाल्मीकि से आशीर्वाद लेने उस मध्य के आश्रम की ओर बढ़ चले।

राम ने वाल्मीकि को अपना तीनों का परिचय दिया और कुछ काल वहीं निवास करने की इच्छा जताई। ऋषि ने उनका उचित प्रकार से स्वागत सत्कार किया और निवास के लिए उनके द्वारा चित्रकूट का चयन करने पर हर्ष व्यक्त किया और सफल मनोरथ होने का आशीर्वाद भी दिया।

ऋषिवर के साथ चर्चा आरम्भ हो गयी। तभी अकस्मात जैसे वाल्मीकि को कुछ ध्यान आया, उन्होंने परामर्श दिया-

‘जब आपने यहाँ निवास का निश्चय कर ही लिया है तो कुटिया के निर्माण का कार्य भी आज ही सम्पन्न कर डालें। आज स्थिर संज्ञक (जिस दिन उत्तरा और फिर रोहिणी नक्षत्र हों और रविवार भी हो। तीनों के इस मेल को वास्तुशास्त्र के अनुसार गृहशांति के लिए अत्यंत शुभ माना जाता है।) मुहूर्त है, यह मुहूर्त आवास के निर्माण हेतु अत्युत्तम योग है।’

महर्षि के परामर्श के अनुसार दोनों भाइयों ने मिलकर वाल्मीकि के आश्रम से थोड़ी ही दूरी पर उचित स्थान का चयन कर वास्तु के अनुसार टहनियों और लताओं आदि से कुटिया का निर्माण किया। फिर गजकंद नामक एक विशेष कन्द के गूदे को पकाकर विधिपूर्वक वास्तुदेवता का पूजन और यज्ञ कर तीनों ने कुटिया में प्रवेश किया। प्रवेश के उपरांत राम ने उस छोटी सी कुटिया में ही विधानपूर्वक आठ दिक्पालों के लिए बलिस्थलों और विभिन्न देवों के स्थानों की स्थापना की।

* * *

रात्रि में जब लक्ष्मण और सीता सो गए, राम को विचारों ने आ घेरा।

उन्हें पुनः गुरुदेव वशिष्ठ और ब्रह्मर्षि विश्वामित्र के संकेत याद आने लगे। उन्हें विष्णु से वह दिव्य भेंट भी याद आने लगी।

अब विधि ने उनके लिए जो कार्यक्षेत्र निर्धारित किया है, उसमें पूरी तत्परता से उतरने का समय आ गया है।

कैसे करेंगे वे यह दुष्कर कार्य? रावण कोई साधारण व्यक्ति नहीं है। अभी तक उन्हें उसके विषय में जो भी सूचनायें प्राप्त हुई हैं, उनके अनुसार तो वह एक अनुकरणीय व्यक्तित्व है। फिर क्या वे मात्र देवों की महत्वाकांक्षा का एक यंत्र भर बनकर रावण के विनाश का उद्देश्य लेकर इस यात्रा पर आए हैं? उन्हें शंका घेरने लगी ... किंतु गुरुदेव वशिष्ठ पर उनकी अगाध आस्था थी। वे अनीति के समर्थक

कदापि नहीं हो सकते। उन्होंने भी यदि देवों की इस योजना का समर्थन किया है तो इसके पीछे कुछ न कुछ कारण तो होगा ही।

रावण के सम्मुख इस अवस्था में उनका अस्तित्व ही क्या है? एक तिनका भर भी तो नहीं। लक्ष्मण को तो इस यात्रा का वास्तविक उद्देश्य ज्ञात है किंतु क्या इस विषय में सीता को बताया जा सकता है? उनके विवेक ने उत्तर दिया- 'नहीं! यदि गुरुदेव और ब्रह्मर्षि दोनों ने ही इसे निषेध किया है तो सीता से इस विषय में कुछ भी कहना उचित नहीं है।

तब? कैसे आगे बढ़ा जाए? क्या नियति के भरोसे ही सब छोड़ दिया जाए? क्या नियति के भरोसे स्वयं को बहने देना किसी पुरुषार्थी को शोभा देता है? कदापि नहीं!

उन्हें अंततः दण्डकारण्य पहुँचना था और फिर वहाँ से लंका। ब्रह्मर्षि ने उन्हें मोटै तौर पर दम्पूर्ण दक्षिणापथ का मानचित्र समझाया था। विन्ध्य पर्वत को पार करते ही दण्डकारण्य आरम्भ हो जाता था। वहाँ रावण की अर्द्धविक्षिप्त बहन शूर्पनखा शासन करती थी। परंतु वह तो मात्र कहने के लिए साम्राज्ञी थी, वहाँ शासन तो खर-और दूषण का था। वास्तव में दण्डकारण्य भरतभूमि पर रक्षों का गढ़ था। ब्रह्मर्षि के अनुसार वे सत्ता के मद में अनाचारी और अत्याचारी हो गए हैं। रावण के विपरीत वे वहाँ के निवासियों पर बलात् रक्ष-संस्कृति थोप रहे हैं।

किन्तु वे उनसे किस भाँति निपटेंगे? ब्रह्मर्षि का स्पष्ट निर्देश है कि दिव्यास्त्रों से रहित प्रतिद्वन्द्वी के विरुद्ध दिव्यास्त्रों का प्रयोग नहीं किया जा सकता। वे कितने भी समर्थ हों किन्तु मात्र दो व्यक्ति खर-दूषण जैसे शक्तिशाली राक्षसों की पूरी सेना का सामना किस भाँति करेंगे? क्या वहाँ की जनता उनकी उपस्थिति मात्र से इतनी समर्थ हो जाएगी कि उनका नाश कर सके? ... नहीं उन्हें वहाँ की जनता में प्राण फूँकने पड़ेंगे, उसे समर्थ बनाना पड़ेगा। फिर महर्षि अगस्त्य भी तो वहीं कहीं होंगे। वे भी तो अपना कार्य कर रहे होंगे। वहाँ, उनके परामर्श से ही कर्तव्य निश्चित किया जाएगा।

नियति राह बनाती है, इस पर उन्हें विश्वास था। जब अभिषेक होते-होते अकस्मात् माता कैकेयी ने, उस माता ने जो उन्हें भरत से भी अधिक स्नेह करती थी, पिता से उनके वनवास का वर माँग लिया तब से उन्हें नियति के खेल पर और भी अधिक भरोसा हो गया था। अभिषेक की सूचना मिलने पर उन्हें तो प्रतीत होने लगा था कि गुरुदेव और ब्रह्मर्षि के आकलन में कहीं त्रुटि हुई थी। वे रावण का सामना करने के स्थान पर अयोध्या के शासक बनने जा रहे थे। गुरुदेव, ब्रह्मर्षि ... दोनों और मूल में नारद, इस प्रकार तीनों का ही यह मानना था कि अयोध्या के शासक के रूप में सेना सहित जाकर वे रावण को पराजित नहीं कर सकते ... फिर उनके अभिषेक का क्या तात्पर्य था? अचानक उनके मन में विचार उठा कि क्या माताओं को इस विषय में

कुछ पूर्व-संकेत हैं? क्या नारद की योजना में वे भी सम्मिलित हैं? गुरुदेव ने विशेष रूप से पिता से कोई भी चर्चा करने से मना किया था ... माताओं से नहीं!

विचारों की श्रंखला का कोई ओर-छोर नहीं मिल रहा था। असंख्य संदेह थे, असंख्य प्रश्न थे किंतु उत्तर कोई नहीं था। उन्हें स्वयं ही समस्त प्रश्नों के उत्तर खोजने थे। निष्कर्ष निकालना था और अपने जन्म के उद्देश्य को सार्थकता प्रदान करनी थी। ये सारे अनुत्तरित प्रश्न सम्पूर्ण रात्रि उनके मस्तिष्क को मथते रहे। अन्ततः उन्होंने निर्णय किया कि वे अपना कार्य करते रहें और नियति को ... नारद को, अपना कार्य करने दें। वे प्रातः से ही बिना किसी से सीधा प्रश्न किए, इस क्षेत्र में रक्षों के अस्तित्व को खोजना, उनके बल को आँकना आरम्भ कर देंगे। फिर देखेंगे कि क्या करना है, और किस प्रकार करना है।

निर्णय पर पहुँचते ही उनके मन को शांति प्राप्त हुई। उन्होंने लेटे-लेटे ही मन को विचार-शून्य करना आरंभ किया और कुछ ही काल में निद्रादेवी ने उन्हें अपनी सुखकर गोद में सहेज लिया।

* * *

प्रातःकाल अपने चेहरे पर, गर्दन पर, वक्ष पर ... एक-एक कर टपकती पानी की बूँदों ने राम को जागने पर विवश कर दिया। फिर भी उन्होंने आँखें नहीं खोलीं, अर्द्धनिद्रित अवस्था में ही हाथ से चेहरे पर पड़ी बूँदों को हटाने का प्रयास करने लगे।

तभी जैसे आरती की घण्टियाँ बजी हों, उन्हें सीता का स्वर सुनाई दिया-

‘आज क्या भोर होनी ही नहीं है पतिदेव?’

बरबस राम की पलकें ऊपर उठीं। सद्यस्नाता सीता उनके सम्मुख खड़ी खिलखिला रही थीं। उनका मुख उनके गीले बालों से ढँका हुआ था, जो उन्होंने पता नहीं सुखाने के उद्देश्य से अथवा राम के साथ खिलवाड़ करने के उद्देश्य से आगे की ओर फैला रखे थे। उन्हीं से टपक रहे जल-बिन्दुओं ने राम को जागने पर विवश किया था।

‘थोड़ा और सोने दो न!’ राम ने अलसाये स्वर में अनुरोध किया। प्रातः काल के आसपास तो वे सोये ही थे।

‘नहीं! ...’ सीता फिर खिलखिलायीं- ‘अब नहीं, आँखें खोलकर तो देखिए, कितना दिन निकल आया है। आज एक प्रकार से हमारा वनवास का प्रथम दिवस है ... आलस्य बिखराकर इसका अपमान मत कीजिए।’

राम झटके से उठ बैठे। भले ही विलम्ब से आई थी फिर भी कैसी निश्चित नींद आई थी! वे तो भूल ही गए थे कि अब वे वनचारी हैं। बैठे-बैठे ही उन्होंने अपनी हथेली सीता की ओर फैला दी।

‘नहीं, मैंने अभी आराधना नहीं की है। अभी मैं आपका स्पर्श नहीं कर सकती।’ सीता ने खिलखिलाते हुए चुहल की- ‘पहले दैनिक क्रियाओं से निवृत्त होकर स्नान कीजिए।’

पर राम ने अपनी हथेली वापस नहीं खींची। बोले-

‘अब हम वनचारी हैं। अब हम गार्हस्थ्य जीवन के आडंबरों से मुक्त हैं। हाथ पकड़कर उठाइये अन्यथा मैं पुनः सो जाता हूँ।’ राम ने भी चुहल का उत्तर चुहल से दिया।

‘आप भी न ...’ सीता ने कहा और उनकी हथेली थाम कर खींचने का प्रयास करने लगीं। राम ने उल्टा उन्हें ही हल्का सा झटका दिया। वे लड़खड़ा कर गिरने को हुईं किंतु सँभल गयीं और बोलीं-

‘अब इतने भी उन्मुक्त नहीं हो गए हैं हम! मर्यादा में रहिए, वनवास की अवधि में आपने अपनी पत्नी के साथ मर्यादित रहने का भी प्रण लिया है।’

राम ठिठक गए। इस बार सीता के खींचने से वे मुस्कराते हुए खिंच आए और उठते ही नित्य-क्रियाओं से निवृत्त होने चले गए। जाते-जाते उन्होंने प्रश्न किया-

‘लक्ष्मण कहाँ है, दिख नहीं रहा?’

‘वे तो मुझसे भी पूर्व ही निवृत्त हो चुके हैं। अब फलाहार की व्यवस्था करने गए हैं।’

‘ओहSS!’ राम ने इतना ही कहा और चले गए।

* * *

‘अब?’ लक्ष्मण ने प्रश्न किया।

सब लोग नित्य-क्रियाओं से निवृत्त हो चुके थे। लक्ष्मण द्वारा लाया गया फलाहार भी उदरस्थ कर चुके थे। सीता और लक्ष्मण अलसाये से बैठे थे राम एक बार पुनः चिन्तन में निमग्न थे। खाली बैठे लक्ष्मण के मन में यह प्रश्न स्वाभाविक ही था कि अब क्या करना है। मनुष्य का मन भी ऐसा ही अजीब होता है, जब व्यस्त होता है तो उस व्यस्तता का अंत चाहता है और जब पूरी तरह खाली होता है तो व्यस्त होने को तरसता है। लक्ष्मण भी यदि अयोध्या में होते तो कितने ही कार्य उनकी सक्रियता की बाट जोह रहे होते, किंतु यहाँ तो कोई कार्य था ही नहीं।

‘तात्पर्य क्या है तुम्हारा?’ लक्ष्मण के प्रश्न ने राम को उनके चिन्तन से बाहर खींच लिया। उन्होंने सहज रूप से प्रतिप्रश्न किया।

‘यहाँ तो करने को कुछ है ही नहीं। इस प्रकार खाली बैठे दिवस कैसे व्यतीत होगा?’

‘करने को है क्यों नहीं? इतना विशाल अन्तहीन वन है। समीप ही प्रवाहित मंदाकिनी है। सबकी सुषमा का आनंद लो। सम्पूर्ण क्षेत्र को जानने-समझने का प्रयास करो। सम्पूर्ण चौदह वर्ष भी इसी में लगे रहोगे तो सारा नहीं जान पाओगे।’ राम ने मंद हास्य के साथ कहा।

‘सत्य कह रहे हैं भ्राता! मैं इसी में जुटता हूँ।’ लक्ष्मण उत्साह में भरकर खड़े हो गए- ‘मैं जा रहा हूँ।’

‘और और क्षेत्र में रक्षों की गतिविधियों की टोह लो।’ राम ने जोड़ा।

‘और आप क्या करेंगे?’ चलते-चलते लक्ष्मण ने पूछा।

‘मैं सर्वप्रथम यहाँ के आश्रमों की परिक्रमा करूँगा। मुनियों से वार्ता कर यहाँ की परिस्थितियाँ समझूँगा।’

‘एकाकी भाभी क्या सुरक्षित होंगी यहाँ?’ लक्ष्मण ने चिंता व्यक्त की।

‘मुझे अबला भी मत समझें देवर जी!’ सीता ने वक्र मुस्कान के साथ कहा- ‘शस्त्रों से खेलने का मुझे भी पर्याप्त अभ्यास है। किंतु अभी तो सर्वप्रथम मैं रसोई की व्यवस्था करूँगी। इस प्रकार मात्र कन्दमूल का आहार कर कब तक रहा जा सकता है भला!’

‘तो हम निश्चित रहें, आप अपनी सुरक्षा कर लेंगी?’

‘आप पूर्णतः निश्चित रहें, यहाँ तो मुनियों का वास है ... यहाँ किस बात का भय?’

‘दण्डकारण्य यहाँ से बहुत दूर है फिर भी क्या पता उनके कुछ दल भूले-भटके यहाँ भी उत्पात मचाने आ जाते हों!’

लक्ष्मण की बात ने राम के चिंतन को एक बार फिर झकझोर दिया।

‘तो ऐसा करो न तुम, मात्र वनों में विहार के अतिरिक्त निकटवर्ती बस्तियों में भी सम्पर्क स्थापित करने का प्रयास करो और रक्षों के आवागमन की सूचनायें एकत्र करो। मैं अधिक दूर न जाकर ऋषियों से इस विषय में वार्ता करता हूँ।’

‘यही उचित होगा भ्राता।’ लक्ष्मण उत्साहित हो उठे। वे स्वभावतः ही रोमांचप्रिय थे। उनके मन में अभी से रक्षों से मुठभेड़ और उन्हें पददलित करने के दृश्य साकार होने लगे थे।

राम और लक्ष्मण अपने-अपने उद्देश्य लेकर भ्रमण पर निकल गए तो सीता ने रसोई की व्यवस्था सोचना आरंभ किया। पाककला में वे निष्णात थीं किंतु चूल्हा बनाने का उन्हें कभी अवसर नहीं मिला था। ऊपर से वहाँ जो मिट्टी उपलब्ध थी वह लाल रोड़ीदार-भुरभुरी मिट्टी थी जो ठीक से टिक ही नहीं रही थी। किसी प्रकार उन्होंने थोपथाप कर एक चूल्हा तैयार किया। चूल्हा तैयार होते ही दूसरा प्रश्न सामने था। अभी पकाने के लिए यद्यपि कोई सामग्री नहीं थी किंतु पकाने के लिए पात्रों की

आवश्यकता तो होगी ही? भोजन खाने के लिए तो पत्तों का उपयोग किया जा सकता था किंतु पकाने के लिए ... जल लाने के लिए ... उसके लिए भी तो पात्र की आवश्यकता थी। हर बार प्यास लगने पर मन्दाकिनी तक दौड़ कर तो नहीं जाया जा सकता!

सीता इसी विचार में पड़ी थीं कि द्वार पर एक अधेड़ महिला दृष्टिगोचर हुई। सीता ने बाहर निकल कर प्रणाम किया और परिचय पूछा।

महिला ने बताया कि उसका नाम सुचेता है और वह महर्षि वाल्मीकि के आश्रम में निवास करती है। महर्षि ने ही उसे यह जानने के लिए भेजा है कि किसी सहायता की आवश्यकता तो नहीं है?

सीता को तो सहायता की आवश्यकता थी ही किंतु उन्हें अपनी समस्या कहते हुए लज्जा भी आ रही थी। परंतु आवश्यकता लज्जा से अधिक बलवती सिद्ध हुई। उन्होंने अपनी समस्या प्रकट करना ही उचित समझा-

‘देवी! मैं भोजन पकाने के लिए चूल्हा बनाने का प्रयास कर रही थी किंतु मुझे बनाना आता नहीं, सो वह ठीक से बन ही नहीं रहा।’ सीता ने अपनी पहली समस्या भाग्य से आ गयी उस सहयोगिनी के समक्ष प्रस्तुत की।

‘देखूँ तो तनिक ...’

सीता ने सुचेता को कुटिया के भीतर आने का मार्ग दे दिया और चूल्हा दिखाया।

‘यह तो पात्र रखते ही धसक जाएगा। मेरे साथ आश्रम चलना मैं तुम्हें आवश्यक सामग्री दे दूँगी।’ फिर कुछ सोच कर वह हँसीं और बोलीं- ‘किंतु उचित होगा कि सामग्री लाकर मैं स्वयं ही बना दूँ। मुझे चूल्हा बनाते देखकर तुम स्वयं भी सीख जाओगी।’

‘अत्यंत उपकार होगा आपका माते!’ सीता के मुख पर बरबस एक संतुष्ट मुस्कान खेल गयी।

‘और बताओ ...’ सुचेता ने भी मुस्कुराते हुए पुनः प्रश्न किया।

‘कुछ पात्रों की आवश्यकता होगी। जल भरने के लिए, भोजन पकाने के लिए ...’

‘उनकी भी व्यवस्था हो जाएगी, चलो मेरे साथ।’

‘किंतु मेरे पति और देवर न जाने कब आ जायें। आज हमारा प्रथम दिवस है यहाँ, मुझे अनुपस्थित देखकर वृथा चिन्तित होंगे वे।’

‘बात तो तुम्हारी उचित ही है। किंतु यह कोई समस्या नहीं है, हम थोड़ी देर बैठकर बातें करती हैं ... एक-दूसरे का परिचय प्राप्त करती हैं, तब तक वे लोग भी आ जायेंगे।’

और वे दोनों बतियाने लगीं। थोड़ी ही देर में सीता को ऐसा लगने लगा जैसे सुचेता उनके घर की ही कोई बुजुर्ग महिला हो। मध्याह्न में जब तक राम और लक्ष्मण लौटे, सीता उन्हें अपने विषय में सभी कुछ बता चुकी थीं।

सुचेता को यह जानकर हार्दिक कष्ट हुआ कि ऐसे सुपूजित राजवंश की कन्या और इतने महान राजवंश की वधू इस भाँति असहाय सी वन में भटक रही है, किंतु उसने इस पर कोई टिप्पणी नहीं की। उसने सीता को आश्वासन दिया कि कोई भी कष्ट हो, बिना किसी संकोच के आश्रम में आकर उससे सहायता माँग सकती हैं। सीता को इस निर्जन वन में और चाहिए ही क्या था! वे प्रसन्न हो उठीं।

राम पहले लौट आए थे। उनके कुछ ही काल बाद लक्ष्मण भी अपने उत्तरीय में ढेर सारे स्वादिष्ट फल लेकर आ गए। सबने उन फलों का आहार किया। सीता ने हठपूर्वक सुचेता को भी कुछ फल खिलाये और फिर राम से अनुमति लेकर उसके साथ चली गयीं।

सीता जब चली गयीं तो राम ने लक्ष्मण से कहा कि दूर से ही इन दोनों पर इस प्रकार दृष्टि रखें कि वे जान न पायें, और यह सुनिश्चित करें कि वह स्त्री उन्हें आश्रम ही ले जा रही है। अभी सीता आश्रम में किसी को पहचानती नहीं हैं, अतः सचेत रहना आवश्यक है।

बात सही थी। कुटिया से कुछ ही दूर पर वृक्षों का एक झुण्ड था। लक्ष्मण वहाँ पहुँचे और एक ऊँचे वृक्ष की डाल पकड़ कर लटक गए। एक ही झटके में वे वृक्ष के ऊपर थे। उस घने वृक्ष के पत्तों में वे किसी को दिखाई नहीं दे सकते थे।

वे देखते रहे, कोई छल नहीं था। वह स्त्री सत्य ही सीता को लेकर मध्य के आश्रम में प्रवेश कर रही थी। किंतु लक्ष्मण ने इतने से ही संतोष नहीं किया, वे उनके लौटने की प्रतीक्षा करते रहे। समय लगा किंतु अधिक नहीं। उन्हें सीता और सुचेता लौटती दिखाई दीं। सीता के दोनों हाथों में एक-एक छोटी मटकी थी। सुचेता ने एक हाथ में एक बड़ी मटकी थाम रखी थी और दूसरे में मटकियों को ढाँकने के लिए सिरवे। लक्ष्मण अभी भी वृक्ष पर ही बैठे रहे।

जब दोनों स्त्रियाँ कुटिया में प्रवेश कर गयीं तब वे धीरे से उतरे और दूसरी ओर से चक्कर काटते हुए कुटिया में प्रवेश किया।

उनके प्रवेश करते ही सीता बोलीं-

‘अरे कहाँ चले गए थे देवर जी? मैं तो आपको ही देख रही थी।’

‘आदेश करें भाभी!’

‘तनिक इस मटकी में जल तो भर लाइये।’ सीता ने बड़ी वाली मटकी की ओर संकेत करते हुए कहा।

लक्ष्मण ने देखा वहाँ पर्याप्त मात्रा में भूसा मिली मिट्टी पड़ी थी। निश्चित ही वह इसी मटकी में रही होगी। दो-तीन कुल्हड़ भी रखे हुए थे, वे भी निश्चित ही किसी न किसी मटकी में रहे होंगे। वे मुस्कुराये, भाभी चूल्हा बनाने की तैयारी कर रही थीं। इसका अर्थ था कि उन्हें पूरा वनवास काल मात्र फल खाकर ही नहीं व्यतीत करना होगा!

उन्होंने कुछ चुहल करनी चाही, किंतु सुचेता के सामने कुछ कहना उचित नहीं होता, अतः मटकी उठाई और मंदाकिनी की ओर बढ़ चले।

चूल्हा बनाने का कार्य जल आ जाने के बाद ही आरंभ हो सकता था। उस बीच सीता और सुचेता फिर बतियाने लगीं। धीरे-धीरे उन्होंने राम को भी अपनी बातों में सम्मिलित कर लिया। बातों ही बातों में सुचेता ने राम को बताया कि पास में ही भीलों का एक बहुत छोटा सा ग्राम है वहाँ से आवश्यकता की सभी प्रकार की सामग्री प्राप्त हो जाती है।

‘किंतु ग्रामवासियों से कुछ भी क्रय करने के लिए मूल्य भी तो चाहिए होगा?’ राम ने विवशता से कहा- ‘हमारे पास तो कुछ भी नहीं है देने को।’

‘हम आश्रम वासियों के पास ही कौन सी मुद्रा रखी है उन्हें देने को!’ सुचेता ने हँसते हुए उत्तर दिया- ‘ग्रामवासी सरल स्वभाव के हैं और तपस्वियों के प्रति उदारभाव रखते हैं, वे हम लोगों से किसी भी वस्तु का मूल्य नहीं लेते, मात्र आशीर्वाद की कामना करते हैं।’

‘देवी! ग्रामवासियों से मूल्य चुकाए बिना कुछ भी प्राप्त करना दान ग्रहण करने के समान ही तो होगा? आपकी और हमारी स्थिति में अन्तर है। आप सन्यासी हैं, ब्राह्मण हैं, दान ग्रहण करना आपको अनुमन्य है; किंतु हम तो क्षत्रिय हैं, ग्रामवासी भले ही तपस्वी समझकर हमें निःशुल्क वस्तुयें प्रदान करना भी चाहें किंतु हम उनसे दान किस प्रकार ग्रहण कर सकते हैं?’

‘उसी प्रकार, जिस प्रकार अभी आपकी पत्नी ने मुझसे ये घट ग्रहण किये हैं।’ सुचेता ने मुस्कुराते हुए कहा, फिर गंभीर स्वर में आगे जोड़ा- ‘यह दान नहीं है, यह विपत्ति काल में किसी अपने की सहायता है। आप भी अपने प्रकार से आवश्यकता पड़ने पर उन ग्रामवासियों की सहायता कर सकते हैं। आप क्षत्रिय हैं, शूरवीर हैं, किसी भी संकट में उनकी सुरक्षा कर सकते हैं।’

‘वह तो क्षत्रिय होने के नाते मेरा दायित्व है। वे इस कठिन समय में हमारी कोई सहायता करें अथवा न करें, उन्हें यदि सुरक्षा की आवश्यकता होगी तो राम और लक्ष्मण उससे विरत नहीं रह सकते।’

‘तो यह भी जान लीजिए कि भले ही वे ग्रामवासी आपको पहचानते नहीं होंगे ... यह भी नहीं जानते होंगे कि यह क्षेत्र किस राज्य की सीमा में आता है किंतु

वास्तविकता तो यही है कि यह क्षेत्र भी कोशल की सीमा में ही आता है। आप कोशल के राजकुमार हैं, प्रजा यदि अपने मन से राजा को उपहार देती है तो उसे स्वीकार करना राजा का धर्म है।’

‘आपने ही कहा देवी कि वे हमें पहचानते नहीं। वे अपने राजकुमार को नहीं एक तपस्वी को ही उपहार देंगे ... उपहार नहीं वस्तुतः दान ही देंगे।’

‘कुमार!’ सुचेता धीरे से हँसी- ‘मन को भ्रमित क्यों कर रहे हैं आप? जब आप अपने क्षत्रिय-धर्म की मर्यादा स्वीकार कर रहे हैं, तो प्रजा का उपहार ग्रहण करने में संकोच क्यों? दूसरी ओर यदि स्वयं को तपस्वी मान रहे हैं तो दान लेने में संकोच क्यों? युवराज होते हुए भी वस्तुतः इस समय आप तपस्वी हैं। जिस भाँति आपका कर्तव्य दुर्बलों को सुरक्षा प्रदान करना है उसी भाँति गृहस्थों का कर्तव्य तपस्वियों दान देना है। आप यदि उनका दान ठुकरायेंगे तो उनके हृदय को क्लेश होगा। ... अथवा कहें तो आपकी पहचान उनके सम्मुख उजागर कर दूँ, सारे संशय मिट जायेंगे।’ कहते-कहते सुचेता मुस्कुरा उठी।

‘नहीं-नहीं ऐसा मत कीजियेगा देवी। किंतु हम क्षत्रिय कुमार हैं। हम इक्ष्वाकु के वंशज हैं। हमने सदैव दान दिया है, लिया नहीं है। हम ...’

‘राम, वनवास काल में आपको यह भूलना ही पड़ेगा कि आप अयोध्या के युवराज हैं। आप क्या भूल गए कि आपकी विमाता ने ...’

‘मँझली माँ को राम की विमाता मत कहिए देवी। उन्होंने कभी मुझे भरत से कम स्नेह नहीं दिया।’ सुचेता द्वारा कैकेयी के लिए विमाता शब्द का प्रयोग राम को चुभ गया था, वे हठात् उसकी बात काटते हुए बोल पड़े।

कुछ पल के लिए सुचेता हतप्रभ सी राम की ओर देखती रह गयी।

‘चलिये नहीं करूँगी। किंतु ...’

‘क्षमा कीजिएगा मैं पुनः बाधा उत्पन्न कर रहा हूँ, किंतु आपको किस प्रकार ज्ञात हुआ कि माता ने क्या आज्ञा दी है?’

‘आपने स्वयं ही ऋषिवर को अपने वनवास का कारण बताया था।’ सुचेता मुस्कुराती हुई बोली।

‘किंतु मैंने तो पिता का आदेश बताया था ऋषिवर को, जो कि वास्तविक सत्य है। माता ने तो मात्र पिता का आदेश मुझ तक पहुँचाया था।’ राम ने सरोष दृष्टि सीता पर डालते हुए कहा।

‘छोड़िये इस विवाद को...’ सुचेता ने बात समाप्त करते हुए कहा- ‘इतना तो सत्य है कि आपको तपस्वी के रूप में यह समय व्यतीत करने का आदेश हुआ है?’

‘हाँ, यह तो सत्य है।’

‘तब आप इस सत्य को स्वीकार करना क्यों नहीं चाहते? पिता के आदेशानुसार आपको तपस्वी के रूप में ही रहना है। तपस्वी रूप का अर्थ मात्र वेश से ही नहीं होता, आचरण से भी होता है।’ कहते-कहते सुचेता पुनः धीरे से हँस पड़ी।

‘किंतु देवी ...’ राम ने पुनः प्रतिवाद करना चाहा किंतु सुचेता ने उन्हें बोलने का अवसर ही नहीं दिया। हँसते हुए आगे बोली- ‘और आपको क्या प्रतीत होता है, सप्तम विष्णु के रूप में आपकी ख्याति यहाँ तक पहुँचेगी ही नहीं?’

‘देवी! कैसी बात छेड़ दी आप ने भी! ब्रह्मर्षि ने राम के नाम के साथ अवतार का ऐसा आडंबर जोड़ दिया है जो निरंतर मुझे संकुचित करता चला आ रहा है। जब भी आस्थावान नागरिक मुझे प्रभु का स्वरूप मानकर मेरे सामने नतमस्तक होते हैं तो मैं संकोच से भूमि में समा जाना चाहता हूँ। मुझे प्रतीत होता है जैसे मैं उनकी आस्था के साथ छल कर रहा हूँ ... उनके भोलेपन का दोहन कर रहा हूँ!’

‘आप वृथा संकुचित होते हैं। आप ने तो कभी नहीं कहा कि आप श्रीविष्णु के अवतार हैं ... आप प्रभु हैं। आपने तो सदैव इसका खंडन ही किया है।’

‘तो भी देवि! इस मिथ्या धारणा का कारण तो मैं ही हूँ।’

‘अच्छा एक प्रश्न करूँ आपसे?’

‘कीजिए!’

‘क्या आप इस सत्य को नकार सकते हैं कि हमारी आस्था ही हमारी सबसे बड़ी शक्ति होती है?’

‘नहीं देवी! कोई नहीं नकार सकता।’

‘तो फिर यदि उनकी आस्था उन्हें जीवन की विषमताओं से लड़ने की शक्ति देती है ... तो आप उनसे उनकी यह शक्ति क्यों छीनना चाहते हैं।’

‘देवी आस्था तो आस्था होती है। उस अनादि, अनंत परब्रह्म में आस्था होनी चाहिए, न कि किसी नश्वर प्राणी में। उस प्रभु में आस्था होनी चाहिए जो सबका कारण स्वरूप है, सबकी शक्ति का मूल स्रोत है ... न कि उस व्यक्ति में जो स्वयं उसीकी शक्ति से अनुप्राणित है, उसके खेल का एक मोहरा भर है।’

‘राम! प्रत्यक्ष सदैव परोक्ष से अधिक प्रेरणादायी होता है। आप प्रत्यक्ष ब्रह्म-स्वरूप हैं अपने अनुयायियों के लिए। वह परब्रह्म तो उनके लिए एक कल्पना जैसा है ... जिसे उन्होंने देखा नहीं, अनुभव नहीं किया ... जिसके विषय में उन्होंने मात्र विद्वानों से सुना भर है। वह उन्हें उस प्रकार प्रेरणा कैसे दे सकता है, जैसे प्रत्यक्ष उपस्थित आप दे सकते हैं? ... और यह क्यों भूल जाते हैं कि आज आप जो सप्तम विष्णु के रूप में स्थापित हुए हैं, यह भी उसी परब्रह्म का खेल ही है। उसीकी लीला है। यदि

वह न चाहता तो क्या आप लोगों के मन में इस प्रकार स्थापित हो सकते थे? ... लाख उपाय कर लेते, लोग आपको उस रूप में स्वीकार नहीं करते।’

‘आपकी बात सत्य है देवी! किंतु अपनी इस मनोदशा का क्या करूँ?’

‘इस पर विजय पाइये। उस सार्वभौम सत्ता ने आपको जिस रूप में स्थापित कर दिया है, उसे उसका निर्णय मानकर स्वीकार कीजिए। उसकी इच्छा का सम्मान कीजिए।’

‘मेरा मन नहीं स्वीकार कर पाता, और विवशता है कि मैं लोगों की इस भोली आस्था का प्रतिकार भी नहीं कर पाता। मेरे विरोध को लोग मात्र मेरी विनम्रता मानते हैं और उनकी आस्था और भी बलवती हो जाती है।’

‘यही नियति है। यही उस परमप्रभु का खेल है। उससे लड़कर आप कुछ भी प्राप्त नहीं कर पायेंगे। उसकी इच्छा के समक्ष पूर्ण समर्पण ही एकमात्र मार्ग है, उसीका अनुकरण कीजिए। आप भी लोगों की आस्था को स्वीकार कीजिए।’

‘प्रयास करूँगा देवी! और कोई उपाय भी तो नहीं दिखता।’

‘याद रखिए कि लोगों की यही आस्था आपको अपने उद्देश्य की प्राप्ति कराएगी।’

सुचेता के इन शब्दों ने राम को आन्दोलित कर दिया- क्या इन्हें भी सत्य का भान है, क्या इन्हें भी नारद की योजना की भनक है? किंतु उन्होंने कुछ पूछा नहीं।

उधर सुचेता कहे जा रही थी- ‘राम, आप देखेंगे कि आप की उपस्थिति मात्र इन निरीह व्यक्तियों को किस प्रकार ऊर्जा से भर देगी। आप देखेंगे कि आपकी उपस्थिति मात्र इन्हें बड़ी से बड़ी शक्ति से भी टकरा जाने और उसे ध्वस्त कर देने का साहस और सामर्थ्य देगी। आस्था की शक्ति का विस्फोटक प्रकटीकरण आपने अभी देखा ही कहाँ है!’

विचारमग्न राम मौन सुनते रहे। सुचेता कहती रही-

‘फिर आपको उस अनन्त-अविनाशी ने कुछ सोचकर ही इस उपाधि से विभूषित करने का खेल रचा होगा! ... और क्या आपको उसने इस योग्य नहीं बनाया है? क्या उसने आप दोनों भाइयों को इतनी शक्ति प्रदान नहीं की है कि आप इस वृहद उद्देश्य की प्राप्ति कर सकें?’

‘बनाया है देवी, जो भी बनाया है ... उसीने तो बनाया है।’

‘तो फिर उसकी इस निर्मिति का आदर करें। संकुचित होने के स्थान पर अपनी इस प्रभुता का सर्वप्रथम स्वयं सम्मान करें ... वही उस प्रभु का भी सम्मान होगा।’

‘देवी! एक प्रश्न है?’ अकस्मात् राम पूछ बैठे।

‘तो पूछते क्यों नहीं? प्रश्न को मन में दबाकर नहीं रखना चाहिए।’ सुचेता ने मुस्कुराते हुए उत्तर दिया।

‘राम के विष्णु स्वरूप के विषय में यहाँ आश्रमों में क्या चर्चा है? उन्हें अवतारों की मान्यता पर कितना विश्वास है?’

‘आश्रमों में इस चर्चा के विषय में सभी को ज्ञात है ...’ सुचेता मुस्कुराती हुई बोली- ‘किंतु ऋषिगण विष्णु की वास्तविकता से परिचित हैं। वे प्रमुख देवता के रूप में विष्णु का सम्मान करते हैं। यज्ञों में उन्हें विधिवत हव्य भी समर्पित करते हैं, किंतु वे जानते हैं कि विष्णु ब्रह्म का प्रतिरूप नहीं हैं अतः उनकी आपके अवतारी-पुरुष वाले रूप पर आस्था नहीं है। वे यह भी मानते हैं कि आपका आगमन देवकार्य हेतु हुआ है। वे इस कार्य में आपकी सहायता भी करना चाहते हैं किंतु वे सभी भीरु तपस्वी हैं। वे आपकी सहायता के लिए कोई सक्रिय योगदान नहीं दे पायेंगे।’

‘ओह!’ राम ने एक संतोष की दीर्घ श्वास ली- ‘उनकी सहायता की आवश्यकता भी नहीं है अभी। संतोष तो इस बात का है कि वे मुझे सामान्य पुरुष ही मानते हैं। उनके सान्निध्य में मुझे अकारण संकुचित नहीं होना पड़ेगा।’ कहकर राम धीरे से हँस पड़े।

सुचेता ने भी हँसी में उनका साथ दिया।

‘एक प्रार्थना और है देवी!’ कुछ पल रुककर राम ने पुनः निवेदन किया।

‘वह भी निस्संकोच कह डालिए!’

‘आश्रमवासी अपनी ओर से बस्तियों में मेरे अवतारी स्वरूप की चर्चा न करें। ये सामान्यजन जब तक इस लोकापवाद से अनजान बने रहेंगे वे मुझसे सहजता से मिल पायेंगे।’

‘निश्चित रहिए आप। जिस तथ्य पर आश्रमवासी स्वयं विश्वास नहीं करते उसके प्रसार में वे सहायक कदापि नहीं बनेंगे। जब कभी कोई आपका भक्त इस ओर भटकता हुआ आ लगेगा तभी ये लोग आपके अवतारी स्वरूप के विषय में जान पायेंगे।’ सुचेता ने हँसते हुए आश्वासन दिया।

राम के सिर से मानो एक बड़ा बोझा उतर गया।

सीता चकित-विस्मित सी इस वार्तालाप को सुन रही थीं और राम सोच रहे थे कि मैंने अकारण ही इस विदुषी पर शंका की थी।

तभी लक्ष्मण घट भरकर ले आये और सुचेता चूल्हा बनाने के कार्य में जुट गयी। वह साथ-साथ सीता को समझाती भी जा रही थी।

* * *

‘कभी किसी राक्षस से भेंट भी हुई है तुम लोगों की अथवा यूँ ही उनका बखान किए जा रहे हो?’ लक्ष्मण ने खिलंदड़ेपन से, साथ बैठे युवाओं से प्रश्न किया।

एक सप्ताह से भी कम समय में ही लक्ष्मण ने स्वयं को आश्रम के वातावरण में ढाल लिया था। वे अयोध्या के समान ही यहाँ भी प्रातः नित्यकर्मों से निवृत्त होते ही घूमने निकल पड़ते थे। आश्रम के युवा सन्यासी उनके मित्र बन गए थे। पास की बस्तियों में भी अनेक युवाओं से उनकी मित्रता स्थापित हो गयी थी। उनके भव्य व्यक्तित्व में निश्चित ही चुम्बकीय आकर्षण था और उनकी लच्चेदार धाराप्रवाह बातों में जादू। उस दिन भी वे नित्य की भाँति निकल पड़े थे बस्ती की ओर, आश्रम के उनके नये बने मित्र, युवा सन्यासी उनके साथ थे। बस्ती के एक अखाड़े में उनकी चौपाल जमी थी। उसी चौपाल में राक्षसों की चर्चा छिड़ गयी। छिड़ क्या गयी थी लक्ष्मण ने अपनी चतुराई से छिड़वा दी थी।

‘नहीं, मेरी तो भेंट नहीं हुई, किंतु इतने सारे लोग जो कहते हैं वे क्या मिथ्याभाषण करते हैं?’ उस युवक ने, जिससे लक्ष्मण सम्बोधित थे, उत्तर दिया। वह युवक स्थानीय मल्लशाला का सबसे प्रतिष्ठित मल्ल था।

‘राक्षस अत्यंत शक्तिशाली होते हैं?’ लक्ष्मण ने उसकी बात पर ध्यान न देते हुए दूसरा प्रश्न किया।

‘हाँ!’

‘नरभक्षी भी होते हैं?’

‘हाँ!’

‘संख्या में भी पर्याप्त हैं?’

‘हाँ!’

‘यदि वे इतने ही शक्तिशाली हैं तो दिन-दहाड़े खुलकर तुम्हारी बस्ती पर आक्रमण क्यों नहीं करते, रात में छुपकर क्यों करते हैं?’

वह युवक गड़बड़ा गया।

‘पता है छुपकर वार कौन करता है?’ लक्ष्मण ने पुनः प्रश्न किया।

‘कौन?’

‘वह जो दुर्बल होता है। सबल को छुपकर वार करने की आवश्यकता नहीं होती। होती है क्या?’

‘नहीं!’ उसे मानना पड़ा।

‘जब किसी राक्षस से सामना होगा तो सारी बातें हवा हो जायेंगी।’ उस युवक को कमजोर पड़ता देख दूसरा युवक बोल पड़ा।

लक्ष्मण ठठाकर हँस पड़े।

‘मेरा नाम लक्ष्मण है। भूमण्डल पर किसी राक्षस में इतनी सामर्थ्य नहीं जो लक्ष्मण का सामना कर पाये।’

‘बहुत देखे हैं ऐसी बड़ी-बड़ी बातें करने वाले। अवसर आने पर ऐसे ही ढपोरशंखी व्यक्ति सबसे पहले दुम दबाकर भागते हैं।’ उस युवक ने खिल्ली उड़ाने वाले अंदाज में कहा।

‘ऐसा?’ लक्ष्मण फिर हँसे- ‘तुम सारे ही बस्ती के सर्वश्रेष्ठ मल्ल हो?’

‘हाँ हैं ... तो?’

‘शरीर भूँ खूब बनाया है।’ लक्ष्मण ने भी हँसी उड़ाने वाले अंदाज में प्रशंसा की।

‘मात्र शरीर ही नहीं बनाया, शक्ति भी है। महिष को भी पछाड़ सकते हैं हम।’ युवक ने गर्वोक्ति की।

‘देखते हैं। आओ परीक्षण हो जाए।’ लक्ष्मण चुनौती देते हुए मुस्कुराये।

‘तुम लड़ोगे हमसे?’

‘क्यों, भयभीत हो गए?’

‘भयभीत होना अरन्धक ने नहीं सीखा।’ संभवतः उस युवक का नाम अरन्धक था।

‘अभी तो राक्षसों के नाम से भयभीत हो रहे थे।’ लक्ष्मण ने पुनः उसे खिजाया।

‘राक्षसों की बात अलग है। तुम आओ तो मैदान में, अभी आकाश दिखाता हूँ।’

‘अरे व्यर्थ ही इतना श्रम करोगे? पंजा लड़कर ही परीक्षण कर लेते हैं।’

‘जैसी तुम्हारी इच्छा।’ अरन्धक ने आत्मविश्वास से कहा।

दोनों ने कुहनियाँ वहीं भूमि पर टिका दीं। दोनों के पंजे आपस में जकड़ गए। आरंभ में उस युवक ने लक्ष्मण को हल्के में ही लिया किंतु कुछ ही क्षणों में उसे आभास होने लगा कि सामने वाले के शरीर की मांसपेशियाँ भले ही उसके समान खूब विकसित दृष्टिगोचर नहीं होतीं, किंतु उसकी शक्ति अविश्वसनीय है। उसके चेहरे की मांसपेशियाँ खिंचने लगीं। लक्ष्मण अभी भी मुस्कुरा रहे थे। उन्होंने उसे एक बार फिर चिढ़ाया-

‘शक्ति लगाओ मित्र, आनंद नहीं आ रहा अभी ... अच्छा दोनों हाथ लगा लो अथवा मित्र तुम भी आ जाओ।’ उन्होंने पहले वाले युवक की ओर संकेत किया। वह युवक पहले कुछ झिझका किंतु अरन्धक के मस्तक पर झलक रहे स्वेद बिंदु और लक्ष्मण के चेहरे की मुस्कान देख उसे प्रतीत हो गया कि पलड़ा लक्ष्मण का बहुत भारी है। उसने भी अरन्धक की हथेली के पीछे अपने दोनों हाथ और उसके पीछे अपनी छाती टिका दी।

लक्ष्मण अभी भी मुस्कुरा रहे थे। ऐसा प्रतीत हो रहा था मानो वे स्वयं स्पर्धा में हैं ही नहीं, उनकी भुजा के स्थान पर कोई लौह-भुजा रखी है जिसके साथ वे दोनों युवक शक्ति परीक्षण कर रहे हैं और वे स्वयं उस शक्ति परीक्षण का आनंद ले रहे हैं।

कुछ ही देर में दोनों के चेहरे लाल हो गए। पसीना चेहरे से टपककर भूमि पर गिरने लगा किंतु लक्ष्मण वैसे ही मुस्कुरा रहे थे मानो खेल कर रहे हों।

‘बस, यही सामर्थ्य है तुम लोगों की। छोड़ो आनंद नहीं आ रहा।’

उन दोनों को यह अपना अपमान लगा। दोनों ने पूरी ताकत लगा दी। लक्ष्मण ने अब नया खेलवाड़ किया, धीरे से अपनी भुजा को एक झटका दिया। सामने वाले की भुजा पैतालीस अंश के कोण पर झुक गयी।

‘छोड़ो भी अब, मित्रों में जय-पराजय नहीं होती।’ इस बार लक्ष्मण ने अपनत्व भरे स्वर में कहा- ‘शक्ति है तुम लोगों में भी। बस एक बार अपने मन में छुपे इस भय रूपी राक्षस को पराजित कर दो तो कोई राक्षस तुमसे नहीं जीत सकता।’

वे दोनों अचंभित थे। लक्ष्मण की बात सुनकर पहले वाले युवक ने आँखें उठाकर लक्ष्मण से दृष्टि मिलाई। वास्तव में उनमें मित्रता की चमक थी। वह कुछ ढीला पड़ा। लक्ष्मण ने उसके ढीले पड़ने का लाभ लेने का कोई प्रयास नहीं किया। उन्होंने अपनी उँगलियाँ खोल दीं। उन दोनों ने भी अपने हाथ हटा लिये। दोनों लज्जित प्रतीत हो रहे थे।

‘आओ!’ लक्ष्मण ने उन्हें आमंत्रित करते हुए अपनी बाहें फैला दीं। दोनों उनकी बाहों में सिमट गये।

‘अरे सारे आओ न!’ लक्ष्मण ने सबको पुकारा। वहाँ उपस्थित सारे युवक बाहें फैलाकर आपस में लिपट गए।

‘आप लोगों को क्या पृथक निमंत्रण देना पड़ेगा?’ लक्ष्मण ने अपने साथ आये युवक ऋषियों को भी आमंत्रण दिया।

‘इतनी अविश्वसनीय शक्ति कहाँ छिपाये थे मित्र? मुझे तो प्रतीत हो रहा है तुम हमारे साथ बस खेलवाड़ ही कर रहे थे। शक्ति तो तुमने लगाई ही नहीं। तुम्हारे शरीर को देखकर तो नहीं लगता कि इसकी शतांश शक्ति भी हो सकती है तुममें!’

‘मन में!’ लक्ष्मण ने सहजता से कहा- ‘और अपने आत्मविश्वास में!’

‘कैसे करते हो इसे?’ अरन्धक ने प्रश्न किया।

‘सीखना चाहो तो सिखा दूँगा, किंतु उसके लिए सर्वप्रथम राक्षसों का भय मन से निकालना पड़ेगा।’ कहते हुए लक्ष्मण हँस पड़े। फिर आगे बोले- ‘जब तक मन में उनका भय बना रहेगा, शक्ति के लिए स्थान ही कहाँ बचेगा?’

उनकी बात पर सभी हँस पड़े।

‘किंतु पहले सभी अपने नाम बताओ।’ लक्ष्मण ने पूछा।

सबने अपने-अपने नाम बताये- अरन्धक तो था ही, शेष थे विषन्धर, प्रभात, मन्दार, निशीथ, पर्वत, सोमेन्द्र, मनज और इरावत। युवा ऋषियों के नाम लक्ष्मण को पहले ही

ज्ञात थे। वे थे- रजस्व, मनसिज, संघमित्र, देवमित्र, मंत्रसिद्ध, विश्वदेव, प्रबुद्ध, अरण्यक, रसज्ञ और सत्यप्रिय।

दूसरे दिन से ही लक्ष्मण की कक्षाएँ आरम्भ हो गयीं। वे उनमें आत्मविश्वास **फूँककर** उनके मन से रक्षों का भय निकालने का प्रयास करने लगे साथ ही उन्हें हठयोग की कुछ विधियों और गदा, कटार और धनुष संचालन की सूक्ष्म तकनीकें भी सिखाने लगे। अपने इस नवीन कार्य-व्यापार से वे अत्यंत प्रसन्न थे। उनका समय आनन्दमय व्यतीत हो रहा था।

राम ऋषियों से चर्चा कर रक्षों के विषय में सूचनाएँ एकत्र करने का प्रयास कर रहे थे। इस प्रकार दोनों भाई सारे दिन व्यस्त रहने लगे थे। सारा दिन कुटिया से अनुपस्थित रहते थे।

सीता की भी यद्यपि आश्रमों की स्त्रियों से पहचान बढ़ने लगी थी किंतु वे कुटिया को छोड़कर प्रायः नहीं जाती थीं। ऐसे में कुटिया के बाहर फुलवारी लगाकर उसके साथ अपना समय व्यतीत करने का प्रयास करती थीं। कभी-कभी अन्य आश्रमों की स्त्रियाँ आ जाती थीं तो उसके साथ भी समय बीत जाता था। किंतु फिर भी उनका अधिक समय पति और देवर की प्रतीक्षा करने में ही कटता था। उन्हें यह प्रतीक्षा खलने लगी थी। अंततः एक दिन उन्होंने उलाहना दे ही दिया-

‘सीता के लिए इससे अधिक समय तो आपको अयोध्या में मिल जाता था, यहाँ तो आपका सम्पूर्ण समय आश्रमों की परिक्रमा में ही व्यतीत हो जाता है।’

‘आप सत्य कह रही हैं, किंतु दण्डकारण्य के लिए प्रस्थान करने से पूर्व मैं वहाँ की परिस्थितियों के विषय में अधिकाधिक सूचनाएँ एकत्र करना चाहता हूँ, और लक्ष्मण क्षेत्रवासियों के मन से रक्षों का भय निकालने का प्रयास कर रहे हैं। क्या ये कार्य आवश्यक नहीं हैं?’

‘मैं कब कह रही हूँ कि आवश्यक नहीं हैं, किंतु पत्नी के लिए भी कुछ समय तो निकाल ही लिया करें।’ सीता तुनक गयीं।

‘प्रकारान्तर से आपका आशय तो यही है।’ राम ने मुस्कुराते हुए छेड़ा।

‘मेरा तात्पर्य यह कदापि नहीं है। आप अकारण मेरे कथन का मिथ्या विश्लेषण कर रहे हैं।’

‘तो स्वयं बतायें कि आपका आशय क्या है?’

‘कुछ ऐसा उपाय कीजिए कि आप के कार्य भी होते रहें और अपनी पत्नी को भी आप पर्याप्त समय दे सकें।’

‘आप स्वयं ही सुझायें न कोई उपाय, प्रश्न तो आपने ही उठाया है।’

‘आप मुझे भी अपने साथ ले चला कीजिए।’

‘जैसा स्वामिनी का आदेश!’ राम ने सीता को छेड़ते हुए अभिनय पूर्वक उत्तर दिया।

उस दिन से सीता भी सदैव राम के साथ ही जाने लगीं।

* * *

लक्ष्मण ने सुदूर वनों में भी यात्रा करना आरम्भ कर दिया था। वन में भटक न जायें इसके लिए उन्होंने एक विधि निकाली थी- वे मार्ग में बीच-बीच में पेड़ों की निचली शाखाओं में लताओं से बाँध कर कुछ विशेष चिन्ह लटकाते जाते थे, जो सहजता से दृष्टि में आ जायें।

राम और सीता भी आश्रमों के बाद अब निकट की बस्तियों में भ्रमण करने लगे थे। सीता का साथ राम के लिए वस्तुतः अत्यंत सहायक सिद्ध हो रहा था। वे सहज ही स्त्रियों के मध्य घुलमिल जाती थीं और रक्षों के विषय में अनेक विस्मयकारी सूचनायें साथ लेकर लौटती थीं। कोई स्त्री बताती थी कि राक्षसों के बड़े-बड़े सींग होते हैं। कोई बताती थी कि वे मनुष्यों को अपने नखों से ही मार डालते हैं और फिर उसे कच्चा ही चबा जाते हैं। पुरुष भी बहुत कुछ ऐसी ही बातें बताते थे। परंतु ऐसा कोई व्यक्ति उन्हें अभी तक नहीं मिला था जिसने राक्षसों को प्रत्यक्ष देखा हो। राक्षसों द्वारा मारे गये क्षत-विक्षत शव तो अधिकांश ने देखे थे किंतु उनकी हत्या होते किसी ने नहीं देखी थी।

लक्ष्मण ने सुदूर वनों में अपने भ्रमण में ऐसे संकेत देखे जिनसे यह सहज ही अनुमान लगाया जा सकता था कि कुछ संदिग्ध व्यक्ति चोरी-छिपे वहाँ विचरण करते हैं, किन्तु किसी संदिग्ध के प्रत्यक्ष दर्शन उन्हें भी नहीं हुए थे।

अपने इन भ्रमण कार्यक्रमों में कुछ ही दिनों में उन्हें आभास हो गया कि क्षेत्र में रक्षों का आना-जाना तो है, किंतु वे अभी खुलकर बस्तियों में आने का साहस नहीं करते। एक रात्रि जब ये तीनों वनवासी प्राप्त सूचनाओं का विश्लेषण कर रहे थे तो तीनों का साँझा निष्कर्ष यही था कि वनों में इस प्रकार घूमने वाले या तो रक्षों के गुप्तचर हैं जो चुपचाप इस क्षेत्र में विचरण करते हैं अथवा कोई दस्यु आदि हैं जो कहीं कोई अपराध कर कुछ काल के लिए वन में आकर छिप जाते हैं। राक्षसों के विषय में बस्तियों में जो वीभत्स वर्णन बिखरे हुए हैं, उनमें भ्रान्ति अधिक है सत्य कम है। सत्य कहा जाए तो उनकी कल्पना के राक्षस, भय का भूत से अधिक नहीं हैं।

अब विचारणीय यह था कि इस स्थिति में यहाँ अधिक समय तक रुकना उपादेय है अथवा आगे बढ़ना चाहिए। लक्ष्मण का प्रस्ताव था कि आगे बढ़ना चाहिए। लक्ष्मण के इस प्रस्ताव पर सीता ने प्रश्न किया-

‘परंतु अकारण दण्डकारण्य जाकर राक्षसों से भिड़ने की आवश्यकता क्या है? हम यहीं शांतिपूर्वक अपने वनवास की अवधि क्यों नहीं व्यतीत कर सकते?’

लक्ष्मण के लिए इस प्रश्न का उत्तर देना कठिन था। भाभी को अभियान के विषय में कितनी सूचना देनी है यह निर्णय वे स्वयं नहीं कर सकते थे। उन्होंने सहायता के लिए राम की ओर देखा।

‘माता ने आदेश देते समय स्पष्ट रूप से दण्डकारण्य का उल्लेख किया था। अतः मुख्य रूप से तो हमें अपना वनवास वहीं व्यतीत करना है।’

‘अर्थात् माता सत्य ही यह चाहती हैं कि दण्डकारण्य आपका समाधि-स्थल बन जाए? फिर भी आप सदैव उनका पक्ष लेते रहते हैं।’ सीता के स्वर में रोष स्पष्ट परिलक्षित था।

‘ऐसा नहीं है सीते!’

‘ऐसा कैसे नहीं है, सब कुछ स्पष्ट तो दृष्टिगोचर हो रहा है। आप देखना ही नहीं चाहते।’

राम कुछ देर मौन रहे। वे भी यही सोच रहे थे कि क्या करें, सीता को बता दें क्या? इतने दिनों में उन्हें यह तो अनुभव हो ही गया था कि सीता के हृदय में भीरुता के लिए कोई स्थान नहीं है। वास्तविकता जानकर वे व्यथित नहीं होंगी, उत्साहित ही होंगी। अंततः उन्होंने सब कुछ सीता को बता देने का निर्णय ले लिया। इतना बड़ा सत्य उनसे आखिर कब तक गोपन रखा जा सकता था?

राम ने अपने निर्णय पर अमल किया।

जैसे-जैसे सीता सुनती गयीं, उनके नेत्र आश्चर्य से फैलते गए। ... और अंत में उनके मुख पर भी लक्ष्मण के समान ही रोमांच की उत्साहित स्मित **पसर** गयी। वे उत्साह से बोल पड़ीं-

‘ओह कितना आनंद आएगा, इन रक्षों के दलन में!’ किंतु दूसरे ही क्षण उनके नेत्र आक्रोश से सिकुड़ गए- ‘किंतु, इतना बड़ा सत्य आपने इतने दिन सीता से छिपाये रखा? क्या सोचा था आपने कि सीता भयभीत हो जाएगी सत्य जानकर?’

‘अपराधी भूल के लिए क्षमाप्रार्थी है। दुबारा ऐसी भूल कदापि नहीं होगी।’ राम ने अभिनयपूर्वक कान पकड़ कर कहा।

उनके अभिनय ने सीता का आक्रोश धो डाला। वे खिलखिलाकर हँस पड़ीं-

‘ऐसा है तो क्षमा किया।’ उन्होंने भी अभिनय पूर्वक उत्तर दिया।

अंततः यह निष्कर्ष लिया गया कि दूसरे दिन आश्रमों के कुलपति महर्षि वाल्मीकि से परामर्श किया जाए और तभी कोई अंतिम निर्णय लिया जाए।

किंतु दूसरे दिन यह संभव नहीं हो सका।

34- दशरथ का महाप्रयाण

चेत आते ही दशरथ राम को सामने न देखकर पुनः व्यथित हो उठे और राम! राम! चिल्लाने लगे। दासियों ने बताया कि राम तो चले गए। तब किसी प्रकार दासियों की ही सहायता से वे प्रासाद की छत पर चढ़ गये, कैकेयी को उन्होंने स्वयं को स्पर्श भी नहीं करने दिया।

प्रासाद की छत से उन्हें दूर जाता हुआ राम का रथ दिखाई पड़ा। वे बड़ी देर तक विह्वल राम को टेरते रहे किंतु उनका क्षीण स्वर प्रासाद के नीचे तक भी नहीं पहुँच पा रहा था, उतनी दूर राम तक कैसे पहुँचता! उस पर भी राम के चारों ओर इतना कोलाहल था कि निकटस्थ व्यक्ति की पुकार भी समझ में नहीं आती थी। दशरथ की आर्त पुकार किसी ने नहीं सुनी। कोई सुनता भी तो कैसे, सभी का तो पूरा ध्यान वन के लिए प्रस्थान करते हुए राम की ओर था। सभी का मस्तिष्क तो इस चिंतन में व्यस्त था कि किस प्रकार राम को रोका जाए अथवा किस प्रकार स्वयं भी उनका अनुसरण किया जाए?

धीरे-धीरे राम का रथ दशरथ की दृष्टि से ओझल हो गया। मन और शरीर दोनों से टूटे दशरथ, हताश हो वहीं बैठ गए। बड़ी देर तक वे वहीं बैठे रहे। उन्हें न चटक धूप का आभास हो रहा था न ही अपनी स्थिति का। मंथरा और कैकेयी का साहस नहीं हो रहा था उनके पास आने का। उन्हें तो देखते ही दशरथ और अधिक उद्विग्न हो उठते थे। अंततः कुछ दासियों ने साहस कर उन्हें जल लाकर दिया। अनजाने ही उन्होंने जल का पात्र थाम लिया और जल पी लिया। जल पीकर उन्हें कुछ चेत हुआ तो उन्होंने दासियों ने थोड़ा और साहस दिखाते हुए उन्हें उठाने का प्रयास किया। दशरथ उठे और आदेश दिया-

‘मुझे महारानी कौशल्या के प्रासाद में ले चलो। इस कुलटा का मैं मुख भी नहीं देखना चाहता अपने जीवन में।’

दासियों ने व्यवस्था की। कुछ सेवकों की सहायता से महाराज नीचे उतरे और रथ पर बैठ कर कौशल्या के प्रासाद की ओर प्रस्थान कर गए।

कैकेयी एक बार पुनः अपने उसी कक्ष में अवसन्न सी पड़ी हुई थी। उसे भूख-प्यास, अच्छा-भला किसी भी प्रकार की कोई अनुभूति नहीं हो रही थी।

* * *

कौशल्या के प्रासाद में कौशल्या और सुमित्रा व्यथित बैठी हुई थीं, उर्मिला अपने हृदय पर पत्थर रख उन्हें संभालने का प्रयास कर रही थी। तभी अचानक एक दासी

दौड़ती हुई आई और सूचना दी-

‘महारानी जी! महाराज का रथ प्रासाद के द्वार पर है। महाराज आ रहे हैं, ... और ... और ... उनकी अवस्था अत्यंत शोचनीय प्रतीत हो रही है।’

कौशल्या और सुमित्रा दोनों ही अपनी पीड़ा भूल गयीं और महाराज को लिवाने के लिए सीढ़ियों की ओर बढ़ीं। दोनों जब तक नीचे पहुँचीं सारथी ने रथ प्रासाद के विशाल प्रवेश-द्वार से भीतर लाकर अतिथि-कक्ष के द्वार पर लगा दिया था। दशरथ रथ से उतर चुके थे और अतिथि-कक्ष की ओर जाने के स्थान पर सीढ़ियों की ओर बढ़ने का प्रयास कर रहे थे। वे स्वयं को कौशल्या का अपराधी मान रहे थे और उनसे क्षमा की याचना करना चाह रहे थे।

कौशल्या को देखते ही दशरथ रुक गए। उनके हाथ स्वयमेव जुड़ गए। उनके मुख से क्षमा-प्रार्थना के अस्फुट से शब्द निकले और आँखों से अश्रुधारा प्रवाहित हो चली।

कौशल्या के पास आते ही वे उसके चरणों की ओर झुकने लगे। कौशल्या ने उन्हें बीच में ही थाम लिया-

‘महाराज यह क्या कर रहे हैं? इस अभागिनी के चरणों में झुककर क्यों इसके लिए नर्क का द्वार खोल रहे हैं?’

‘महारानी’ दशरथ ने कुछ बोलना चाहा किन्तु वाणी ने साथ नहीं दिया।

कौशल्या और सुमित्रा दोनों ने एक-एक ओर से सहारा देकर उन्हें अतिथिकक्ष में ले जाकर पर्यंक पर लिटा दिया और स्वयं उनके पैताने बैठकर उनके पैर दबाने लगीं।

‘जीजी आप उधर जाकर उनका सिर सहलाइये।’ सुमित्रा ने कौशल्या को सलाह दी। कौशल्या ने वैसा ही किया। वे दशरथ के सिरहाने भूमि पर ही बैठ गयीं और उनका सिर सहलाने लगीं।

सेवकों को आदेश दिया गया कि गुरुदेव और राजवैद्य को महाराज की स्थिति की सूचना देते हुए अविलंब आने का आग्रह किया जाए।

आदेश द्वार से झाँकते रथ के सारथी ने भी सुना। उसने सेवकों को राजवैद्य के निवास की ओर जाने को कहा और स्वयं रथ को घुमाकर गुरुदेव के आश्रम की ओर मोड़ दिया। आश्रम प्रासाद से पर्याप्त दूर था, सेवकों को वहाँ तक जाने में और गुरुदेव को लाने में पर्याप्त समय लग जाता।

कुछ ही काल में गुरुदेव आ गए। वे राम के पीछे नहीं गए थे, अतः आश्रम में ही मिल गए। सूचना मिलते ही वे चल पड़े। राजवैद्य के आने तक उन्होंने महाराज की नाड़ी परीक्षा की और प्राथमिक उपचार दिया।

राजवैद्य को भी अधिक विलम्ब नहीं हुआ।

उन्होंने सेवकों से पूछकर ही महाराज की स्थिति का आकलन कर लिया था और आवश्यक औषधियाँ साथ ही लेकर आए थे। आकर उन्होंने विधिवत परीक्षण किया और औषधियाँ दे दीं।

गुरुदेव और राजवैद्य में परस्पर विचार-विनिमय हुआ। दोनों का ही मत था कि स्थिति चिंताजनक है। औषधियाँ शरीर को रोगमुक्त कर सकती हैं, उसे शक्ति दे सकती हैं किंतु मन को रोगमुक्त करने में वे एक सीमा तक ही सहयोग कर सकती हैं। मन को रोगमुक्त तो व्यक्ति की अपनी इच्छाशक्ति अथवा समय ही कर सकता है। दुर्भाग्य से महाराज के पास इस समय, इन दोनों का ही अभाव लक्षित हो रहा था।

दोनों ही वयोवृद्ध वहीं बैठकर काल के निर्णय की प्रतीक्षा करने लगे। वह दिन किसी प्रकार महाराज खींच ले गए।

दूसरे दिन मध्याह्न होते-होते जब दूर तक राम के पीछे जाने के उपरांत, थके-हारे आमात्यगण वापस लौटे तो उन्हें भी महाराज की शोचनीय अवस्था की सूचना मिली। वे सारे भी एक-एक कर कौशल्या के प्रासाद में एकत्र होने लगे।

‘मेरा राम कहाँ है? तुम तो उसके रथ के साथ थे।’ अभी आए इन आमात्यों में से एक को पहचान कर दशरथ ने अस्फुट वाणी में प्रश्न किया।

‘वे चले गए महाराज! हम सबने रोकने का बहुत प्रयास किया किंतु ...’

‘कुछ भी नहीं होता तुम लोगों से।’ हताशा में दशरथ के मुँह से निकला और उनका मुरझाया चेहरा और भी मुरझा गया। ऐसे ही धीरे-धीरे साँझ ढली और फिर रात उतर आई।

प्रातःकाल होते-होते दशरथ की स्थिति और भी बिगड़ चुकी थी। राजवैद्य का कोई भी उपचार थोड़ा सा भी लाभ पहुँचाने में समर्थ नहीं सिद्ध हुआ था। प्रातःकाल महाराज को कुछ चेत हुआ। गुरुदेव और राजवैद्य के अतिरिक्त सबके मुख पर थोड़ा सा संतोष झलका।

चेत आते ही दशरथ ने कौशल्या को देखा। देखते ही उनकी आँखों से फिर आँसू बह चले।

‘यह सब उसी मुनि-पत्नी के शाप का प्रतिफलन है।’ दशरथ के मुख से अस्फुट से शब्द निकले।

‘किसके महाराज?’ कौशल्या को कुछ भी समझ नहीं आया था।

‘आप नहीं जानतीं, हमारे विवाह के भी पूर्व की घटना है।’

और फिर दशरथ ने टूटी-फूटी वाणी में, धीरे-धीरे कौशल्या को, अपने द्वारा अनजाने में हुई श्रवण कुमार की हत्या की पूरी कथा सुना दी।

‘उसने चिता पर रखे पुत्र के शव पर विलाप करते हुए मुझे श्राप दिया था कि जिस प्रकार हम अपने पुत्र के वियोग में तड़प-तड़प कर प्राण त्याग रहे हैं, उसी प्रकार तुम भी एक दिन अपने पुत्र के वियोग में तड़प-तड़पकर प्राण त्यागोगे।’

कौशल्या और सुमित्रा दशरथ को सान्त्वना देने का प्रयास करने लगीं।

गुरुदेव और राजवैद्य के समझ में आ गया कि क्यों कोई उपचार सार्थक सिद्ध नहीं हो रहा है। परिस्थितियों ने दशरथ की अंतश्चेतना को उस श्राप की शक्ति पर ऐसा दृढ़ विश्वास दिला दिया था कि वह शरीर को कोई उपचार स्वीकार ही नहीं करने दे रहा था। राजवैद्य सोच रहे थे- काश! किसी प्रकार महाराज के मन से यह विश्वास मिटाया जा सकता!

राजवैद्य ने गुरुदेव की ओर देखा। गुरुदेव को दशरथ का वह आखेट स्मरण हो आया था। उन्हें तभी से संदेह था कि कुछ तो अघटित घटित हुआ है जिसने दशरथ को एकाएक आखेट का कार्यक्रम बीच में ही रोक कर वापस लौटने पर विवश कर दिया। (देखिए- पूर्व-पीठिका) किंतु न तो कभी उन्होंने ही उसे जानने का प्रयास किया था और न ही स्वयं दशरथ ने किसी को कुछ भी बताया था।

राजवैद्य की दृष्टि के उत्तर में गुरुदेव ने नकारात्मक ढंग से सिर हिला दिया। वे दशरथ को सम्मोहित कर उन्हें विपरीत भावना देने का प्रयास कर सकते थे किंतु वे जानते थे कि सम्मोहन भी व्यक्ति की दृढ़ आस्था को बदलने में समर्थ नहीं होता। यदि दशरथ के पास पर्याप्त समय होता तो वे उनकी इस आस्था को भावना देकर धुँधला करने का प्रयास अवश्य करते किंतु समय था ही कहाँ उनके पास! दिवस का दूसरा प्रहर आते-आते, दशरथ की आत्मा नश्वर शरीर को त्यागकर परमात्मा में विलीन होने के लिए प्रस्थान कर गयी।

वायुमंडल में चारों ओर घोर विलाप तैरने लगा।

जो नगरवासी राम के वनगमन के समय महाराज को तरह-तरह से कोस रहे थे, वे भी उनकी मृत्यु से द्रवित थे। अब सबकी आलोचना का केन्द्र-बिन्दु एकमात्र कैकेयी बची थी और उसके साथ में मंथरा।

गुरुदेव अपने कर्तव्य के निर्वहन में लग गए। उन्होंने अविलम्ब दूतों को भरत को बुला लाने के लिए भेज दिया- इस निर्देश के साथ कि यहाँ के इस घटनाचक्र के विषय में वहाँ कुछ भी न बताया जाए, बस इतना ही कहा जाए कि महाराज ने अविलम्ब बुलाया है। वहाँ पर किसी को कोई आशंका न हो इस निमित्त सामान्य प्रचलित राजकीय परम्परा के अनुसार राज-परिवार के सभी सदस्यों के लिये यथोचित उपहार लेकर तीव्रगामी अश्वों से जुते रथों पर दूत प्रस्थान कर गए।

दशरथ के शव को, भरत के आने तक के लिए, मसालों से मिश्रित विशेष तैल में संरक्षित कर लिया गया।

* * *

केकय में सब आश्चर्यचकित थे कि अभी तो भरतादिक आए ही हैं। ऐसा क्या हुआ जो महाराज दशरथ अकस्मात ही इतना शीघ्र उन्हें वापस बुलवा रहे हैं, फिर भी किसी ने आपत्ति नहीं की। दूतों के पहुँचने के दूसरे ही दिन भरत और शत्रुघन को प्रचुर उपहारों और प्रचुर सैन्य के साथ अयोध्या के लिए विदा कर दिया गया।

35- भरत का आगमन

भरत और शत्रुघ्न को अयोध्या आते ही जो कुछ देखने और सुनने को मिला, उसकी उन्होंने स्वप्न में भी आशा नहीं की थी। उन्होंने तो अत्यंत प्रसन्नता के साथ अयोध्या में प्रवेश किया था, किंतु प्रवेश करते ही उन्हें प्रतीत होने लगा कि कुछ बहुत ही हृदय-विदारक काण्ड हुआ है। अयोध्या के सदैव चहल-पहल से भरे रहने वाले मार्ग सूने पड़े हुए थे। जो इक्का-दुक्का नागरिक दिखाई भी पड़ रहे थे, उनके मुँह उतरे हुए थे। भरत को देख कर वे मुँह घुमा ले रहे थे। नागरिकों के इस अबूझ बर्ताव से विस्मित भरत और शत्रुघ्न का रथ राजप्रासाद पहुँचा। माण्डवी और श्रुतकीर्ति भी असमंजस में थीं।

प्रासाद के विशाल प्रवेश द्वार पर नियुक्त प्रहरियों ने भरत को देखते ही सिर झुकाते हुए मार्ग छोड़ दिया। किंतु भरत ने रथ रुकवाया और एक प्रहरी को बुलाकर प्रश्न किया-

‘पिताजी कहाँ होंगे इस समय?’

‘उधर, सामने मुख्य भवन में दाहिनी ओर प्रथम कक्ष में!’ प्रहरी ने हाथ से संकेत करते हुए बताया।

‘इन सारे सैनिकों के निवास और भोजनादि की व्यवस्था करवा दीजिए।’ भरत ने अपने पीछे आ रही केकय की विशाल सेना की ओर संकेत किया। सारथी ने भरत के आदेश पर रथ द्वार के भीतर ले लिया।

भीतर विशाल उपवन को पार करते हुए रथ मुख्य भवन के द्वार पर पहुँचा। वहाँ भी प्रहरियों ने भरत को देखकर सिर झुकाकर मार्ग छोड़ दिया। भरत देख कर अचंभित थे, आज उपवन में प्रजाजनों की भारी भीड़ एकत्र थी किंतु सबके मुखों पर विषाद की छाया व्याप्त थी। भरत को देखते ही एकत्र भीड़ में फुसफुसाहट आरंभ हो गयी।

भरत और शत्रुघ्न ने मुख्य भवन में प्रवेश किया। मुख्य द्वार के बायीं ओर अतिथि-कक्षों की बड़ी सी शृंखला थी और दाहिनी ओर एक बहुत विशाल कक्ष था जो मुख्यतः विशेष उत्सवों में ही प्रयुक्त होता था। उस कक्ष के बाहर भी भारी भीड़ एकत्र थी। उनमें अनेक सभासदों को दोनों कुमार पहचानते थे। किंतु उन्हें अचरज हुआ कि सभासदों ने उनके सम्मान में यंत्रवत मात्र हाथ जोड़ दिये, अन्य कोई भी प्रतिक्रिया नहीं दी।

विस्मित से चारों प्राणी आगे बढ़ते रहे। मौन सभासदों ने कक्ष के प्रवेश द्वार तक का मार्ग उनके लिए छोड़ दिया।

कक्ष में प्रवेश करते ही चारों को झटका लगा।

कक्ष के मध्य में भूमि पर एक विशाल श्वेत चादर बिछी हुई थी, उस पर कोई लेटा हुआ था। किंतु भूमि पर क्यों? ... और जैसे ही भूमि पर क्यों का अर्थ समझ में आया दोनों ही स्तब्ध रह गए- क्या पिताजी?

भरत और शत्रुघ्न धड़कते हृदय से दौड़कर दशरथ तक पहुँचे और शव पर गिर पड़े। अश्रु स्वयमेव गालों को भिगोने लगे।

माण्डवी और श्रुतकीर्ति शव के चरणों में सिर रख कर प्रणाम करने के उपरांत माताओं के साथ बैठ गयीं। उन्हें समझ ही नहीं आ रहा था कि इस समय किस भाँति बर्ताव करना है! ऐसी स्थिति की तो किसी ने स्वप्न में भी कल्पना नहीं की थी। सम्पूर्ण कक्ष में निस्तब्धता व्याप्त थी। रह-रह कर किसी न किसी की दबी हुई सिसकी का स्वर इस निस्तब्धता को भंग कर रहा था।

दोनों ही भाइयों ने शीघ्र ही स्वयं को संयत किया।

सिर उठाकर देखा तो सामने ही तीनों मातायें श्वेत वस्त्रों में लिपटी, निराभरण बैठी हुयी थीं। उन्हीं के साथ उर्मिला भी वैसे ही श्वेत वस्त्रों में बैठी थी। माताओं की बगल में गुरुदेव थे। उनके पीछे सारे परिवारीजन और आमात्यगण उपस्थित थे।

‘कैसे हुआ यह?’ भरत ने रूँधे गले से पूछा।

‘हृदयाघात।’ गुरुदेव ने संक्षिप्त सा उत्तर दिया।

‘किंतु ... किंतु ऐसे तो कोई लक्षण नहीं थे। अभी जब हम लोगों ने केकय के लिए प्रस्थान किया था तब तक तो पूर्ण स्वस्थ और प्रसन्नचित्त थे?’

‘काल की गति कौन समझ पाया है वत्स! स्वयं को संयत करो, तुम्हारे ऊपर अब बहुत बड़ा दायित्व है।’

अपनी व्यथा में डूबे भरत नहीं समझ पाए कि वस्तुतः गुरुदेव का आशय क्या है। सही कहा जाए तो उन्होंने उस ओर ध्यान ही नहीं दिया। अचानक उनके मस्तिष्क में कुछ कौंधा। संभवतः शत्रुघ्न के मस्तिष्क में वह प्रश्न पहले ही कौंध चुका था, दोनों भाइयों की दृष्टि कक्ष में चारों ओर घूम गयी। राम और लक्ष्मण कक्ष में कहीं नहीं थे। सामने माताओं के साथ उर्मिला तो थी किंतु सीता भाभी नहीं थीं। क्यों?

‘भ्राता राम और लक्ष्मण कहाँ हैं गुरुदेव? वे किस व्यवस्था में गए हैं? ... और भाभी भी नहीं हैं?’ भरत के हृदय में किसी अन्य अनिष्ट की आशंका भी उथल-पुथल मचाने लगी।

‘वे तीनों अयोध्या में नहीं हैं।’

‘किन्तु क्यों? ऐसी कौन सी विकट आवश्यकता आ पड़ी कि इस अवस्था में पिताजी को छोड़कर वे अयोध्या से बाहर चले गए। वह भी एकाकी नहीं, भाभी और लक्ष्मण को भी साथ लेकर?’

‘ऐसी ही विकट परिस्थिति उत्पन्न हो गयी थी वत्स!’ गुरुदेव ने समझाने का प्रयास किया।

‘नहीं गुरुदेव! कुछ न कुछ ऐसा अवश्य है जो आप हम से गोपन रखने का प्रयास कर रहे हैं। क्या है वह?’ शत्रुघ्न पैसे स्वर में बोल पड़े।

‘तुम लोगों से भला क्या गुप्त रखा जा सकता है! तुम्हें ही तो सब कुछ सँभालना है।’ गुरुदेव अत्यंत गंभीर स्वर में बोले।

‘क्या रहस्य है गुरुदेव? क्या अघटनीय घटा है? तुम्हें ही तो सब कुछ सँभालना है ऐसा क्यों कहा आपने? भ्राता राम का नामोल्लेख क्यों नहीं किया?’ शत्रुघ्न उग्र होते जा रहे थे।

भरत ने उनका हाथ दबाते हुए उन्हें शांत करने का प्रयास किया किंतु उनकी भी प्रश्नवाचक दृष्टि गुरुदेव के मुख पर जमी हुई थी।

‘आओ मेरे साथ, तुम्हारे समस्त प्रश्नों के उत्तर दूँगा मैं।’ गुरुदेव ने बस इतना कहा और शत्रुघ्न का हाथ थाम कर बाहर की ओर बढ़ चले। भरत स्वयमेव उनके पीछे चल पड़े।

बाहर एकत्र भीड़ के मध्य से मार्ग बनाते हुए गुरुदेव उन्हें पीछे, उस विशाल भवन के लगभग मध्य भाग में एक कक्ष में ले गए। यहाँ कोई भी उपस्थित नहीं था।

‘भरत! अयोध्या में सत्य ही अघटनीय घटित हुआ है।’ कहकर गुरुदेव मौन हो गए। संभवतः विचार कर रहे थे कि किस प्रकार सारा घटनाक्रम कुमारों के सम्मुख प्रस्तुत करें। दोनों कुमारों की उत्सुक दृष्टि उनपर जमी रही।

‘भरत!’ गुरुदेव पुनः संयत स्वर में बोले- ‘शम्बर युद्ध के विषय में तो तुमने सुना ही होगा?’

‘जी गुरुदेव!’

‘उस युद्ध में तुम्हारी माता ने अपने प्राणों पर खेलकर महाराज की प्राणरक्षा की थी।’

‘जी!’

‘तभी महाराज ने उनसे दो वर माँगने का आग्रह किया था। महारानी ने वे दोनों वर महाराज के पास धरोहर के रूप में रख छोड़े थे।’

‘यह सब तो मैंने भी सुना है, किंतु इस समय उनका उल्लेख करने का क्या कारण है गुरुदेव? माता ने तो कभी स्वप्न में भी उन वरों को याद नहीं किया। मुझसे तक

उन्होंने कभी उनकी चर्चा नहीं की।’

‘हाँ, पूर्व में उन्होंने कभी उन वरों को माँगने के विषय में विचार तक नहीं किया, किंतु अभी अकस्मात उन्होंने वे दोनों वर माँग लिए।’

‘क्या??’ भरत और शत्रुघ्न दोनों के ही मुँह से आश्चर्य से निकला।

‘क्या वर माँगे उन्होंने?’ भरत ने अपने आश्चर्य पर नियंत्रण करते हुए पूछा।

‘तुम्हारे लिए अयोध्या का राज्य और ...’ अचानक गुरुदेव बोलते-बोलते बीच में ही रुक गए।

‘... और क्या गुरुदेव? शीघ्र कहिए, दूसरा आघात क्या है?’

‘राम के लिए चौदह वर्ष का वनवास।’ गुरुदेव ने दीर्घ निःश्वास लेते हुए उत्तर दिया।

‘क्या?’ दोनों के मुख से फिर एकसाथ निकला। दोनों ही सदमे की सी अवस्था में थे।

‘विश्वास नहीं होता गुरुदेव! कह दीजिए कि यह असत्य है।’ भरत ने दीवाल की टेक लेते हुए कहा। उनका सिर चकरा रहा था।

‘यही सत्य है वत्स!’

‘किंतु माता ऐसा कैसे कर सकती हैं? उन्होंने तो सदैव ही भ्राता राम से मुझसे भी अधिक स्नेह किया है। उनके तो प्राण बसते थे भ्राता राम में। उनकी प्रशंसा करते उनका मुख नहीं थकता था कभी?’ दोनों ही भाइयों को अभी भी विश्वास नहीं हो रहा था।

वशिष्ठ के लिए यह अत्यंत कठिन घड़ी थी। सर्वजन के हित के लिए भी असत्य को प्रश्रय देना सत्पुरुषों के लिए कठिन परीक्षा होती ही है। चाह कर भी वशिष्ठ नहीं कह पा रहे थे कि कैकेयी ने अपनी छाती पर पत्थर रखकर यह सब सम्पूर्ण आर्य-संस्कृति के हितार्थ किया है। उन्होंने राम के साथ अन्याय नहीं किया अपना बलिदान दिया है।

‘किंतु उन्होंने ऐसा क्यों किया गुरुदेव? भ्राता भरत सर्वथा सत्य कह रहे हैं। मँझली माँ सत्य ही भ्राता राम पर अगाध स्नेह रखती हैं। वे भला उनके लिए ऐसा कैसे चाह सकती हैं?’

‘तुम्हारी मँझली माँ के विवाह के समय एक संविदा हुई थी जिसके अनुसार महाराज दशरथ के उपरांत राज्य का उत्तराधिकारी तुम्हारी मँझली माँ के पुत्र अर्थात् भरत को बनना था।’

‘मुझे ऐसी किसी संविदा के विषय में नहीं ज्ञात गुरुदेव किंतु यदि हुई भी थी तो भी उसका भ्राता राम के वनवास से क्या संबंध? भ्राता भरत के राजा बनने में बड़े भ्राता

को कदापि कोई आपत्ति नहीं होती। वे तो सदैव दूसरों को ही दिया चाहते हैं। उनके वनवास की बात कहाँ से उत्पन्न हो गयी?’

‘महाराज को तुम्हारी मँझली माँ, स्वयं भरत और तुम्हारे मातुल युधाजित पर इस विषय में विश्वास नहीं था। तभी उन्होंने तुम लोगों के अयोध्या से प्रस्थान करते ही गुपचुप राम के अभिषेक का आयोजन कर डाला।’

‘क्या?’ यह एक और आघात था दोनों के लिए- ‘क्या सच में ऐसा था? क्या सच में ही पिता हमारे पीछे गुपचुप भ्राता का अभिषेक करना चाहते थे?’ शत्रुघ्न अविश्वास से बोले।

‘हाँ, ऐसा ही था। तुम लोगों के जाने के दूसरे दिन ही उन्होंने अकस्मात इसकी घोषणा कर दी। अगले दिन सूर्योदय काल का मुहूर्त निकला था। मैंने कहा भी कि इतनी शीघ्रता क्या है, भरत और शत्रुघ्न को आ जाने दो किंतु उन्होंने उत्तर दिया कि उनके पिता ने स्वप्न में उन्हें आदेश दिया है कि अविलंब राजपाट त्याग कर वानप्रस्थ ग्रहण करें।’

दोनों कुमारों के सिर घूम रहे थे।

‘सूर्योदय के साथ ही राम का राज्याभिषेक होना था और रात्रि तक तुम्हारी मँझली माता को इसकी कोई सूचना तक नहीं थी। तुम्हें तो अयोध्या से बाहर ही भेज दिया गया था। ... यह उपेक्षा और यह अविश्वास महारानी से सहन नहीं हुआ और उन्होंने इससे कुपित होकर आवेश में प्रतिशोध के रूप में उपरोक्त दोनों वर माँग डाले।’

‘पिताजी ने ऐसा कैसे सोच लिया कि हममें से कोई भी भ्राता राम के अभिषेक का विरोध करने की सोच भी सकता है?’ शत्रुघ्न ने बुझे मन से कहा।

‘और माँ ने भी आवेश में आकर यह कैसा अनर्थ कर डाला!’ भरत की आँखें भर आयी थीं। सिर झुक गया था- ‘अब मैं किस प्रकार किसी से आँख मिला पाऊँगा? कैसे किसी को विश्वास दिला पाऊँगा कि मैं राजसिंहासन का इच्छुक कदापि नहीं हूँ।’ कहते-कहते वे बिलख उठे।

‘गुरुदेव वनवास का आदेश तो भ्राता को हुआ है, भाभी और लक्ष्मण कहाँ हैं?’ अचानक शत्रुघ्न ने प्रश्न किया।

‘वे भी राम के ही साथ वनवास पर गए हैं।’

‘लक्ष्मण तो समझ आया, सौभाग्यशाली है जो उसे इन दुर्दिनों में भ्राता की सेवा का अवसर प्राप्त हुआ, किंतु भाभी ... उन्हें आप लोगों ने कैसे जाने दिया? वे वनों का कठिन जीवन किस भाँति सहन कर पायेंगी?’

‘सबने समझाया किंतु सीता नहीं मानी। वह अटल थी कि यदि राम को वनवास का आदेश हुआ है तो वह आदेश उसके लिए भी है। वह राम की अर्धांगिनी है। जैसे

यज्ञ और पूजन बिना पत्नी के सम्पन्न नहीं हो सकता यह वनयात्रा का यज्ञ भी पत्नी के बिना अधूरा ही रहेगा।’

‘ओह! दोनों कितने सौभाग्यशाली हैं, और यह भरत अभागा वह ऐसे देवस्वरूप भाई और देवी स्वरूपा भाभी के लिए इस भयानक कष्ट का कारण बन गया है।’ भरत और भी व्याकुल हो उठे।

‘अवश्य ही यह सब उस कुटनी मंथरा की चाल होगी।’ अचानक चिंतन में डूबे शत्रुघ्न आवेश में आते हुए चीख पड़े। भरत का बिलखना उनसे देखा नहीं जा रहा था- ‘उसी ने मँझली माँ को उकसाया होगा, उसीने उनकी मति फेरी होगी ...’ कहते-कहते वे भाग छूटे-

‘उस कुलटा को तो आज मैं जीवित नहीं छोड़ूँगा।’

भरत और वशिष्ठ एक पल को हतप्रभ रह गए। फिर भरत भी शत्रुघ्न के पीछे भागे। वशिष्ठ के लिए भागना संभव नहीं था किंतु वे भी जितनी शीघ्रता से चल सकते थे, उसी ओर लपके।

वशिष्ठ जब कक्ष के द्वार पर पहुँचे, शत्रुघ्न मंथरा को बालों से पकड़कर घसीट रहे थे। उसके सिर से रक्त बह रहा था, वस्त्र फट गए थे किंतु फिर भी वह निर्विकार थी, न तो रो-चीख कर क्षमायाचना कर रही थी, न ही उसके नेत्रों में अश्रु अथवा पश्चाताप के भाव थे। भरत अत्यंत उग्र हो चुके शत्रुघ्न को रोकने का प्रयास कर रहे थे-

‘शत्रुघ्न छोड़ दो उसे। वास्तविक अपराधी वह नहीं है।’ इस बार भरत ने तीव्र स्वर में कहा और शत्रुघ्न को एक ओर धकेलते हुए बलात उन्हें मंथरा से अलग कर दिया।

‘इसे ले जाओ और इसकी चिकित्सा की व्यवस्था करो।’ शत्रुघ्न के अलग हटते ही भरत ने मंथरा को अन्य दासियों को सौंप दिया। मंथरा को पर्याप्त चोट लगी थी किंतु वह अब भी पूर्णतः सहज और शांत थी। उसके नेत्र अब भी स्वाभिमान से चमक रहे थे। इसे भरत ने भी लक्ष्य किया किंतु वे समझ नहीं पाए। वे अपना ध्यान उस पर से हटाकर कैकेयी की ओर घूमे और घृणा से बोले-

‘मुझे आज लज्जा अनुभव हो रही है कि मैं आपका पुत्र हूँ।’ आवेश में उनका पूरा शरीर काँपने लगा था- ‘आज से भूल जाइयेगा कि आपने किसी पुत्र को जना भी था।’ कहकर वे कैकेयी की प्रतिक्रिया की प्रतीक्षा किए बिना वापस घूम गए और स्वयं को संयत करने का प्रयास करने लगे।

कैकेयी ने कोई प्रतिक्रिया दी भी नहीं। वह उसी भाँति भूमि पर दृष्टि टिकाए बैठी रही। कौशल्या उसे सांत्वना देने का प्रयास कर रही थीं।

‘भरत! स्वयं को संयत करो। यह समय क्रोध अथवा आवेश का नहीं है। इस समय तुम्हारा प्रथम कर्तव्य विधानपूर्वक पिता का अंतिम संस्कार करना है। उनकी मृत्यु

को एक सप्ताह से अधिक समय व्यतीत हो चुका है। रसायनों के बल पर शव को अधिक समय तक सुरक्षित नहीं रखा जा सकता। अपना ध्यान उसपर केंद्रित करो। शत्रुघ्न तुम भी।' वशिष्ठ ने दोनों को निर्देशित किया।'

‘गुरुदेव! मैं कुछ भी सोचने-समझने की स्थिति में नहीं हूँ इस समय। सब कुछ आप ही देखिये। आप जैसा आदेश देंगे मैं करता जाऊँगा।’ भरत ने उत्तर दिया। शत्रुघ्न ने कोई प्रतिक्रिया ही नहीं दी, वे किसी सोच में डूबे थे। उनके होंठ क्रोध में बार-बार थरथरा उठते थे।

* * *

दशरथ का अंतिम संस्कार सम्पन्न हो गया। अंतिम संस्कार के उपरांत तेरह दिनों तक के अन्य संस्कार भी यथाविधि पूरी भव्यता से सम्पन्न हुए।

तेरहवें दिन, सारे कर्मकाण्डों से निवृत्त होते ही भरत गुरुदेव के पास पहुँचे। गुरुदेव अभी प्रासाद में ही उपस्थित थे। जाबालि और अन्य आमात्यगण भी वहीं थे।

‘गुरुदेव एक निवेदन है।’ भरत ने हाथ जोड़कर निवेदन किया।

‘बताओ ... किंतु उससे पूर्व मुझे कुछ कहना है।’

भरत गुरुदेव के कहने की प्रतीक्षा करने लगे। शत्रुघ्न भी उनकी बगल में आकर खड़े हो गए थे।

‘भरत! राजसिंहासन रिक्त नहीं छोड़ा जा सकता। महाराज दशरथ के उपरांत अब तुम इस सिंहासन के अधिकारी हो। प्रथम मुहूर्त में ही तुम्हारा अभिषेक हो जाना चाहिए।’

‘आप कैसा अनीतिपूर्ण परामर्श दे रहे हैं गुरुदेव? आपने सोच भी कैसे लिया कि भरत अपने भाई के सिंहासन पर बैठने की सोच सकता है। इस सिंहासन के अधिकारी एकमात्र भ्राता राम हैं, उनके अतिरिक्त कोई दूसरा इस पर बैठने का साहस नहीं कर सकता।’

‘यह मैं नहीं कह रहा वत्स! यह तुम्हारे पिता द्वारा तुम्हारी माता को दिया गया वचन है। पिता के वचन का पालन करना तुम्हारा कर्तव्य है।’

‘नहीं गुरुदेव! यह मुझे किसी भी मूल्य पर स्वीकार्य नहीं है।’

‘सोच लो पुत्र! राम ने पिता के वचन की रक्षार्थ सहज वनगमन स्वीकार किया, अब तुम्हारा दायित्व है कि उनके दूसरे वचन की रक्षा तुम करो।’

‘नहीं गुरुदेव! मेरी माता ने मेरे प्रति मोह के वशीभूत होकर होकर पिताजी को विवश किया होगा ये अनीतिपूर्ण वचन प्रदान करने के लिए। वे स्वेच्छा से भ्राता राम के प्रति ऐसा अन्याय कदापि नहीं कर सकते थे।’

‘किन्तु वचन तो उन्होंने दिए ही थे। उनके वचनों की मर्यादा निभाना तुम्हारा दायित्व है।’

‘उन वचनों का परिणाम आप देख ही चुके हैं। अयोध्या ने अपना प्रजापालक नृप खो दिया है। यह ध्रुव सत्य है कि पिताजी ने भ्राता के वियोग में प्राण त्यागे हैं। मुझे अब ज्ञात है कि अंतिम समय में वे अपनी इस विवशता से कितने संतप्त थे! किस प्रकार बिलख रहे थे भ्राता के लिए! सत्य कहूँ तो पिताजी की मृत्यु नहीं हुई, उनकी हत्या हुई है। मेरी माता ने उनकी हत्या की है और कारण स्वरूप रहा हूँ स्वयं मैं! मैं तो वस्तुतः अपराधी हूँ पिताजी का भी, बड़े भाई का भी, भाभी का भी और लक्ष्मण का भी। सिंहासन स्वीकार कर मैं इस अपराध को और गुरुतर नहीं बना सकता।’

‘भरत! अभी तुम आघात से उबर नहीं पाए हो। धैर्यपूर्वक विचार करो, यह सोचो कि सिंहासन रिक्त नहीं रह सकता। राम इस दायित्व को स्वीकार करने हेतु उपलब्ध नहीं है। उसके बाद तुम्हीं इस सिंहासन के स्वाभाविक उत्तराधिकारी भी हो। चाहे वचन की रक्षार्थ स्वीकार करो अथवा परिस्थितियों की विवशता के अधीन स्वीकार करो, सिंहासन तो तुम्हें स्वीकार करना ही होगा। तुम ...!’

‘नहीं गुरुदेव! मुझे अपने आदेश की अवहेलना करने हेतु विवश मत कीजिए। जितनी बार आप मुझसे सिंहासन स्वीकार करने को कहेंगे मैं मना कर दूँगा। एक बार नहीं, सौ बार नहीं, सहस्रों बार नहीं; मेरा उत्तर सदैव यही रहेगा नहीं, यह नहीं हो सकता। अतः कृपाकर इस विषय को यहीं समाप्त कर दें।’

‘तब तुम्हीं सुझाओ कि उपाय क्या है? सिंहासन कदापि रिक्त नहीं रह सकता।’

‘भ्राता राम अयोध्या में नहीं हैं तो क्या हुआ, सिंहासन के अधिकारी वे हैं और वे ही रहेंगे। हम उन्हें, जहाँ भी वे होंगे, वहाँ से लिवाकर लायेंगे और उनकी धरोहर उन्हें सौंप देंगे।’

‘मुझे नहीं प्रतीत होता कि राम इसे स्वीकार करेगा।’

‘उन्हें करना ही होगा। हम सब यदि सम्मिलित प्रयास करेंगे तो उन्हें स्वीकार करना ही होगा। वचन मेरी माता ने माँगे थे ... भ्राता को आदेश भी, भले ही पिताजी की ओर से दिया था, किन्तु उन्होंने ही दिया था। जब वे स्वयं अपना आदेश वापस ले लेंगी तो उन्हें स्वीकार करना ही होगा।’

‘किन्तु क्या महारानी आदेश वापस लेंगी?’

‘उन्हें लेना ही पड़ेगा, यह भरत की प्रतिज्ञा है।’ भरत का स्वर अत्यंत दृढ़ था। उनकी आँखों में क्रोध और विश्वास का मिलाजुला भाव था।

गुरुदेव के समझाने का कोई निष्कर्ष नहीं निकला, दूसरे ही दिन विशाल सैन्य के साथ सबने राम को वापस लिवा लाने के लिए प्रस्थान कर दिया। तीनों रानियाँ भी

उनके साथ थीं। बड़ी संख्या में सामान्य नागरिक भी उत्साह से उनके साथ सम्मिलित हो गए थे। उनके मन में भरत को लेकर जो संदेह उत्पन्न हुआ था वह उनके इस निर्णय से मिट चुका था।

36- भरत चित्रकूट में

अगले दिन मध्याह्न में राम और लक्ष्मण कुटिया पर एकत्र हुए। आज भोजन में फल तो थे ही, साथ ही सीता ने नवनिर्मित चूल्हे पर कुछ पकाया भी था। यह कुछ वन्य-वनस्पतियों का बना सब्जीनुमा व्यंजन था। राम के साथ वे कल ही बस्ती से नमक, कुछ मसाले और कुछ अनाज ले आयी थीं। कुल मिलाकर सीता का प्रयोग स्वादिष्ट था। लाये गए अनाज को किसी भाँति कूट-पीस कर उस आटे की रोटियाँ भी बनायी थीं। तीनों ही व्यक्ति फलों के साथ उस भोजन को प्राप्त कर मन से तृप्त हुए थे।

भोजनोपरांत लक्ष्मण कुटिया से बाहर निकले तो उनके चौकन्ने कानों ने कुछ विशेष आहट अनुभव की। वे सजग हो गए और दौड़कर अपना धनुष और तूणीर धारण कर लिया।

थोड़ी ही देर में उन्हें दूर धूल सी उड़ती दिखाई दी, जैसे कोई चतुरंगिनी सेना चली आ रही हो। फिर कोलाहल भी सुनाई पड़ने लगा। अश्वों की टापें और हिनहिनाहट, बीच-बीच में हाथियों की चिंघाड़ ... निश्चित ही कोई सैन्य है। कहीं ये भरत ही तो नहीं आक्रमण करने आ रहे? अकस्मात उनके मन में विचार उपजा। यह विचार क्रोध बनकर उनकी रगों में प्रवाहित होने लगा। उनके नथुने फड़कने लगे।

लक्ष्मण जिस व्यग्र भाव से कुटिया में आए और शस्त्र धारण किए उसे राम ने भी लक्ष्य किया। लक्ष्मण के पीछे-पीछे वे भी बाहर निकल आए।

‘क्या बात है लक्ष्मण?’ राम ने अपने सदैव ही शांत रहने वाले स्वर में प्रश्न किया।

‘भ्राता! प्रतीत होता है भरत की लिप्सा अयोध्या का राज्य प्राप्त कर भी शांत नहीं हुई है। वह हम पर आक्रमण के उद्देश्य से यहाँ भी आ रहा है।’

राम ने स्पष्ट लक्ष्य किया कि लक्ष्मण के शब्दों में बड़े भाई के लिए अश्रद्धा का भाव है, उन्हें बुरा लगा। उन्होंने लक्ष्मण को समझाने का प्रयास किया-

‘अभी से तुम कैसे कह सकते हो कि वह भरत ही है? मान लो यदि वह भरत ही हो तो भी अभी यह कैसे कहा जा सकता है कि उसके आगमन का उद्देश्य किसी भी प्रकार से हमारा अहित करना ही है?’

‘आप तो भ्राता किसी के प्रति बुरा सोच ही नहीं सकते, तभी तो आपके प्रति लोग अन्याय कर जाते हैं और आप बिना किसी प्रतिरोध के उसे सहन भी कर लेते हैं। भला अब भरत के यहाँ आने का और क्या उद्देश्य हो सकता है? अयोध्या का राज्य तो उसे मिल ही चुका है। उसने सोचा होगा कि यदि आप जीवित रहे तो वनवास के

उपरांत राज्य पर अपना दावा प्रस्तुत कर सकते हैं तो क्यों न यह कंटक सदैव के लिए मिटा ही दिया जाए।' लक्ष्मण का आक्रोश थम ही नहीं रहा था।

‘कुछ भी हो, हम उसके आने की प्रतीक्षा करेंगे। हम अपनी ओर से वार कदापि नहीं करेंगे, यदि वह मित्रभाव से आया होगा तो हम उसका स्वागत करेंगे। मैं विश्वास नहीं कर सकता कि उसके मन में हमारे लिए शत्रु भाव भी जन्म ले सकता है, परंतु यदि दुर्भाग्य से ऐसा हुआ भी, तो हम समर्थ हैं।’

‘जी भ्राता, हम पूर्ण सक्षम हैं भरत के सम्पूर्ण सैन्य को पल भर में विनष्ट करने में, आप निश्चित रहें।’ लक्ष्मण ने विश्वास पूर्वक उत्तर दिया।

‘किंतु ध्यान रहे, भरत की ओर से कोई आक्रमण होने से पूर्व हम वार नहीं करेंगे।’

‘परंतु भ्राता, प्रथम वार का अवसर शत्रु को देना बहुधा अनिष्टकारी सिद्ध होता है।’

‘भरत हमारा भाई है, शत्रु नहीं। हम पहले वार नहीं करेंगे, यह मेरा आदेश है ... ध्यान रखना।’

लक्ष्मण को इस समय भरत की सदाशयता पर रत्ती भर विश्वास नहीं था किंतु राम के आदेश के सम्मुख विवश थे। वे चुपचाप आने वालों की प्रतीक्षा करने लगे। थोड़ी ही देर में ऊपर चढ़ती आकृतियाँ दिखाई देने लगीं। लक्ष्मण की मुट्ठी अपने धनुष पर कस चुकी थी। नेत्रों से चिंगारियाँ झरने लगी थीं। वे पूरी तरह किसी भी आक्रमण का उत्तर देने के लिए सन्नद्ध थे।

* * *

भरत को राम को खोजने में विशेष कठिनाई नहीं हुई थी। यद्यपि वे मार्ग में जहाँ भी पहुँचे थे, चाहे वह गुह हों अथवा महर्षि भरद्वाज, पहले सबने उनको संदेह की दृष्टि से ही देखा था और प्रतिरोध को उद्यत हुए थे, परंतु भरत की भाव-विह्वल अवस्था देखकर और गुरुदेव व माताओं के विश्वास दिलाने पर सबको भरत की सदाशयता पर विश्वास हो गया था और सभी राम के गन्तव्य के विषय में उनका मार्गदर्शन करते चले गए थे। ... अंततः वे चित्रकूट तक आ पहुँचे थे।

चित्रकूट पहुँच कर उन्होंने सैन्य को नीचे ही मन्दाकिनी के तट पर पड़ाव डालने का निर्देश दिया। यहाँ तक आने में कोई समस्या नहीं थी किंतु अब कठिनाई थी, इतने विस्तृत प्रदेश में भ्राता ने अपनी कुटिया कहाँ पर बनाई थी यह खोजना था। इस निर्जन प्रदेश में पूछा भी जाए तो किससे? वे विचार करने लगे कि क्या सेना को चारों ओर फैला दिया जाए भ्राता की खोज में? किंतु यदि दूर से भ्राता देखेंगे तो इससे उनके मन में आशंका ही उत्पन्न होगी। वे व्यर्थ ही दुःखी होंगे। भरत सोचने लगे कि क्या किया जाए।

उनके विपरीत शत्रुघ्न सोच-विचार में नहीं उलझे। वे दौड़कर एक ऊँचे वृक्ष पर चढ़ गए और चारों ओर दृष्टि दौड़ाने लगे। शत्रुघ्न को देखकर अनेक सैनिकों ने भी उनका अनुसरण किया और चारों ओर फैलकर वृक्षों पर चढ़कर राम की कुटिया की निश्चित स्थिति खोजने का प्रयास करने लगे। सुदूर क्षेत्र में बिखरे हुए कई आश्रम दिखाई पड़े। सैनिकों ने आकर बताया, यह भी असमंजस की स्थिति थी। तभी शत्रुघ्न, जो अब तक तीसरे वृक्ष पर चढ़ चुके थे प्रसन्नता से चिल्लाये-

‘वे रहे!’

‘किधर?’ भरत ने व्यग्रता से शत्रुघ्न की ओर बढ़ते हुए पूछा।

‘आइये। भ्राता और लक्ष्मण वहाँ कुटिया के बाहर खड़े इधर ही देख रहे हैं। संभवतः उन्हें हमारे आगमन का अनुमान लग चुका है।’ शत्रुघ्न अब तक पेड़ से नीचे कूद चुके थे।

सेना को वहीं प्रतीक्षा करने का आदेश दे दिया गया। गुरुदेव, माताओं और वयोवृद्ध आमाल्यों के लिए पालकियों की व्यवस्था की गयी, और भरत स्वयं माण्डवी, उर्मिला और श्रुतकीर्ति के साथ पदाति ही शत्रुघ्न के निर्देशन में आगे बढ़े।

* * *

दोनों भाइयों के मध्य हो रहे विवाद की ध्वनि सुनकर सीता भी बाहर आ गयीं। अब तक नीचे दूर तक फैला विशाल सैन्य स्पष्ट दिखाई पड़ने लगा था। सीता भी लक्ष्मण से सहमत थीं कि ये भरत ही हो सकते हैं किंतु भरत के यहाँ आने के उद्देश्य को लेकर वे असमंजस में थीं। थोड़ी देर में पहाड़ी पर चढ़ती आकृतियाँ स्पष्ट होने लगीं। थोड़ी सी ही आकृतियाँ थीं, उनमें कुछ पालकियाँ भी थीं। विस्तृत सैन्य द्वारा ऊपर चढ़ने जैसा कोई प्रयास नहीं दिखाई पड़ रहा था। राम शांत थे किंतु लक्ष्मण के होंठ आवेश में फड़क रहे थे। सीता का हृदय धड़क रहा था। हे प्रभु क्या होने वाला है, वे पुनः आँखें बन्द कर प्रभु का ध्यान करने लगीं। सुरक्षा के लिए मनौतियाँ माँगने लगीं।

कुछ ही समय में आकृतियाँ और स्पष्ट हो गयीं। तभी दूसरे क्रम पर चल रही आकृति ने अचानक भागना आरम्भ कर दिया। जो आकृति अभी तक सबसे आगे थी, वह भी उसके पीछे-पीछे भागी। दोनों आकृतियाँ अब स्पष्ट पहचान में आ रही थीं, आगे-आगे भरत थे और उनके पीछे शत्रुघ्न।

भरत दौड़ते हुए आए और राम के चरणों में लेट गए। उनके अश्रु राम के चरणों को भिगोने लगे। राम पूरा प्रयास कर रहे थे उन्हें उठाने का लेकिन भरत उनके चरण छोड़ने को तैयार ही नहीं थे।

शत्रुघ्न ने भी झुक कर तीनों के चरण स्पर्श किए और गीली आँखें लिए, सिर झुकाए खड़े हो गए। लक्ष्मण की अपने धनुष पर कसी मुठियाँ ढीली पड़ गयीं। भरत के

विषय में उनका अनुमान सचमुच मिथ्या सिद्ध हुआ दिख रहा था।

थोड़ी ही देर में शेष लोग भी आ गए। कहारों ने पालकियाँ नीचे रख दीं। सबसे पहले पालकी से गुरुदेव बाहर निकले, फिर मातायें और अन्य आमात्यगण।

गुरुदेव को देखते ही राम ने बलात भरत को खींचा और बोले-

‘अब उठो भी भरत, मुझे गुरुदेव को प्रणाम करने दो। क्या तुम चाहोगे कि राम से गुरुदेव के प्रति धृष्टता हो?’

‘कैसे उठूँ भ्राता, कैसे अपना अपराधी मुख दिखाऊँ आपको?’ भरत ने रूँधे हुए गले से किसी प्रकार उत्तर दिया।

‘उठना तो पड़ेगा ही। तुम जब तक मुझे नहीं छोड़ोगे मैं अपने गुरुजनों का समुचित सम्मान कैसे कर पाऊँगा? कैसे उनका आशीष ले पाऊँगा?’

‘लीजिए, भरत आपके कर्तव्यपालन में बाधा कदापि नहीं बनेगा।’ कहते हुए भरत ने राम के पैर छोड़ दिए किंतु उठने का कोई उपक्रम नहीं किया। राम ने भी तत्काल उन्हें उठाने का प्रयास नहीं किया। वे सोच रहे थे कि कुछ देर रो लेने के बाद जब भरत स्वयं पर नियंत्रण प्राप्त कर लेंगे तभी बात करना उचित होगा।

राम, सीता और लक्ष्मण ने सबसे पहले गुरुदेव और तत्पश्चात् अन्य सभी गुरुचनों का चरण-वंदन किया। प्रणाम-निवेदन के उपरांत सभी वहीं भूमि पर ही बैठ गए, और कोई व्यवस्था थी ही नहीं। लक्ष्मण घट लेकर जल लेने चल दिए तो शत्रुघ्न ने उनसे घट ले लिया-

‘आज यह कार्य अपने इस निकम्मे भाई को करने दें।’ वे मुस्कुराते हुए बोले। लक्ष्मण ने भी मुस्कुराते हुए उन्हें घट दे दिया और स्वयं भी उनके साथ बढ़ लिए।

शेष सभी भरत की ओर आकृष्ट हुए। भरत की दशा देखकर सभी द्रवित हो रहे थे। कौशल्या और सुमित्रा के नेत्रों से भी अश्रुधारा प्रवाहित थी। मात्र कैकेयी ही शिलावत् पूर्णतः शांत सिर झुकाए बैठी थी।

‘उठो भरत! स्वयं को शांत करो। देखो तुम्हारे कारण सभी विह्वल हो रहे हैं।’ राम ने भरत को उठाने का प्रयास करते हुए कहा।

‘किंतु कैसे उठूँ। मेरा शीश उठने का साहस ही नहीं कर पा रहा।’

‘क्या बालकों जैसी बात कर रहे हो तुम भी? भला ऐसा क्या हुआ जो तुम स्वयं पर इतने लज्जित हो?’

‘मेरे कारण आपको अपने अधिकार से वंचित होना पड़ा। मेरे कारण आपको इस प्रकार दीन-हीन अवस्था में वन में निवास करना पड़ रहा है। मेरे ही कारण ...’

‘तुम्हारे कारण कुछ नहीं है। व्यर्थ स्वयं को दोष मत दो। नियति हम सब के लिए कुछ विशेष कर्तव्य निर्धारित करती है और वे हमें करने ही होते हैं। मैं अपना कर्तव्य

कर रहा हूँ, तुम अपना कर्तव्य करो।’

‘वही तो कर रहा हूँ भ्राता। पिताजी के उपरांत अयोध्या के राज्य’

राम ने भरत की बात बीच में ही काट दी-

‘पिताजी के उपरांत ... क्या तात्पर्य है तुम्हारा?’

भरत जो पहले से ही रो रहे थे, अब बिलखने लगे। वे कोई उत्तर देने की स्थिति में ही नहीं थे।

‘उत्तर क्यों नहीं देते भरत?’ राम पुनः बोले- ‘पिताजी स्वस्थ तो हैं, यहाँ सभी दिखाई पड़ रहे हैं, मात्र वे ही नहीं हैं?’

भरत बिलखते ही रहे, उत्तर वशिष्ठ ने दिया-

‘तुम्हारे वनगमन के तीसरे दिन महाराज ने तुम्हारे वियोग में प्राण त्याग दिये।’

‘क्या???’ राम, सीता, लक्ष्मण तीनों के ही मुख से अविश्वास भरे स्वर में निकल पड़ा।

लक्ष्मण और शत्रुघ्न भी अब तक जल लेकर लौट चुके थे।

राम विह्वल होकर एकाएक बैठ गए। फिर थोड़ा संयत होकर भरे गले से बोले-

‘गुरुदेव क्षमा करें, किंतु इस समय मेरा प्रथम कर्तव्य पिताजी को जलांजलि और पिण्डदान करना है। उन्हें मुखाग्नि देने के कर्तव्य का तो निर्वहन मैं नहीं कर सका किंतु यह तो कर ही सकता हूँ।’

गुरुदेव ने सहमति में सिर हिलाया तो राम पुनः लक्ष्मण से सम्बोधित हुए- ‘लक्ष्मण तनिक इंगुदी के फल और बेरों की व्यवस्था करो, उसी से हम पिण्डदान करेंगे। जिसका आहार हम स्वयं करते हैं, वही पितरों को भी समर्पित कर सकते हैं।’

थोड़ी ही देर में लक्ष्मण और शत्रुघ्न दोनों प्रकार के फल लेकर आ गए। वे थोड़े से कुश भी साथ में ले आए थे। उतनी देर राम पिता के अंत समय में उनकी सेवा न कर पाने का शोक करते रहे।

राम, सीता और लक्ष्मण दशरथ को जलांजलि देने के लिए मंदाकिनी की ओर बढ़ चले। शेष सबने भी उनका अनुकरण किया।

नदी में मध्यधारा में उतरकर, दक्षिणमुख होकर दोनों भाइयों ने पिता को जलांजलि दी और फिर तट पर आकर कुश बिछाकर इंगुदी के फल के गूदे में बेर मिलाकर उसके पिण्ड बनाए और पिता के लिए स्वर्ग की कामना करते हुए पिण्डदान सम्पन्न किया।

थोड़ी देर सब शांत रहे, फिर वशिष्ठ ने ही पुनः वार्तालाप का सूत्र सँभाला-

‘राम! महाराज के निधन के उपरांत अभी तक अयोध्या का राजसिंहासन रिक्त है। यह निस्संदेह एक दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति है। राजसिंहासन को रिक्त नहीं छोड़ा जा

सकता।’

‘किंतु सिंहासन रिक्त क्यों है गुरुदेव? भरत का राज्याभिषेक तो पूर्व में ही निश्चित हो चुका था!’

‘नहीं भ्राता! भरत पहले ही अक्षम्य अपराध कर चुका है। अब एक और अपराध का बोझ वह नहीं सह सकता। आपके सिंहासन पर बैठने की धृष्टता वह नहीं कर सकता।’ भरत ने आर्द्र स्वर में कहा।

‘क्यों अकारण अपनी आत्मा पर बोझ लाद रहे हो भरत? नियति ने तुम्हें अयोध्या के शासन का दायित्व सौंपा है, उसे तुम्हें स्वीकार करना ही पड़ेगा, यही तुम्हारा कर्तव्य है। उठो, इस मलिन मनस्थिति से बाहर आकर अपना दायित्व स्वीकार करो।’

‘नहीं भ्राता, कदापि नहीं। भरत का प्रण है कि उस सिंहासन पर आपके अतिरिक्त अन्य कोई भी नहीं बैठ सकता। आप ही चलकर अपने सिंहासन को सनाथ कीजिए।’

‘यह किस भाँति संभव है? पिता ने दो वचन दिए थे माता को, हम दोनों को उनमें से एक-एक की रक्षा करनी है। मेरे लिए पिता का आदेश चौदह वर्ष का वनवास है, मैं उनके कथन को मिथ्या नहीं होने दे सकता। तुम्हारे लिए उनका आदेश अयोध्या का शासन सँभालना है, तुम उसका पालन करो।’

‘नहीं भ्राता! अयोध्या का राजसिंहासन आपका है और आपका ही रहेगा। उस पर बैठने की अनधिकार चेष्टा मैं कदापि नहीं कर सकता। इस संबंध में मैं किसी भी परिस्थिति में, किसी का भी परामर्श ... किसी का भी आदेश स्वीकार करने हेतु प्रस्तुत नहीं हूँ।’

‘क्या तुम पिता का वचन मिथ्या कर दोगे? क्या तुम रघुकुल की रीति को कलंकित कर दोगे?’

‘पिता से वचन इस स्वार्थी स्त्री ने दुष्टतापूर्वक’

‘भरत!’ राम ने भरत को आगे नहीं बोलने दिया। उनका स्वर एकाएक तीव्र हो उठा। उनके अविचलित मुख पर एकाएक क्रोधावेश झलक उठा - ‘तुम मर्यादा का उल्लंघन कर रहे हो। माता के प्रति अपशब्दों का प्रयोग करने से पूर्व तुम्हारी जिह्वा कटकर गिर क्यों नहीं गयी?’

‘यही सत्य है भ्राता।’ भरत ने किसी प्रकार कहा।

‘यह सत्य नहीं है।’ राम का आवेश कम नहीं हुआ था- ‘माता यदि पुत्र के लिए कभी कठोर निर्णय भी लेती है तो वस्तुतः उसमें पुत्र का हित ही अन्तर्निहित होता है। माता ने मुझे अपने जीवन का उद्देश्य पहचानने का अवसर प्रदान किया है। माता ने

मुझे दण्डकारण्य जाकर उस अज्ञात-अनजाने क्षेत्र के व्यक्तियों को समझने और उनकी कठिनाइयों को पहचानने का अवसर दिया है। यह निस्संदेह माता का उपकार है राम पर।’

कहते हुए राम बढ़े और कैकेयी के चरणों में झुकते हुए बोले-

‘माता! अपने भाई से नादानी में हुए अपराध की क्षमा राम माँगता है आपसे।’

मौन, सिर झुकाए शिलावत बैठी कैकेयी की दृष्टि एकाएक उठी। उसकी सूखी आँखें ने एकाएक बरसना आरम्भ कर दिया। उससे रहा नहीं गया, उसने राम को खींच कर अपने सीने से चिपटा लिया।

कभी विचलित न होने वाले गुरुदेव ने भी पीछे घूमकर अपनी आँखों की गीली होती कोरें छुपा लीं। कौशल्या और सुमित्रा के अश्रु तो अवरोध तोड़ कर बह ही पड़े। जाबालि को छोड़कर अन्य आमात्यगण विस्मित थे कि राम इस स्थिति में भी’

कैकेयी से छूटकर राम पुनः भरत के पास आए और स्नेह से उन्हें उठाते हुए बोले-

‘भरत! अयोध्या निश्चित ही धन्य होगी तुम्हारे जैसा सुयोग्य शासक प्राप्त कर। तुम निस्संदेह शासनकार्य में राम से श्रेष्ठ सिद्ध होगे। उठो और अपने कर्तव्य का निर्वहन करो।... परंतु ध्यान रहे, दुबारा माता का अनादर राम को सह्य नहीं होगा।’

‘आपका आदेश सिर-माथे।’ कहते हुए भरत भी उठे और कैकेयी के चरणों में सिर रख कर क्षमा-याचना की। फिर आगे बोले- ‘किंतु अयोध्या के सिंहासन पर बैठने का आदेश मैं स्वीकार नहीं कर सकता। वह आपका है और आपका ही रहेगा।’

‘तुम्हारे ऐसा करने से पिताजी अकारण ही वचन-भंग के दोषी बन जायेंगे, तुम अकारण ही उनके लिए नर्क का द्वार खोल दोगे।’ राम के इस कथन ने भरत को कुछ पल के लिए निरुत्तर कर दिया।

जाबालि जानते थे कि नियति का निर्णय यही है कि राम वापस नहीं लौटेंगे, उनका तो जन्म ही रक्ष-संस्कृति के समूल नाश के लिए हुआ है। उन्हें बोलने की कोई आवश्यकता नहीं थी। किंतु नियति का खेल, भरत को निरुत्तर देख वे बोल पड़े-

‘कुमार! स्वर्ग-नर्क मानव की कल्पना भर हैं। इनकी अवधारणा मनुष्य को श्रेष्ठ कर्मों में प्रवृत्त करने के लिए ही की गई है। अतः यदि लोकहित वचन की अवहेलना की अपेक्षा करता है तो वह करणीय है। तुम्हारा राज्याभिषेक लोकहित की माँग है अतः तुम्हें भरत का अनुरोध स्वीकार करना चाहिए। ऐसा करना कदापि स्वर्गीय महाराज के नरकगामी होने का कारण नहीं बनेगा, क्योंकि न तो स्वर्ग और नर्क का कोई अस्तित्व है और न ही अब महाराज का हमारी कल्पना के अतिरिक्त अन्य कहीं अस्तित्व है।’

राम की धर्म, परम्पराओं ब्राह्मणों और गुरुजनों पर अगाध आस्था थी। इनका विरोध उन्हें सह्य नहीं होता था। वे किसी के प्रति अप्रिय नहीं बोलते थे किंतु जाबालि द्वारा इस प्रकार धर्म और परंपराओं के विरोध में कहे गए शब्दों ने उन्हें आवेश में ला दिया। उनका सदैव शांत रहने वाला स्वर आक्रोश से भर उठा-

‘अर्थात् अभी मैंने जो पिण्डदान किया पिताजी के लिए वह एक व्यर्थ का आयोजन था। हमारी सनातन परम्परा व्यर्थ के आडम्बर को पोषित करती है?’

‘कुमार! भले ही ये परम्परायें व्यक्ति को सन्मार्ग पर चलने हेतु प्रेरित करने हेतु बनाई गयी हों किंतु वस्तुस्थिति तो यही है कि ये आडम्बर मात्र हैं। इस जन्म के अतिरिक्त अन्य कोई जन्म नहीं होता। इस योनि के अतिरिक्त कोई अन्य योनि नहीं होती। चिता में भस्म होने के उपरांत प्राणी का कोई अस्तित्व अवशेष ही नहीं रहता जो इन सबको ग्रहण कर सके। यदि मृतात्मा इस प्रकार इन सामग्रियों को ग्रहण कर सकती तो ...’

जाबालि के तर्क ने राम के आवेश को तीव्रतर कर दिया। उन्होंने भरसक स्वयं को शांत रखने का प्रयास किया किंतु सफल नहीं हो पाए। वे लगभग चीख ही पड़े-

‘बस कीजिए महामात्य! आपकी बातें नास्तिक मत का समर्थन कर रही हैं। मेरे विचार से तो नास्तिकों को भी अन्य अपराधियों की भाँति ही दण्डित करना योग्य है। आप ब्राह्मण हैं अतः पूज्य हैं किंतु आपके विचार ब्राह्मणत्व के सर्वथा विपरीत हैं। न जाने क्यों पिताजी आपकी बातों को सदैव इतना महत्व देते रहे?’

राम अभी और भी कुछ कहते किंतु वशिष्ठ ने उन्हें सँभाल लिया-

‘राम, शान्त हो जाओ! महामात्य का उद्देश्य परंपराओं का खंडन कदापि नहीं था। वे मात्र तुम्हारे हितचिंतक हैं इसीलिए उन्होंने ऐसा कहा।’

‘किंतु गुरुदेव ...’

‘कोई किंतु-परंतु नहीं। अभी महत्वपूर्ण प्रश्न अयोध्या के राजसिंहासन की रिक्तता है। सिंहासन रिक्त नहीं रह सकता। शेष समस्त विषयों पर फिर कभी विचार कर लेंगे।’ गुरुदेव ने राम को अपने आदेश से बाँध दिया।

‘आप स्वयं निर्णय कीजिए गुरुदेव कि मैं किस भाँति पिता के वचनों को मिथ्या कर भरत का और आप सबका आग्रह स्वीकार कर सकता हूँ?’

बड़ी देर तक इस पर चर्चा होती रही। न भरत सिंहासन स्वीकार करने को तत्पर थे और न ही राम। कैकेयी का आग्रह भी राम ने अस्वीकार कर दिया। ... कोई निष्कर्ष ही नहीं निकल रहा था। अंततः भरत ने एक मध्यमार्ग खोज निकाला। वे बोले-

‘यदि आपका यही दृढ़ निश्चय है तो कृपापूर्वक मुझे अपनी पादुकायें प्रदान कीजिए। चौदह वर्षों तक आपकी पादुकायें ही अयोध्या के राजसिंहासन की शोभा बढ़ायेगी।’

‘किंतु भरत! हम तो नंगे पाँव हैं, हमारे पास पादुकायें हैं ही कहाँ तुम्हें प्रदान करने हेतु!’ कहते हुए राम मुस्कुरा उठे।

‘वह कोई समस्या नहीं है भ्राता।’ भरत ने कहा। फिर शत्रुघ्न की ओर उन्मुख हुए- ‘शत्रुघ्न व्यवस्था करो। साथ आए सैनिकों में अनेक काष्ठकर्म में निपुण होंगे और वन में काष्ठ तो प्रचुर उपलब्ध है ही। भले ही वे सैनिक एतत्संबंधी उपकरण साथ नहीं लाए होंगे किंतु जो भी उपकरण सैन्य के साथ हैं उनसे भी वे सुन्दर सी नवीन पादुकायें निर्मित करने में सक्षम होंगे।’

शत्रुघ्न और उनके साथ लक्ष्मण भी दौड़ते हुए नीचे उतर गए।

राम मुस्कुरा उठे। राम अपने पीछे अयोध्या में घटित घटनाओं का विस्तृत विवरण लेने लगे। अयोध्या से आए गुरुजन इन लोगों के कुशलक्षेम पूछने लगे। सभी के पास इतनी सामग्री थी पूछने-बताने के लिए कि समय का पता नहीं नहीं चला।

कुशलक्षेम के आदान-प्रदान का यह क्रम तब टूटा जब शत्रुघ्न और लक्ष्मण नवीन पादुकायें लेकर आ गए। पादुकायें देख कर प्रतीत ही नहीं होता था कि वे एकाएक कामचलाऊ औजारों से गढ़ी गयी हैं। वस्तुतः ऐसा था भी नहीं, सैन्य दल सदैव आवश्यकता के समस्त उपकरण साथ लेकर ही चलता था, उसके पास आवश्यक सभी उपकरण थे। पादुकाओं पर जड़ने के लिए शत्रुघ्न के पास आभूषणों की कमी नहीं थी। फिर अपने प्रिय राम के लिए पादुकायें निर्मित करनी थीं, कर्मियों ने अपनी सम्पूर्ण निपुणता का प्रदर्शन किया था।

शत्रुघ्न ने लाकर पादुकायें भरत को थमा दीं। भरत ने वे राम के पैरों के पास रख दीं-

‘लीजिए भ्राता, इन्हें धारण कीजिए।’

‘राम ने पादुकायें पहन लीं ... और फिर उतार भी दीं।

भरत ने उन्हें आदर से उठाकर माथे से लगाया और फिर अपने सिर पर रख लिया।

‘भ्राता, चौदह वर्षों तक आपकी ये पादुकायें ही अयोध्या पर शासन करेंगी। मैं भी आपके समान ही सन्यासी वेश में जटा-जूट धारण कर चौदह वर्षों तक नगर से बाहर नन्दीग्राम में रहकर इन पादुकाओं की सेवा करूँगा। किंतु भरत की यह प्रतिज्ञा भी सदैव स्मरण रखियेगा कि यदि चौदह वर्षों की अवधि व्यतीत होने के उपरांत प्रथम

दिवस ही आपने मुझे अपने दर्शन नहीं दिए तो आपके चरणों की सौगंध भरत वह दिवस व्यतीत होते-होते अग्नि-प्रवेश कर लेगा।’

भरत की प्रतिज्ञा सुनकर सब अवाक् रह गए। कोई अन्य मार्ग नहीं था, राम ने भरत का यह आग्रह स्वीकार किया-

‘तुम्हारा आग्रह राम को स्वीकार है किंतु एक आदेश अथवा आग्रह जो भी मानो, मेरा भी है- भविष्य में कभी भी मँझली माँ का अपमान न होने पाये। उनका जो सम्मान पिताजी के समय में था, वही सम्मान उन्हें सदैव मिलता रहे।’

भरत ने राम का आदेश स्वीकार किया। तदुपरांत विदा की औपचारिकतायें हुयीं और भरत राम की पादुकाओं को सेना के साथ आए सर्वोत्तम गजराज के मस्तक पर स्थापित कर, चौदह वर्षों तक राम की प्रतीक्षा करने के लिए अयोध्या वापस लौट गए।

* * *

राम जिन्होंने अपने सम्पूर्ण जीवन में अपनी वाणी से किसी को आहत नहीं किया, आज उन्होंने अनजाने ही दशरथ के आमात्य-मंडल के सर्वश्रेष्ठ रत्न, महामात्य जाबालि के हृदय को गंभीर आघात दे दिया था। जाबालि को अपार कष्ट था, उनसे कभी इस स्वर में तो स्वयं स्वर्गीय महाराज ने भी बात नहीं की थी, जो कि अपनी युवावस्था में अपने उद्धत स्वभाव के लिए प्रसिद्ध थे; फिर राम तो बाल्यकाल से ही अपने मर्यादित स्वभाव के लिए प्रशंसित होता रहा था, उसने ... उसने ...

37- संग्राम के पथ पर

‘ऋषिवर! हमसे किसी प्रकार मर्यादा का उल्लंघन हुआ है क्या?’ चित्रकूट आश्रम के वयोवृद्ध कुलपति वाल्मीकि को विधिवत प्रणाम निवेदन और आशीर्वाद प्राप्त करने के उपरांत राम ने हाथ जोड़कर पास ही एक कुशासन पर बैठते हुए जिज्ञासा प्रकट की।

ऋषि आश्रम में अपनी चारपाई पर लेटे हुए थे। उन्होंने उठते हुए कहा-

‘आप ऐसा क्यों कह रहे हैं राम? आप तो मर्यादा की साक्षात् प्रतिमूर्ति हैं, आपसे मर्यादा का उल्लंघन संभव ही नहीं है।’

‘फिर जाने-अनजाने अन्य कोई अपराध हुआ है मुझसे?’

‘नहीं, ऐसी भी कोई बात नहीं है।’

‘मैंने नहीं तो अनजाने में सीता अथवा लक्ष्मण ने कोई अपराध किया हो, अथवा किसी प्रकार से किसी आश्रमवासी की भावनाओं को आहत किया हो?’

‘राम, मुझे समझ में नहीं आ रहा कि आप बारम्बार यह प्रश्न क्यों कर रहे हैं? मैंने कहा तो कि आपसे अथवा सीता अथवा लक्ष्मण से ऐसे किसी आचरण की अपेक्षा की ही नहीं जा सकती। आप व्यर्थ चिंता कर रहे हैं।’

‘कुछ तो है ऋषिवर, विगत कुछ दिनों से हम आश्रमवासियों के व्यवहार में परिवर्तन का अनुभव कर रहे हैं। वही आश्रमवासी जो अभी तक हमसे उत्साहपूर्वक मिलते थे, अब हमसे कतराकर निकलने का प्रयास करते हैं। ... और ऐसा मैंने ही अनुभव नहीं किया सीता और लक्ष्मण का भी यही अनुभव है। वे भी मेरे ही समान आश्रमवासियों के इस अनपेक्षित व्यवहार से विस्मित हैं और इसका कारण खोजने का प्रयास कर रहे हैं।’

राम के साथ ही खड़े लक्ष्मण ने भी सिर हिलाकर राम के कथन से सहमति जताई।

कुलपति कुछ देर सोचते रहे, फिर कुछ झिझकते हुए बोले-

‘राम! मेरे कथन को अन्यथा न लेना। यह सत्य है कि आपमें से किसी से भी कोई ऐसा कार्य नहीं हुआ है जिससे किसी भी आश्रमवासी को कोई क्लेश पहुँचा हो। किंतु यह भी सत्य है कि आपकी उपस्थिति से आश्रमवासी सशंकित हैं और किसी सीमा तक भयभीत भी हैं।’

‘यही तो हमें जिज्ञासा है कि उनकी इस अकारण शंका का कारण क्या है? यदि हमसे कोई अपराध नहीं हुआ, हमने उनका कोई अपमान भी नहीं किया, तो फिर वे क्यों सशंकित और भयभीत हैं?’

‘राम! आश्रमवासी शांतिप्रिय प्राणी हैं। वे दीर्घकाल से यहाँ इस आश्रम में शांतिपूर्वक तपश्चर्या में लीन थे। आप लोगों के आगमन से वे प्रसन्न ही थे, सत्पुरुषों के सान्निध्य से भला किसे प्रसन्नता नहीं होती!’

‘फिर उनकी उद्विग्नता का क्या कारण है ऋषिवर?’ लक्ष्मण बोले। उनकी उत्सुकता बढ़ती जा रही थी और कुलपति शब्दाडंबर में उलझे थे।

‘वत्स, जनस्थान भले ही यहाँ से बहुत दूर है। वहाँ के रक्ष सामान्यतः यहाँ उपद्रव करने नहीं आते किंतु यह स्थान उनकी पहुँच से बाहर भी नहीं है। यहाँ हमें किसी प्रतापी आर्य-नृप की छत्रछाया भी उपलब्ध नहीं है। उपलब्ध हो भी तो रक्षपति दशानन रावण का सामना करने का साहस किसी आर्य-नृप में नहीं है।’ कहकर कुलपति ने एक दीर्घ निःश्वास ली।

‘आप ने ही कहा ऋषिवर कि सामान्यतः रक्ष इस क्षेत्र में नहीं आते, फिर अकारण उनका भय क्यों उत्पन्न हो गया है ऋषिगणों को? यदि रक्ष आ भी जाते हैं तो हम हैं न आपकी रक्षा हेतु।’

ऋषि कुछ बोले नहीं किंतु उनके मुख पर एक पल के लिए उतरी मुस्कुराहट स्पष्ट कह रही थी कि उन्होंने लक्ष्मण के आश्वासन को बचकानी बात से अधिक महत्व नहीं दिया है। कुछ देर सोचने के उपरांत वे बोले-

‘अभी तक इस स्थान का जनस्थान के अधिपति खर-दूषण के लिए कोई महत्व नहीं था। वे हम लोगों की यहाँ उपस्थिति पर कोई ध्यान नहीं देते थे अतः यह स्थान हमारे लिए निरापद था। परंतु इतने विशाल दल-बल के साथ भरत का आगमन निश्चय ही उनकी दृष्टि में भी आया होगा। अब वे अवश्य इस ओर आकृष्ट होंगे। और यही संभावना ऋषियों के भय का कारण है।’

‘तो आने दीजिए न उन्हें। हम दोनों भाई पर्याप्त समर्थ हैं उन्हें उत्तर देने हेतु। आप रत्तीभर चिंता न करें।’

‘हमें ज्ञात है कि तुम दोनों भाई वीर हो, इक्ष्वाकु कुल के आभूषण हो किंतु तुम मात्र दो हो जबकि रक्षों के पास विशाल सैन्य है। ... और खर-दूषण स्वयं भी कम शक्तिशाली नहीं हैं।’

‘कितने भी शक्तिशाली क्यों न हों वे, हम उनसे आपकी सुरक्षा करने में सक्षम हैं।’ लक्ष्मण ने पूर्ण आत्मविश्वास से कुलपति को आश्वस्त करना चाहा।

‘नहीं लक्ष्मण, तुम्हें अभी उनकी क्षमता का ज्ञान नहीं है इसीलिए ऐसा कह रहे हो। शांतिप्रिय आश्रमवासी किसी द्वन्द्व को आमंत्रित करना नहीं चाहते। युद्ध में कोई भी विजयी हो, दोनों ही पक्षों से अनेक निरपराध हताहत होते हैं, हम नहीं चाहते कि व्यर्थ किसी के भी प्राणों की हानि हो।’

‘कुछ भी नहीं होगा ऋषिवर, हम वचन देते हैं।’ लक्ष्मण ने पुनः प्रयास किया।

‘नहीं लक्ष्मण। एक बार मान लिया कि तुम खर-दूषण की अग्रिम पंक्ति को परास्त कर दोगे। किंतु उसके बाद एक अंतहीन सिलसिला आरंभ हो जाएगा। एक दल को तुम परास्त करोगे तो दूसरा आ जाएगा। वानरराज बालि रावण का मित्र है। उसकी सामर्थ्य किसी से छिपी नहीं है। और फिर लंका में स्वयं रावण बैठा ही है। अपने किसी सैन्यदल की पराजय त्रिलोक विजयी रावण के लिये किसी चुनौती के समान होगी। वह ऐसे किसी दुस्साहस को कदापि सहन नहीं करेगा। वह चुनौती देने वाले को समूल नष्ट करके ही मानेगा और इस सब में हम निरीह आश्रमवासी अकारण पिस जायेंगे।’

जब किसी प्रकार समझाने का कुलपति पर कोई असर नहीं हुआ तो अंततः राम ने पूछा-

‘तो फिर आपने क्या निर्णय लिया है?’

‘ऋषियों का विचार है कि हमें यह स्थान त्यागकर किसी अन्य निरापद स्थान पर अपना आश्रम स्थापित करना चाहिए। हम शीघ्र ही यहाँ से अन्यत्र के लिए प्रस्थान करेंगे।’

‘आप लोग अपना आश्रम क्यों छोड़ेंगे? संकट हमारे कारण उत्पन्न हुआ है, हम ही यहाँ से कहीं अन्यत्र चले जायेंगे।’ राम ने समाधान प्रस्तुत किया।

‘कोई लाभ नहीं होगा उससे।’ वाल्मीकि सिर हिलाते हुए बोले। वे इस समाधान से सहमत नहीं थे।

‘क्यों, संकट का कारण तो हम लोग ही हैं, जब हम ही यहाँ से चले जायेंगे तो ...’

‘संकट तुम्हारे कारण नहीं है राम! संकट तो भरत के साथ आए उस विशाल सैन्य के कारण है। खर-दूषण के चरों की दृष्टि से वह सैन्य कदापि छुपा नहीं रहा होगा। वे लोग अब उसके आगमन के विषय में छानबीन करेंगे। मैं मानता हूँ कि भरत का आगमन मात्र तुम्हें मनाने के लिए था किंतु इससे क्या अन्तर पड़ता है! दण्डकारण्य के राक्षस स्वभाव से ही उपद्रवी हैं, वे भरत के आगमन का कारण जानने के लिए हम लोगों पर अत्याचार करेंगे। वे हमारे इस कथन को स्वीकार नहीं करेंगे कि भरत यहाँ उनके विरुद्ध किसी उद्देश्य से नहीं आए थे। वे तो उनके आगमन को अपने विरुद्ध किसी अभियान की रूपरेखा ही मानेंगे और हमसे बलात उस विषय में जानना चाहेंगे। तुम यहाँ रहो अथवा चले जाओ वे हम पर अवश्य अत्याचार करेंगे। अतः उनके आने से पूर्व ही हमारा यहाँ से किसी निरापद स्थान पर चला जाना श्रेयस्कर है।’

कुलपति कुछ देर विचार करते रहे, संभवतः सोच रहे थे कि अपने मन की बात राम से कहें अथवा न कहें। अंततः उन्होंने कहने का ही निर्णय लिया-

‘मैं तो तुम तीनों को भी यही परामर्श दूँगा कि तुम भी यहाँ से अन्यत्र कहीं चले जाओ और शांतिपूर्वक अपने वनवास का समय व्यतीत करो।’

‘ऋषिवर! हम तो स्वयं ही यहाँ से प्रस्थान करने का निर्णय कर चुके थे। यदि भरत का आगमन न हुआ होता तो तभी हम आगे बढ़ भी गए होते, किंतु अब हम कहीं नहीं जायेंगे। यहीं रुककर राक्षसों के आक्रमण की प्रतीक्षा करेंगे। हम राक्षसों से भयभीत होने वाले नहीं हैं, यदि वे हम पर आक्रमण करते हैं तो हम उनका प्रत्युत्तर देने में पूर्ण सक्षम हैं।’ राम ने दृढ़ता पूर्वक कहा।

* * *

दूसरे दिन ही वह आश्रम उजाड़ हो गया। मात्र कुछ युवा ऋषि जो लक्ष्मण के मित्र बन चुके थे और उनकी सामर्थ्य से परिचित हो चुके थे, ही रुके रहे। शेष सारे आश्रमवासी अपनी गौवों और थोड़े-बहुत सामान के साथ वहाँ से प्रस्थान कर गए।

अन्य ऋषिगण तो निश्चित ही भयभीत थे किंतु स्वयं वाल्मीकि पता नहीं भयभीत थे, अथवा उनकी भविष्यदर्शी अन्तर्दृष्टि ने उनके समक्ष उनकी भावी भूमिका अभी से स्पष्ट कर दी थी। भविष्य में उन्हें सीता को आश्रय देना था, लव-कुश को संरक्षण देना था और इसके लिए उन्हें अयोध्या के निकट उपस्थित रहना ही था। क्या पता भविष्य की अपनी भूमिका के सम्यक् निर्वहन हेतु ही उन्होंने अभी से गंगा और तमसा के संगम-तट पर अपना आश्रम स्थापित करने का निश्चय कर लिया हो।

उन सबके जाने के उपरांत ये लोग भी कुछ दिवस तक रक्षों के आगमन की प्रतीक्षा करते रहे किंतु कोई आक्रमण नहीं हुआ।

लक्ष्मण इस नीरस जीवन से दो-तीन दिन में ही उकता गए। वन-प्रांतों में विचरण था, ग्रामीण जीवन के उन्मुक्त खिलवाड़ थे किंतु उन्हें प्रतीत हो रहा था कि यह तो उनका उद्देश्य नहीं है। वे तो रक्षों से मुठभेड़ हेतु प्रतीक्षारत थे। अंततः उन्होंने अपने मन की बात राम से कह ही डाली-

‘भ्राता, क्या हम निरुद्देश्य इस निर्जन आश्रम में निवास करते रहेंगे? रक्षों के दर्शन की यहाँ तो कोई सम्भावना प्रतीत नहीं होती।’

‘मेरा भी यही विचार है।’ राम ने भी सहमति दी।

‘तो फिर आगे क्यों न बढ़ा जाए? समय नष्ट करने से क्या लाभ!’

‘तुम्हारा क्या विचार है सीता?’ राम ने सीता से भी परामर्श लेना उचित समझा।

‘जो आप दोनों का विचार है, जब हमारा गन्तव्य दण्डकारण्य है तो रक्षों के यहाँ आगमन की प्रतीक्षा करने से क्या लाभ?’

‘उचित है, तो कल ही हम लोग आगे बढ़ते हैं। किंतु प्रस्थान से पूर्व, जो ऋषिगण हमारे भरोसे रुके रहे हैं उनसे भी तो परामर्श करना होगा।’

‘तो चलते हैं न उधर ही!’ लक्ष्मण ने प्रस्ताव किया।

* * *

वे समस्त युवा ऋषि लक्ष्मण के ऐसे भक्त बन चुके थे कि सभी साथ ही चलने को तत्पर थे। वे रुकने में भयभीत नहीं थे, किंतु लक्ष्मण का साथ नहीं छोड़ना चाहते थे। विगत कुछ ही दिनों में लक्ष्मण ने उन्हें और बस्ती की मल्लशाला के अपने मित्रों को शस्त्र निर्माण से लेकर शस्त्र संचालन तक बहुत कुछ सिखा दिया था। राम ने भी उनकी सुरक्षा की दृष्टि से उन्हें साथ ले लेना ही उचित समझा। कुछ न कुछ तो सहयोग करेंगे ही, एकाकीपन भी नहीं रहेगा सुदूर यात्रा में। फिर भी राम ने एक बार उन्हें चेताया कि आगे की यात्रा बहुत कठिन सिद्ध होने वाली थी, वे लोग सिंह की माँद में उतरने वाले थे, किंतु वे लोग भयभीत नहीं हुए और न ही रुकने को तैयार हुए।

वहाँ से सभी लोग बस्ती में गए। वहाँ एक पूरा दिन रुककर राम-लक्ष्मण दोनों ने ही मल्ल-युवकों को कुछ और आवश्यक प्रशिक्षण दिया। वहाँ से भी कई युवक इनके साथ चलना चाहते थे किंतु राम ने सहमति नहीं दी। वे अपने साथ अधिक भीड़ नहीं चाहते थे, साथ ही यहाँ बस्ती की सुरक्षा के लिए भी उनका यहीं रुकना आवश्यक था।

* * *

दण्डकारण्य के लिए यात्रा आरम्भ हो गयी। अब इस दल में आठ युवा ऋषियों सहित कुल ग्यारह यात्री थे।

यात्रा का अगला पड़ाव अत्रि ऋषि के आश्रम में हुआ।

अत्रि और उनकी पत्नी सती अनुसूया ने सभी का उत्फुल्ल हृदय से स्वागत किया। दोनों पति-पत्नी अत्यंत वृद्ध हो चुके थे। आश्रम में थोड़े से ही ऋषि थे। स्वागत, प्रणाम-आशीर्वाद और तदुपरांत जलपान के उपरांत अनुसूया सीता को अपने साथ दूसरी कुटिया में ले गयीं। राम, लक्ष्मण और चित्रकूट से ही इनके साथ आए ऋषिगण अत्रि के साथ बाहर ही खुले में बैठ कर बातें करने लगे।

अनुसूया का स्वभाव ऐसा था कि सीता थोड़ी ही देर में उनके साथ पूरी तरह सहज हो गयीं और खुलकर बतियाने लगीं। बातों ही बातों में अनुसूया ने सीता से उनके बचपन से लेकर चित्रकूट तक की सारी बातें पूछ डालीं। फिर उन्हें न जाने क्या सूझा, अचानक वे उठीं और कुटिया के एक कोने में जाकर कुछ सामग्री इधर-उधर

उलटी-पलटी फिर एक छोटी सी संदूकची खोज निकाली। उसे उन्हीं वस्त्रों से झाड़-पोंछ कर लेकर सीता के पास लौट आयीं।

सीता उत्सुकता से उनके क्रियाकलाप देख रही थीं। 'क्या होगा इस काष्ठ-मंजूषा में?' उन्होंने सोचा।

सीता के पास आकर जब अनुसूया ने वह मंजूषा खोली तो सीता चौंक गयीं। मंजूषा स्वर्णाभरणों से भरी हुई थी।

'लो सँभालो इसे।' अनुसूया बोलीं।

'मैं?' सीता को समझ नहीं आया।

'और कौन?' कहती हुई अनुसूया हँसीं। फिर अचानक जाने क्या मन में आया बोलीं- 'किन्तु ऐसे नहीं!'

कहने के साथ ही उन्होंने एक-एक आभूषण निकाल कर सीता को पहनाना आरंभ कर दिया। पहनाती जा रही थीं और स्वयं ही मुग्ध भाव से सीता को निहारती भी जा रही थीं। सीता विस्मित थीं। इतने बहुमूल्य और इतने सारे आभूषण उस सन्यासिनी से स्वीकार करते हुए उन्हें संकोच हो रहा था। वे निरंतर प्रतिरोध कर रही थीं किन्तु अनुसूया उनके प्रतिरोधों को रत्तीभर भी महत्व नहीं दे रही थीं। सारे आभूषण सीता को पहनाकर उन्होंने उनकी बलायें लीं और तब प्रसन्नमन टेर लगाने लगीं-

'अरे मुनिवर! सुनिये तो ... तनिक यहाँ आइये।'

कुछ ही देर में अत्रि मुनि और उनके साथ राम और लक्ष्मण देवी की कुटिया में प्रविष्ट हुए।

'देखिए! कितनी सुन्दर लग रही है ...!' अनुसूया मुग्ध भाव से बोलीं।

'किन्तु माता! मैं इन्हें कैसे स्वीकार कर सकती हूँ? अत्यंत बहुमूल्य हैं ये तो!' सीता ने हिचकिचाते हुए एक बार पुनः प्रतिरोध करने का प्रयास किया।

'तो?' अनुसूया जैसे उन्हें चिढ़ाते हुए बोलीं।

सीता को समझ ही नहीं आया क्या उत्तर दें। उन्होंने सहायता के लिए राम की ओर देखा। राम को भी समझ नहीं आया क्या कहें। फिर साहस कर वे बोले-

'सीता सत्य कह रही है माता, इतने बहुमूल्य आभूषण हम कैसे स्वीकार कर सकते हैं?'

'क्यों, क्या ये उन आभूषणों से भी मूल्यवान हैं जो सीता धारण किए हैं?' अनुसूया ने अपनी श्वेत भवों में बल डालते हुए प्रश्न किया।

राम के पास, एकाएक आए इस रोषपूर्ण प्रश्न का कोई उत्तर नहीं था।

'अथवा इन्हें ग्रहण करने से मना कर तुम इन आभूषणों की तुच्छता दर्शाना चाहते हो? अनुसूया को यह बताना चाहते हो कि तुम्हारी पत्नी के पास इनसे अत्यंत श्रेष्ठ

आभूषण पहले से ही हैं। अयोध्या की युवराज्ञी ऐसे तुच्छ आभूषण धारण नहीं कर सकती?’ अनुसूया रोषपूर्वक बोलीं।

राम और सीता दोनों हतप्रभ थे अनुसूया के इस अपनत्व भरे क्रोध पर। लक्ष्मण मुँह घुमा कर मुस्कुरा रहे थे। अत्रि भी मुस्कुराते हुए मौन खड़े थे।

‘माता क्षमा करें, मेरा ऐसा तात्पर्य कदापि नहीं था। हम इक्ष्वाकुवंशी सदैव ब्राह्मणों को दान करते रहे हैं, उनसे कुछ लेने में संकोच होता है। उसी अभ्यासवश’

‘तो क्या आशीर्वाद नहीं लेते रहे ब्राह्मणों और ऋषियों से तुम इक्ष्वाकुवंशी?’

‘अवश्य लेते हैं माता। ब्राह्मणों का आशीर्वाद तो सदैव काम्य होता है।’

‘तो क्या तुम यह बताना चाहते हो कि तुम्हारे ये आभूषण ऋषियों के आशीर्वाद से अधिक मूल्यवान हैं?’

राम ने कोई उत्तर नहीं दिया। बस आँखों से सीता को संकेत किया। सीता संकेत समझ कर अनुसूया के पाँवों में झुक गयीं-

‘माता! आपका आशीष सीता के सिर-माथे पर। आप द्वारा दिए गए ये आभूषण सीता की सबसे अनमोल निधि हैं।’

‘तब ठीक है!’ पल भर में ही अनुसूया का सारा क्रोध तिरोहित हो गया। किलकती हुयी अत्रि से बोलीं-

‘देखा आपने, कितनी सुन्दर लग रही है! ये आभूषण सनाथ हो गए आज।’

‘सत्य कह रही हो देवी।’ अत्रि ने मुस्कुराते हुए उत्तर दिया।

‘क्या बताऊँ, विवाह के समय माता ने दिए थे...’ अनुसूया सीता से बोलीं- ‘विवाह के उपरांत कभी इन्हें धारण करने का अवसर ही नहीं आया। और कोई सुपात्र भी नहीं मिला कि उसे ही दे देती। बेचारे अनाथ से कुटिया के कोने में पड़े रहते थे। मिट्टी में मिट्टी हो रहे थे। फेंक इसलिए नहीं सकती थी कि माता ने मन से दिए थे मुझे, फेंकने से ममता का अनादर होता। माता भी आज स्वर्ग में आनंदित होंगी कि उनकी पुत्री ने उनकी निधि सुपात्र को सौंपकर उनका दान सार्थक कर दिया है।’

राम और सीता भाव-विह्वल थे अनुसूया के स्नेह से।

‘आओ वत्स हम लोग बाहर चलें, अब इन माँ-बेटियों को परस्पर बतियाने दो।’ समस्या का निदान हो जाने पर अत्रि ने राम से कहा।

रात्रि में अत्रि से वार्तालाप में राम को रक्षों के विषय में अपेक्षाकृत अधिक सार्थक और सत्य सूचनायें प्राप्त हुयीं। अत्रि ने बताया-

‘राम! रक्ष भी हम आर्यों के समान साधारण मानव ही हैं। जैसे हममें कुछ व्यक्ति साधु प्रकृति के होते हैं तो कुछ दुष्ट प्रकृति के, वैसे ही उनमें भी होते हैं। अकारण ही न जाने क्यों और कैसे उन्हें आतंक का पर्याय बनाकर किसी अति-मानवीय शक्ति के

रूप में जनमानस के समक्ष प्रस्तुत कर दिया गया है। उनका आतंक जनस्थान में ही है। उससे बाहर वे यदा-कदा ही आते हैं।’

‘क्या वस्तुतः ऐसा ही है?’

‘तुम स्वयं देख लोगे। जनस्थान से पहले तुम्हारा सामना रक्षों से नहीं होगा।’

‘मुनिश्रेष्ठ! ताड़का क्या रक्ष नहीं थी?’

‘तुम जानते हो कि वह यक्षिणी थी। रावण से उसका किसी भी प्रकार का कोई संबंध नहीं रहा। सुमाली ने अवश्य अपनी महत्वाकांक्षाओं के चलते उससे सम्पर्क किया था किंतु वह कभी भी उसे किसी प्रकार की सहायता पहुँचाने में समर्थ नहीं हो पाया। ताड़का ने अपना स्वार्थ साधने के लिए अवश्य रावण के नाम का प्रयोग किया। स्वार्थवश ही उसने रक्ष-संस्कृति अंगीकार की। ... और अब तो उसके विषय में सभी कुछ तुम स्वयं जानते हो, तुमने ही तो उसका वध किया है ... स्वयं ही विचार करो कि क्या सत्य ही वह कोई ऐसी शक्ति थी जिससे यदि चाहते तो आर्य नृप पार नहीं पा सकते थे? अगस्त्य ही यदि सुन्दरवन में रुके रहते तो उसे समाप्त कर डालते जैसे सुन्द को किया था। विश्वामित्र भी यदि क्रोध और हिंसा का त्याग न कर चुके होते तो उसे समाप्त करने में समर्थ थे।’

न राम कुछ बोले, न लक्ष्मण।

‘आगे भी संभवतः सर्वप्रथम जिस राक्षस से तुम्हारी भेंट होगी वह विराध होगा।’ अत्रि ने कहना चालू रखा- ‘उसका भी न तो रावण से कोई संबंध है और न ही खर-दूषण से। वह भी मूलतः राक्षस नहीं है। वह तो तुम्बुरु नामक गंधर्व है जो अपनी दुष्टताओं के कारण कुबेर से मार खाकर यहाँ बस गया है आकर। उसे विश्वास है कि लंका के आसपास वह कुबेर से सुरक्षित रहेगा। वह भी रावण के नाम का उपयोग कर यहाँ उपद्रव कर रहा है। ऐसे ही अनेक उदाहरण तुम्हें आगे देखने को मिलेंगे।’

‘तो फिर हमारे लिए क्या करणीय है ऋषिवर?’

‘अब यह विचार करने का समय व्यतीत हो चुका है राम! अब तो वही होगा जो विधि ने निश्चित कर रखा है। नारद का कोई आयोजन कभी निष्फल नहीं जाता। अब, जब तुम वनवास की अवधि पूर्ण कर वापस अयोध्या लौटोगे तो लंका तुम्हारे अधिकार में होगी। रावण का अंत हो चुका होगा।’

‘किंतु यह सब कैसे होगा ऋषिवर!’

‘जिसने तुम्हें यहाँ भेजा है, वही आगे भी मार्ग प्रशस्त करेगा। मात्र मेरा एक परामर्श सदैव स्मरण रखना कि रावण घृणा का पात्र नहीं है। यदि अवसर मिले तो उससे ज्ञान प्राप्त करने का प्रयास करना।’

इसी प्रकार बहुत कुछ बातें हुई अत्रि के साथ राम की। लक्ष्मण प्रायः श्रोता ही बने रहे।

प्रातः जब ये लोग प्रस्थान के लिए उद्यत हुए तो अनुसूया सीता से बोली-

‘कुछ पल रुकना पुत्री!’ और वह आश्रम में एक ओर लगी हुई फुलवारी की ओर बढ़ गयीं। जब वे लौटीं तो उनके हाथ में एक छोटी सी मिट्टी की हाँडी थी जिसमें एक पौधा लगा हुआ था।

‘इसे सँभाल कर ले जाना और जहाँ टिकना वहाँ रोप देना। इसकी पत्तियों का लेप लगाती रहोगी तो जरा (बुढ़ापा) कभी तुम्हारे पास आने का साहस नहीं करेगी। तुम्हारा यह सलोना सौन्दर्य सदैव ऐसा ही बना रहेगा।

सभी लोग विदा लेकर बाहर निकल आए। सीता के हाथ में आभूषणों की उस मंजूषा के अतिरिक्त एक छोटी सी गठरी भी थी। उसमें रात में अनुसूया द्वारा दिए गए बहुमूल्य वस्त्र बँधे हुए थे।

* * *

अत्रि के आश्रम से यह छोटा सा दल विन्ध्य की घाटियों से होता हुआ अपने गन्तव्य- दण्डकारण्य की ओर बढ़ चला।

क्रमशः ...